

श्रीः

भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता

नामक खण्डचतुष्टयात्मक निबन्धान्तर्गत
स्तम्भद्वयात्मक

प्रथम खण्ड

निबन्धा-[illegible]लालशर्म्मा, वे[illegible]
भा[illegible] [illegible]पाह
जयपत्तन[illegible]

पत्रिका प्रकाशन
मूल्यः रु. 225/-



'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गत

१—असदाख्यानस्वरूपमीमांसा—एवं—

२—विश्वस्वरूपमीमांसा—निरूपणात्मक

स्तम्भद्वयात्मक-प्रथमखण्ड

१

निबन्धा—

मोतीलालशर्म्मा, वेदवीथीपथिकः

भारद्वाजोपाह्वः

जयपत्तनाभिजनः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा

प्रकाशित

एवं—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा, जयपुर के द्वारा

मुद्रित



प्रथमवार ५०० प्रति

श्री:

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के तत्त्वावधान से अनुप्राणित एवं, प्राच्यसाहित्य को ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णपरिभाषाओं से समन्वित

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

(ले० मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाजः)

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य- प्रथमवर्ष	४०८★	१०)
२— ,, द्वितीयवर्ष	३६६★	१०)
३— ,, तृतीयवर्ष	४३४★	१०)
४— ,, चतुर्थवर्ष	४६४	१२)
५— ,, पञ्चमवर्ष	३००	७)
६—शतपथभाष्यत्रैवार्षिकविषयसूची	१००★	२)
७—ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड	५००	१०)
८—ईशोपनिषत्-हिन्दी विज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड	५००	१०)
९—माण्डूक्योपनिषत-हिन्दी-विज्ञानभाष्य	५०	१)
१०-हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड (बहिरङ्गपरीक्षा)	५००	१२)
११- ,, द्वितीयखण्ड-आत्मपरीक्षा 'क' विभाग	५००	१२)
१२- ,, ,, -ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा 'ख' विभाग	६००★	१५)
१३- ,, ,, -कर्म्मयोगपरीक्षा 'ग' विभाग	५००★	१२)
१४-हिन्दी-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड	५००	१२)
१५-वेदेषु धर्मभेदः (सामयिक-संस्कृतनिबन्ध)	३४ ★	॥)
१६-'श्राद्धविज्ञानप्रस्तावना (खण्डचतुष्टयात्मक श्रा० ग्रन्थपरिचय)	६०	१)
१७-हमारी समस्या (सामयिक-निबन्ध)	४०★	।॥)
१८-'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक श्राद्धविज्ञान प्रथमखण्ड	५००	२०)
१९-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक श्राद्धविज्ञान तृतीयखण्ड	६००	१५)
२०-खण्डचतुष्टयात्मक ३००० पृष्ठात्मक 'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता' नामक निबन्धान्तर्गत असदाख्यान-विश्वस्वरूपमीमांसात्मक प्रथमखण्ड	५५०	१२)
२१-मानवाश्रमपाक्षिक सत्ताङ्कसमष्टि (उपयोगी निबन्धसंग्रह)	२००	३)

★ चिह्नाङ्कित ग्रन्थ परिसमाप्त, अतएव अनुपलब्ध हैं। पर्य्याप्त ग्राहकसंख्योपलब्धि ही इनके पुनः प्रकाशन का आधार है।

एकमात्र प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक-प्रकाशनविभाग—
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर'
प्रधान कार्य्यालय-मानवाश्रमविद्यापीठ
दुर्गापुरा, जयपुर (राजस्थान)

श्रीः

इति हि श्रूयते—

समपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः ।
वि रोदसी अतपद् घोष एषां जाते 'निष्ठा' मदधुर्गोषु वीरान् ॥
—ऋक्संहिता

निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात्, अनिष्ठस्य कुतः कुलम् ।
शक्नोति नैष्ठिकः स्वीयं धर्म्मं त्रातुं, न चेतरः ॥
—प्राचीनसूक्तिः

एकस्य देवस्य विहाय मन्त्रमेकं परञ्चेद् भजतेऽपि तस्य ।
तदा भवेन्मृत्युरनैष्ठिकत्वान्निष्ठाविहीनस्य न कापि सिद्धिः ॥
—प्राचीनसूक्तिः

यदा वै निस्तिष्ठति, अथ श्रद्धाति ।
नानिस्तिष्ठन् श्रद्धाति ।
निस्तिष्ठन्नेव श्रद्धाति ।
'निष्ठा' त्वेव विजिज्ञासितव्या ॥
—छान्दोग्योपनिषत्

श्रीः

'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता'-

निबन्धान्तर्गत—

निबन्धोपक्रमाधारभूता-प्रथमखण्डान्तर्गता

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

प्रथमस्तम्भ

१

श्रीः

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गत स्तम्भद्वयात्मक प्रथमखण्ड की

भूमिका

[ले० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए० पी० एच० डी०,
अध्यक्ष-कलाविभाग काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, बनारस]

भगवान् वेदव्यास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वचन है, जो उनके समस्त ज्ञान-विज्ञान का मथा हुआ मक्खन कहा जा सकता है। उन्होंने लिखा है—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'

जो गुह्य तत्त्वज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्म के समान सर्वोपरि और सर्वव्याप्त अनुभव है, वह मैं तुम से कहता हूँ—मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। सचमुच अनन्त शाखा-प्रशाखाओं से वेद का गुह्य संदेश यही है कि मनुष्य प्रजापति की सृष्टि में प्रजापति के निकटतम है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (शत० ४।३।४।३।)

पुरुष प्रजापति के निकटतम है। निकटतम का तात्पर्य यही कि वह प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है। प्रजापति का तद्वत् रूप है। प्रजापति और उसके बीच में ऐसा ही सान्निध्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा प्रतिरूप अर्थात् असल रूप और अनुकृति में होता है। प्रजापति मूल है, तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है। प्रजापति के रूप को देखना और समझना चाहें तो उसके सारे नक्शे को इस पुरुष में देख और समझ सकते हैं। सत्य तो यह है कि पुरुष प्रजापति के इतना नेदिष्ठ या निकटतम या अन्तरङ्ग है कि विचार करने पर यही अनुभव होता है और यही मुँह से निकल पड़ता है कि पुरुष प्रजापति ही है--

पुरुषः प्रजापतिः (शत० ६।२।१।२३।)

जो प्रजापति के स्वरूप का ठाट या मानचित्र है, हूबहू वही पुरुष में आया है। इसलिए यदि सूत्ररूप में पुरुष के स्वरूप की परिभाषा बनाना चाहें, तो वैदिक शब्दों में कह सकते हैं—

प्राजापत्यो वै पुरुषः (तैत्ति० २।२।४।३।)

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है। पुरुष साढ़े तीन हाथ परिमाण के शरीर में सीमित है, जिसे बाद के कवियों ने—

अहुठ हाथ तन सरवर
हिया कँवल तेहि माँह।

इस रूप में कहा है, अर्थात् साढ़े तीन हाथ का शरीर एक सरोवर के समान है, जो जीवनरूपी जल से भरा हुआ है और जिसमें हृदयरूपी कमल खिला हुआ है। जिस प्रकार कमल सूर्य्य के दर्शन से, सहस्ररश्मि सूर्य्य के आलोक से विकसित होता या खिलता है; उसी प्रकार पुरुष रूपी यह प्रजापति उस विश्वात्मा महाप्रजापति के आलोक से विकसित और अनुप्राणित है। प्रजापति आतप है तो यह पुरुष उसकी छाया है। जब तक प्रजापति के साथ पुरुष का यह सम्बन्ध दृढ है, तभी तक पुरुष का जीवन है। प्रजापति के बल का ग्रन्थिबन्धन ही पुरुष या मानव के हृदय की शक्ति है। जो समस्त विश्व में फैला हुआ है, विश्व जिसमें प्रतिष्ठित है और जो विश्व में ओत-प्रोत है, उस महाप्रजापति को वैदिकभाषा में सकेत रूप से 'सहस्र' कहा जाता है। वह सहस्रात्मा प्रजापति ही वैदिक परिभाषा में 'वन' भी कहलाता है। उस अनन्तानन्त 'वन' के भीतर एक-एक विश्व एक-एक अश्वत्थ वृक्ष के समान है। इस प्रकार के अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा 'वन' नामक प्रजापति में हैं। उसके केन्द्र की जो धारा सृष्ट्युन्मुख होकर प्रवृत्त होती है, उसी मूलकेन्द्र से केन्द्रपरम्परा विकसित होती हुई पुरुष तक आती है। केन्द्रों के इस वितान में पूर्वकेन्द्र की प्रतिमा या प्रतिबिम्ब उत्तर के केन्द्र में आता है। इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है, वही मूल से तूल में आता हुआ ठीक ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ इस पुरुष में अवतीर्ण होता है ओर हो रहा। वैदिक महर्षियों ने ध्यानयोगानुगत होकर उस महान् तत्त्व का साक्षात्कार किया और सृष्टिपरम्परा का विचार करते हुए उन्हें यह साक्षात् अनुभव हुआ कि यह जो पुरुष है, वह उसी सहस्रात्मा प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है—

पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा (शत० ७।५।२।१७।)

जो सहस्र प्रजापति है, उसी के अनन्त अव्यक्त स्वरूप में किन्हीं अचिन्त्य अप्रतर्क्य बलों के संघर्षण से या ग्रन्थिबन्धन से या स्पन्दन से सृष्टि की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है। किसी भी प्रकार की शक्ति या वेग हो, उसके लिए बलग्रन्थि आवश्यक है। बिना बलग्रन्थि के अव्यक्त व्यक्तभाव में, अमूर्त्त मूर्त्तरूप में आ ही नहीं सकता। शुद्ध रसरूप प्रजापति में अमितभाव की प्रधानता है, उसमें जब तक मितभाव का उदय न हो, तब तक सृष्टि की सम्भावना नहीं होती। प्रजापति के केन्द्र से

जिस रस का वितान या विस्तार होता है, वह यदि बाहर की ओर ही फैलता जाए तो कोई ग्रन्थि-सृष्टि संभव नहीं। वह रस परिधि की ओर फैल कर जब बल के रूप में केन्द्र की ओर लौटता है, तब द्विविरुद्ध भावों की टक्कर से स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दन का चक्र जन्म लेता है। स्पन्दन का नाम प्रजापति है। स्पन्दन को वैदिक परिभाषा में छन्द कहते हैं। जो छन्द है, वही प्रजापति है। किसी भी प्रकार की फड़कन का नाम छन्द है। सारे विश्व में द्विविरुद्ध भाव से समुत्पन्न जहाँ जहाँ छन्द या फड़कन है, वहीं प्रजापति के स्वरूप का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अतएव यह महान् सत्य सूत्ररूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया—

'प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्' (शत० ८।२।३।१०)

सृष्टि की महती प्रक्रिया में अनेक लोकों में अनेक स्तरों पर प्रजापति के इस छन्द की अभिव्यक्ति हो रही है। उसी छन्दोवितान में सहस्रात्मा प्रजापति पुरुषरूप में अभिव्यक्त होता है। सूर्य भी उसी केन्द्रपरम्परा का एक बिन्दु है। ऐसे पूर्वयुग की कल्पना करें, जब सब कुछ तमोभूत था, अलक्षण था और अप्रज्ञात था। उस समय रस और बल के तारतम्य से जो शक्ति का संघर्षण होने लगा, उसी संघर्षण के फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्यों का जन्म हुआ। वैज्ञानिक भाषा में इसी को यों सोचा और कहा जा सकता है कि आरम्भ में शक्ति के समान-वितरण के फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था, शक्ति के उस शान्त सागर में न कोई तरंग थी, न क्षोभ था। किन्तु न जाने कहाँ से, कैसे, क्यों और कब उसमें तरंगों का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्ष के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप में फैली हुई थी उसमें केन्द्र या बिन्दु उत्पन्न होने लगे, जो कि प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गए। इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्कालीनगर्भित अवस्था में उत्पन्न हुए। वैदिकभाषा में व्यक्त की संज्ञा हिरण्य है, अव्यक्त अवस्था हिरण्यगर्भ अवस्था थी। समभाव से वितरित शक्ति की पूर्वावस्था वही हिरण्यगर्भ अवस्था थी, जिसमें यह व्यक्त या हिरण्यभाव समाया हुआ था। आगे का व्यक्तभाव उसी पूर्व के अव्यक्त में लीन था। यदि सदा काल तक शक्ति की वही साम्यावस्था बनी रहती तो किसी प्रकार का व्यक्तभाव उत्पन्न ही न होता। शक्ति के वैषम्य से ही महान् आदित्य-जैसे केन्द्र या बिन्दु उस शान्त शक्ति-समुद्र में उत्पन्न होने लगे। पहिली शान्त अवस्था के लिए वेद में संयती शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्था के लिए क्रन्दसी शब्द है। संयती शान्त आत्मा है। क्रन्दसी क्षुभित आत्मा है। शक्ति के उस समुद्र में जो क्षुभितकेन्द्र उत्पन्न हुए, उन्हीं की संज्ञा सूर्य हुई। हमारे सौर-मण्डल का सूर्य भी उन्हीं में से एक है। प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापति की प्रतिमा है और वह भी ऐसी प्रतिमा है जो विश्वरूप है, जिसमें सब रूपों की समष्टि है, जिसके मूलकेन्द्र से सब रूपों का निर्माण होता है। उसी के लिए कहा है—

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् । (यजुः १३।४१)

शक्ति के शान्त महासमुद्र में जो आदित्य उत्पन्न हुआ, वह प्रजापति का शिशुरूप था। उसके पोषण के लिए पय या दुग्ध की आवश्यकता थी। यह कौन-सा पय था, जिसने उस आदित्य को पुष्ट किया ? ब्राह्मणों की परिभाषा के अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिससे आदित्यरूप उस शिशु का सम्वर्धन होता है। विराट् प्रकृति में सौरप्राणात्मक स्पन्दन या प्राणनक्रिया के द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है अर्थात् स्वस्वरूप में स्थित है। वह अपने से पूर्व कारणपरम्पराओं का पूर्णतम प्रतिनिधि है। इसीलिए उसे सहस्र की प्रतिमा कहा गया है। हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्हीं महान आदित्यों की केन्द्रपरम्परा में एक विशिष्ट केन्द्र है अथवा उनकी तुलना में यह शिशुमात्र है। इसीलिये वैदिकभाषा में—

द्रप्सश्चस्कन्द —

कहा जाता है। अर्थात् शक्ति के उस पारावार-हीन महासमुद्र में जो शक्ति का प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे बड़े समुद्र से एक जलबिन्दु चू पड़ा हो। वह महासमुद्र जो कि वाष्परूप में था अथवा अव्यक्त था, उसी में से यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभाव को प्राप्त हो गया है। यही वैदिक काव्य की भाषा है और यही विज्ञान की भाषा है। सब प्रकार की सीमाओं से ऊपर सब प्रकार के गणितीय निर्देशों से परे जो शक्तितत्त्व है, जहाँ किसी प्रकार के अङ्कों का संस्पर्श नहीं होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त-संज्ञक पूर्ण में से यह प्रत्यक्ष आदित्यरूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है और इसकी संज्ञा भी पूर्ण है। वह अदस् है, यह इदम् है। वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा सृष्टि से प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वों के लिये विज्ञान और वेद दोनों में समानरूप से प्रयुक्त होती है।

प्रकृत में हमारा लक्ष्य इसी पर है कि उस अनन्त प्रजापति के छन्द से ही पुरुष का निर्माण हुआ है। उस सहस्रात्मा प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा पुरुष या मानव है। रस और बल के तारतम्य से पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि ये पाँच मुख्य पशु प्रकृति में प्राणदेवताओं के प्रतिनिधिरूप से चुन लिये गये हैं। यद्यपि समस्त पशुओं की संख्या अनन्तानन्त है। वैदिक परिभाषा के अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसी की संज्ञा पशु या प्रजा है। यह भूतसृष्टि तीन प्रकार की है—

१–असंज्ञ—जैसे पाषाण आदि,
२–अन्तःसंज्ञ–जैसे वृक्ष आदि, और
३–ससंज्ञ—जैसे पुरुष, पशु आदि।

इन तीनों में यह प्रातिस्विक भेद क्यों है ? यह पृथक् विचार का विषय है। सक्षेप में असंज्ञ सृष्टि में केवल अर्थमात्रा की अभिव्यक्ति है। अन्तःसंज्ञ सृष्टि में अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनों की अभिव्यक्ति है, और ससंज्ञ प्राणियों में अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एवं मनोमात्रा–इन तीनों की अभिव्यक्ति होती है। इन्हें ही भूतात्मा, प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते हैं। प्रज्ञा ात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते हैं। मानव या मनुष्य में इस सौर इन्द्रतत्त्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति है। अन्तःसंज्ञ वृक्ष–वनस्पतियों में वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्च्छित रहता है। उनमें केवल प्राणात्मा या तैजस आत्मा का विकास होता है। जहाँ तेज या प्राण है, वहीं विकास है। बीज जब पृथिवी में जल अ.र मिट्टी एवं पृथिवी की उष्णता के सम्पर्क में आता है, तत्क्षण उसमें विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। अतएव उपनिषदों में कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है वह वृक्ष–वनस्पतियों में भी है, किन्तु प्रज्ञानात्मा का विकास केवल मानव में होता है। इस दृष्टि से मानव समस्त विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जिस प्रकार प्रजापति वाक्, प्राण, मन की समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनों की समष्टि का नाम है। अर्थ या स्थूल भूतमात्रा को वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं। पञ्चभूतों में आकाश सब से सूक्ष्म होने के कारण सब का प्रतीक है और वाक् आकाश का गुण है। अतएव वाक् से उपलक्षित स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्रा का ग्रहण किया जाता है। मानव का शरीर यही भाग है। इसके भीतर क्रियारूप प्राणात्मा का निवास है और उसके भी अभ्यन्तर में मनोमय प्रज्ञानात्मा का निवास है। मन की ही संज्ञा प्रज्ञान है।

इस प्रकार प्रजापति और मानव इन दोनों में रूप-प्रतिरूप या बिम्ब–प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध है। पुरुष प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है। इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजापति त्रिपुरुषपुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। त्रिपुरुषपुरुष का तात्पर्य यह है कि प्रजापति नामक संस्था का निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन तत्त्वों की समष्टि के रूप में होता है। इनमें से अव्यय दोनों का आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है। अक्षर निमित्त है और क्षर उपादान है। अव्ययप्रजापति से मन, अक्षर से प्राण और क्षर से शरीरभाग का निर्माण होता है। इस प्रकार जो प्रजापति है, वही पुरुष है और पुरुष को प्राजापत्य कहना सर्वथा समीचीन है।

वैदिक दृष्टि के अनुसार पुरुष दीन–हीन दासानुदास या शरणागत प्राणी नहीं है, वह है प्रजापति के निकटतम उसकी साक्षात् प्रतिमा। सहस्रात्मा–प्रजापति का जो केन्द्र था, उसी की परम्परा में पुरुष–प्रजापति के केन्द्र का भी विकास होता है। जो सहस्र के केन्द्र की महिमा थी, वही

पुरुष के केन्द्र की भी है। सहस्रात्मा वनसंज्ञक प्रजापति का केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थसंज्ञक प्रजापति में होता है, और वही विकसित होता हुआ प्रत्येक सूर्य्य में और प्रत्येक मानव में अभिव्यक्त होता है। इसीलिये कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्य्य में है, वही मानव में है। वैदिक भाषा में केन्द्र को ही हृदय कहते हैं। केन्द्र को ही ऊर्ध्व और नाभि भी कहा जाता है। केन्द्र ऊर्ध्व और उसकी परिधि अधः है। चक्र की नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि उसका बाह्य या महिमा भाग है। केन्द्र से चारों ओर रश्मियों का वितान होता है। केन्द्र को उक्थ भी कहते हैं; क्योंकि उस केन्द्र से चारों ओर रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती हैं। इन रश्मियों को उक्थ की सापेक्षता से अर्क कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य्य से सहस्रों रश्मियाँ चारों ओर फैलती हैं, और फिर एक एक से सहस्र सहस्र होकर बिखर जाती हैं, यहाँ तक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नहीं रह जाता और उनकी एक चादर-सी सारे विश्व में फैल जाती है, वैसे ही पुरुष के केन्द्र या उक्थ से अर्क या रश्मियों का विकास होता है—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

अर्थात् केन्द्र की महिमा सहस्ररूप से व्यक्त होती है और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र सहस्ररूप से बँट जाती हैं। जहाँ केन्द्र और परिधि की सस्था है, वहाँ सर्वत्र यही वैज्ञानिक नियम कार्य करता है। इस प्रकार जो पुरुष का आत्मकेन्द्र हृदय है, वह विश्वात्मा सहस्र या प्रजापति का ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है। ऐसा यह पुरुष प्रजापति की महिमा से महान् है। साढ़े तीन हाथ के शरीर में परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट् है। गीता में जो कहा है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' वह इसी तत्त्व की व्याख्या है। वैदिक दृष्टिकोण में सन्देह और अनास्था का स्थान ही नहीं है। यहाँ तो जो पूर्ण पुरुष है, जो समस्त विश्व में भरा हुआ है, वही पुरुष के केन्द्र या हृदय में भी प्रकट हो रहा है। वह पुरुष वामन भी कहा जाता है। विराट् प्राण की अपेक्षा सचमुच वह वामन है। यह जो मानव के केन्द्र या हृदय में वामनमूर्त्ति भगवान् है इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है। जो प्राण और अपान इन दोनों को संचालित करता और जीवन देता है। इस व्यान प्राण की शक्ति बड़ी दुर्धर्ष है। इसके ऊपर सौर जगत् के प्राण और पार्थिव जगत् के अपान इन दोनों का घर्षण या आक्रमण निरन्तर होता रहता है, किन्तु यह वामनमूर्त्ति विष्णु विराट् का प्रतीक है। यह किसी तरह पराभूत नहीं होता। यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्र में न हो तो सौर और पार्थिव प्राण-अपान का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विसंसन कर डाले। उपनिषद् में कहा है—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राण में ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनों की ग्रन्थि है, उसकी पारिभाषिक संज्ञा व्यान है। उसी को यहाँ सांकेतिक भाषा में इतर कहा गया है। प्राण-अपान दोनों उसी के आश्रय से संचालित होते हैं। और भी--

'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते'।

यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सृष्टि के सब देवता इसकी उपासना करते हैं। इसी के दृढग्रन्थिबन्धन या बल से इतर सब देवों के बल सन्तुलित होते हैं। यह वामनरूपी मध्यप्राण ही समस्त विश्व में अपनी रश्मियों से फैल कर विराट् या वैष्णवरूप धारण करता है। विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामन के रूप में सब प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है। इसी के लिये कहा जाता है--

'स हि वैष्णवो यद् वामनः' (शत० ५।२।५४)

हृदयस्थ वामनरूपी विष्णु किसी प्रकार अवमानना के योग्य नहीं है। वही अविचाली सहज परिपूर्ण और स्वस्थभाव है। जो मानव इस केन्द्रस्थ-भाव में स्थित रहता है, वही निष्ठावान् मानव है। जिसका केन्द्र विचाली है, कभी कुछ, कभी कुछ सोचता और आचरण करता है, वही भावुक मानव है। केन्द्र स्थिर हुए बिना परिधि या महिमामण्डल शुद्ध बन ही नहीं सकता। चार खण्डों में विभक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक प्रकार से यही प्रतिपाद्य विषय है कि मानव को अपने उस निष्ठासम्पन्न स्वरूप का परिचय प्राप्त हो। आत्मा, बुद्धि, मन और शरीर इन चारों विभूतियों में आत्मा और बुद्धि की अनुगत स्थिति का नाम निष्ठा है और मन एवं शरीर की अनुगत स्थिति का नाम भावुकता है। प्रायः निर्बल संकल्प-विकल्प वाले मनुष्य मन और शरीरानुगत रहते हुए अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं। जो बुद्धि मन को अपने वश में कर लेती है, उसी को वैदिक भाषा में मनीषा कहते हैं। जिस अविचाली अटल बुद्धि में पर्वत के समान ध्रुव या अटल निष्ठा होती है, उसे ही धिषणा कहते हैं। वैदिकभाषा में इसी अश्माखण प्राण के कारण इसे "धिषणा पार्वतेयी" कहा जाता है।

बारम्बार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतीय मानव धर्मभीरु होते हुए भी सर्वथा अभिभूत क्यों है? उसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार कुण्ठित क्यों बना हुआ है? इस प्रश्न का मानवोचित समाधान यही है कि भारतीय मानव अत्यन्त भावुक हो गया है। उसने अपना प्राचीन

निष्ठाभाव खो दिया है। वह सारे विश्व के कल्याण के लिये सौम्यभाव से आकुल हो जाता है किन्तु आत्मकेन्द्र की रक्षा नहीं करता। उसका अन्तःकरण सौम्य होते हुए भी भावुक होने के कारण पिच्छमान या पिलपिला रहता है। वह दृढ कर्म और विचारों में सक्षम नहीं बन पाता उसमें धर्मभीरुता तो होती है, किन्तु आत्मसत्यरूपी धर्मात्मकता नहीं होती। आत्मनिष्ठा पर अध्यारूढ होना सच्ची श्रद्धा है। उसका भारतीय मानव में अभाव हो गया है। अतएव उसके स्वतन्त्र व्यक्तत्त्व का विकास नहीं हो पाता। वह जिस किसी के लिये भी अपनी आत्मा का समर्पण तो करता है, किन्तु निष्ठापूर्वक ग्रहण कुछ भी नहीं करता। मनोगर्भिता बुद्धि से प्रवृत्त होने वाला मानव ही निष्ठावान् मानव है। ऐसे मानव का स्वयं केन्द्र विकसित होता है। केन्द्र बिन्दु का नाम ही मनु है। आत्मबीज का नाम ही मनु कहा जाता है। वह मनुतत्त्व जिस मानव में विकसित नहीं है, उसमें श्रद्धा का होना भी व्यर्थ है। श्रद्धा तो मनु की पत्नी है अर्थात् श्रद्धा मनु के लिये अशिति या भोग्य है। जिस समय आत्मकेन्द्रमनु तेजस्वी होता है, उस समय वह अपने ही आप्यायन या सम्वर्धन के लिये बाहर से श्रद्धारूपी अशिति या भोग्य प्राप्त करता है, मनु श्रद्धा का भोग करके ही पूर्ण बनते हैं। मनु और श्रद्धा की एक साथ परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही सत्य का स्वरूप है। अर्थात् सर्वप्रथम मानव का आत्मकेन्द्र उद्‌बुद्ध होना चाहिये। उसमें सौर प्राण या इन्द्रात्मक ज्योति का पूर्ण प्रकाश आना चाहिये, तभी वह सच्चा मनुपुत्र या मानव बनता है और इस प्रकार आत्मकेन्द्र में उद्‌बुद्ध होने के बाद आत्मबीज के विकास के लिये वह सारे विश्व से अपने लिये ग्राह्य अंश स्वीकार करता हुआ बढता है। यही श्रद्धा द्वारा मनु का आप्यायन है। वैदिकभाषा में इसे ही यों भी कहा जाता है—अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते।

केन्द्र या मनु 'महदुक्थ' है। उस महदुक्थ की तृप्ति या आप्यायन श्रद्धारूपी अशिति से होता है, जो उसे चारों ओर से प्राप्त होती है। इस प्रकार एक ही बात को कई रीति से कहा गया है। महदुक्थ और अशिति, मनु और श्रद्धा इन दोनों की एक साथ अभिव्यक्ति का नाम ही सत्य प्रतिष्ठातत्त्व है—

सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्

सत्य स्वयं प्रतिष्ठ होता है और सब कुछ सत्य का आधार पाकर प्रतिष्ठित बनता है। सत्य आग्नेय तत्त्व है, और श्रद्धा ऋत या स्नेह या आपोमय पारमेष्ठ्य तत्त्व है। सत्यपरायण बुद्धि सौर प्राण या इन्द्रतत्त्व को ग्रहण करती है। सूर्य की संज्ञा ही इन्द्र या रुद्र भी है। वेद की दृष्टि से अग्नि या शिव बड़े हैं, और सोम अग्नि का छोटा सखा है। सोम की आहुति अग्नि में पड़ती है, जिससे अग्नि सौम्य रहता है और अमृतधर्मा बनता है। यही प्रक्रिया मानव में भी

निश्चित है। भावुकता सौम्यता का रूप है और निष्ठा आग्नेय सौर प्राणात्मक बुद्धि का धर्म है। श्रद्धा का उद्गम मन में और विश्वास का उद्गम बुद्धि में होता है। विश्वास सौर तत्त्व और श्रद्धा आपोमय है। बुद्धि से भी परे और उससे भी उच्चतर तन्त्र का नाम आत्मा है—

यो बुद्धेः परतस्तु सः।

श्रद्धासमन्वित बुद्धि ही उस आत्मतन्त्र तक पहुँच सकती है।

इस महनीय ग्रन्थ के लेखक बार बार अनेक युक्तियों से मानव के वास्तविक उच्चतर पद और श्रेष्ठतम स्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। ऐसे व्यक्ति को ही महामानव या पुरुषोत्तम मानव कहा गया है। अलौकिक परिपूर्ण मानव ही मनुष्य जाति का युग-युगों में आदर्श रहा है। भगवान् ने इसी मानव को लक्ष्य करके 'पुरुषोत्तम' कहा है। इसे ही अंग्रेजी में सुपरमैन कहते हैं। प्राकृत मानव और महामानव का जो अन्तर है, वही मैन और सुपरमैन का है। वेद-व्यास ने जो—

न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्—

इस लोकोत्तर सत्य का उद्घोष किया है। वह उसी महामानव, अतिमानव या लोकोत्तर मानव के लिये है; न कि सर्वात्मना दीन-हीन और अशक्त बने हुए निर्विकल्प मानव के लिये, जो परिस्थितियों के थपेड़ों से पराभूत होता हुआ इधर-उधर लक्ष्यहीन कर्म करता रहता है। इस प्रकार का जो बापुरा मनुष्य है वह तो शोक का विषय है। वस्तुतः मानव का उद्देश्य तो अपने उस स्वरूप की प्राप्ति है जिसमें विश्व का वैभव या समृद्ध्यानन्द और आत्मा का सहज स्वाभाविक उत्कर्ष या शान्त्यानन्द दोनों एक साथ समन्वित हुए हों। जो मानव इस प्रकार की स्थिति इसी जन्म में यहीं रहते हुए प्राप्त करता है, वही सफल श्रेष्ठतम मानव है। इस ग्रन्थ के असदाख्यानमीमांसा नामक पहले भाग में लेखक ने महाभारत के विविध पात्रों और उनके विचार और चरित के तारतम्य का अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से विचार किया है। महाभारत के समस्त पात्रों में दो प्रकार के चरित स्पष्ट लक्षित होते हैं। एक वे हैं जो स्थिर धृति और दृढ निष्ठा से कभी च्युत नहीं होते और सदा दूसरों का उद्बोधन करते हुए देखे जाते हैं। दूसरे वे हैं जो भावुक हैं और बार बार उद्बोधन प्राप्त करने पर भी जो उसे विस्मृत कर देते हैं और असत् कर्म में प्रवृत्त होते हैं, या निष्ठा से विपरीत केवल भावुकतापूर्ण कर्म करते हैं। पहिली कोटि के पात्रों में केवल चार की गिनती है—कृष्ण, व्यास, भीष्म और विदुर। इनके अतिरिक्त युधिष्ठिर, अर्जुन आदि धर्मपथ के पथिक भी अपनी भावुकता के कारण विषमभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से कुछ समय के लिये शून्य या विचलित हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण-जैसे मानव तो एकदम असत् निष्ठा के लिये कर्म कर रहे थे। उनका तो

अन्त में विनाश निश्चित ही था। महाभारत-जैसी लोकोत्तर धर्मसंहिता का लक्ष्य दुर्योधन क आदि पात्र नहीं हैं, क्योंकि वे अपने दुष्ट आग्रह को किसी भाँति त्याग नहीं सकते थे। महाभार के लिये समस्यारूप में तो युधिष्ठिर और अर्जुन हैं, जो धर्मपथ पर आरूढ होते हुए भी अ धर्मपरायण निष्ठा रखते हुए भी बार बार कर्त्तव्यपथ से च्युत होते हैं और विषम-निष्ठा को प्रा हो जाते हैं और अपने ध्येय को भूल कर कुछ का कुछ करने के लिये उतारू हो जाते हैं। कह तो एक और अन्याय का प्रतीकार करने के लिये अर्जुन का युद्ध के लिये कृष्ण को सारथि बना कर रणभूमि में आना और कहाँ दूसरी ओर क्षणभर में ही युद्ध न करने के लिये भारी अवसा को प्राप्त हो जाना। ऐसे ही युधिष्ठिर भी कई अवसरों पर आत्महत्या के लिये या सब-कुछ छोड़ कर वैराग्य-धारण करने के लिये तैयार हो जाते हैं। जिस व्यक्ति की निष्ठा ठीक है जिसका आत्मकेन्द्र अविचलित है वह इस प्रकार की धर्मभीरु बातें नहीं कहेगा, जैसी अर्जुन य युधिष्ठिर ने कहीं जो ऊपर से देखने में तो तर्कसंगत और पण्डिताऊ जान पड़ती हैं, किन्तु जे आत्मनिष्ठ सत्य-धर्म की दृष्टि से नितान्त विरुद्ध हैं। युधिष्ठिर और अर्जुन की थोथी भावुकता के कई दृष्टान्त ग्रन्थकर्त्ता ने विस्तार से इस पहले भाग में दिये हैं।

इस ग्रन्थ का दूसरा भाग विश्वस्वरूपमीमांसा है। इसका महत्त्व शुद्ध वैज्ञानिक है। जिसे महामानव या अतिमानव या पुरुषोत्तम या लोकोत्तर मानव कहा गया है। जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र और समस्त मानवजाति की दृष्टि से हमारा आदर्श है, उस श्रेष्ठमानव का इस विश्व में सच्चा स्वरूप क्या है? उसका निर्माण कैसे हुआ है? विराट् विश्व के कौन कौन-से तत्त्व उसके निर्माण में समाविष्ट हुए हैं? उसका केन्द्र और उसकी महिमा क्या हैं? विश्वात्मा षोडशी-प्रजापति और केन्द्र-प्रजापति का क्या सम्बन्ध है?—

इस प्रकार के शताधिक प्रश्नों की मीमांसा और व्याख्या ग्रन्थ के इस दूसरे भाग में की गई है। यहाँ शुद्ध वैदिक विज्ञान का निरूपण है। इसमें सैकड़ों परिभाषाओं की नई व्याख्या पाठकों को प्राप्त होगी। कहने के लिये तो मानव का निर्माण छोटी-सी बात है, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है यह मानव सहस्रप्रजापति की प्रतिमा है। अतएव मानव के स्वरूप का यथार्थज्ञान-विश्वस्वरूप की मीमांसा के बिना अथवा सहस्रात्मा प्रजापति के स्वरूपपरिचय के बिना संभव नहीं है। सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक विश्व की कोई प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसका प्रति-बिम्ब मानव में न हो। संक्षेप में इसका सूत्र यह है कि जो षोडशीप्रजापति है वही मानव के केन्द्र में बैठा हुआ मनुप्रजापति या आत्मबीज है। षोडशी प्रजापति को ही त्रिपुरुष-पुरुष भी कहते हैं। अव्यय, अक्षर और क्षर ये ही सृष्टि के आधारभूत तीन पुरुष हैं, और चौथा इन तीनों से परे

रहने वाला पुरुष परात्पर पुरुष कहलाता है, जो सर्वथा अव्यक्त और अमूर्त्त है, किन्तु जिसकी स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया से यह सारा विश्व प्रवृत्त हो रहा है। इस प्रकार त्रिपुरुष समन्वित परात्पर पुरुष ही षोडशीप्रजापति का दूसरा नाम है। इन्हीं तीनों की विशेषताओं को और भी अनेक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योंकि विश्व में भी वस्तुतः वे तीन ही नानाभावों को प्राप्त हो रहे हैं। उदाहरण के लिये-अव्यय, अक्षर, क्षर का ही विकास मन, प्राण और अर्थ है। उन्हें ही जैसा पहले कहा गया है—प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा और भूतात्मा कहते हैं। इन्हीं तीनों से क्रमशः भावसृष्टि, गुणसृष्टि और विकारसृष्टि का जन्म होता है। इन तीनों में से प्रत्येक की पाँच पाँच कलाए हैं अर्थात् अव्यय की पाँच कलाएँ, अक्षर की पाँच कलाएँ और क्षर की पाँच कलाएँ और इनसे अतिरिक्त स्वयं परात्पर पुरुष-इस प्रकार षोडशी प्रजापति कहलाता है। कहा है—

पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद् वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥

क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनों में शुद्ध आत्मा केवल अव्यय है। वह प्रकृतिसापेक्षता से ऊपर है। प्रकृति के दो रूप हैं—अव्यक्त और व्यक्त। व्यक्त रूप विश्व या क्षर है। प्रकृति का अव्यक्तरूप अक्षर-पुरुष कहा जाता है। उसे ही पराप्रकृति कहते हैं। उसकी तुलना में क्षर सृष्टि अपरा प्रकृति है। जो क्षर सृष्टि है वही भौतिक जगत है। भूत प्रजाधार पर प्रतिष्ठित रहता है। प्राण के बिना भूत की स्थिति हो ही नहीं सकती। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों से यही सत्य सिद्धान्त है। प्रत्येक भूत या पिण्डात्मक अर्थ प्राणरूप शक्ति का ही व्यक्त रूप है। भूत और प्राण इन दोनों से ऊपर इनके भीतर समाविष्ट अव्यय-पुरुष है, जो विश्वसाक्षी, असङ्ग और अव्यक्तरूप है। वैदिक परिभाषाओं से प्रायः परिचय न होने के कारण उनके सान्निध्य में बुद्धि को व्यामोह होने लगता है। किन्तु जिस प्रकार विज्ञान की परिभाषाएँ सुनिश्चित और सार्थक हैं, उसी प्रकार वैदिक सृष्टिविज्ञान ने भी अपने अभिधेय अर्थ का प्रकाश करने के लिए सुनिश्चित परिभाषाशास्त्र का निर्म्माण किया था। उन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा ही मन्त्रों में, ब्राह्मणों में और उपनिषदों में सृष्टिसम्बन्धी नाना तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है। दुर्भाग्य से उस परम्परा से हम दूर हटते चले गए और ब्राह्मणग्रन्थों का पठनपाठन भी केवल यज्ञीय कर्मकाण्डों तक सीमित रह गया। वैसे तो ऋषियों की दृष्टि से उन्होंने ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः इन अर्थों को आद्यन्त भर दिया है, किन्तु वे स्रोतग्रन्थ भी आज दुरूह बने हुए हैं। पण्डित मधुसूदनजी और उनके धन्य शिष्य पं० मोतीलालजी शास्त्री के वैदिक ग्रन्थों की जो असाधारण विशेषता है, वह यही कि उनमें सृष्टिविज्ञान की परिभाषाओं का विलक्षण निरूपण किया गया है।

प्रजापति को चतुष्पात् कहा गया है। ओंकार उसका सर्वोत्तम गुह्य संकेत है। प्रणव भी चतुष्पात् है और प्रजापति की प्रतिमा मानव भी चतुष्पात् है। विश्व, विश्वकर्त्ता, विश्वसाक्षी, विश्वातीत इन चारों की ही संज्ञा क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा और परात्पर है और इन्हें ही म, उ, अ एवं अर्धमात्रायुक्त प्रणव के प्रतीक से प्रकट किया जाता है। 'विश्व क्या है' यहाँ से प्रश्नसूत्र का वितान करते हुए समष्टि और व्यष्टि रूप में पाञ्चभौतिक विश्व के मूलकारण की जिज्ञासा और उसका समाधान किया गया है। उसके उत्तर में उपनिषदों की प्रसिद्ध अश्वत्थविद्या, का निरूपण है, जो वैदिक सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है। इस प्रसङ्ग में कई प्राचीन परिभाषाएँ महत्वपूर्ण हैं। जैसे महावन=परात्पर, अश्वत्थरूपी महावृक्ष=अव्यय, इसे मायी महेश्वर भी कहते हैं।

इस अश्वत्थविद्या में अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र भी कहा गया है। अव्यय अधिष्ठानकारण और भावसृष्टि का हेतु है, अक्षर निमित्तकारण और गुणसृष्टि का हेतु है, एवं क्षर उपादानकारण तथा विकारसृष्टि का हेतु है।

अश्वत्थविद्या के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय मनुतत्त्व की व्याख्या है, जिसके कारण मानव, मानव कहलाता है। मनुतत्त्व को ही अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और शाश्वतब्रह्म इन नामों से पुकारा जाता है, जैसाकि मनु के श्लोक में प्रसिद्ध है (मनुः अ०१२ २ श्लो०)। इन विशेष शब्दों के तत्त्वार्थ का समन्वय और व्याख्या बहुत ही ज्ञानवर्धक है। इसी प्रसङ्ग में अध्यात्मसंस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के मनस्तन्त्र—श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन और इन्द्रिय मन—का निरूपण किया गया है। ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं। इन चारों का सम्बन्ध चिदंश से है। उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं। इनमें सृष्टि की जो मूलभूत कामना या काम है (कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्) वही सर्वजगत् के मूल में स्थित अतएव पुरुष के मूल में भी सर्वोपरि विराजमान हृद्य विश्वात्मा मन या हृदयभाव से युक्त काममय पुरुष ही श्वोवसीयस् मन है, जिसकी अत्यन्त सरस व्याख्या की गई है (पृ० २८२–२८३)। यही पुरुषमन मौलिक मनुतत्त्व है जो सब का प्रशास्ता और सर्वान्तिर्यामी है। इसी की ज्ञानमात्रा उत्तरोत्तर सुषुप्त्यधिष्ठाता सत्वमूर्त्ति महन्मन में, और वहाँ से इन्द्रियप्रवर्त्तक अशनायारूप सर्वेन्द्रिय मन में, और अन्त में नियतविषयग्राही इन्द्रियों के अनुगामी इन्द्रियमन में अवतीर्ण या अभिव्यक्त होती है। एक-एक इन्द्रिय का रूपरसप्राण आदि नियत विषय इन्द्रियमन से गृहीत होता है। इसी को 'पंचेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि' कहा जाता है। फिर पांचों इन्द्रियों का अनुकूल-प्रतिकूल वेदनात्मक जो व्यापार है, वह

सब इन्द्रियों में समान होने से सर्वेन्द्रियमन का विषय है। इसे अनिन्द्रिय मन भी कहा जाता है। जब चलते हुए किसी एक इन्द्रिय विषय का अनुभव नहीं होता, तब भी सर्वेन्द्रियमन अपना कार्य करता ही रहता है। भोगप्रसक्ति के बिना भी विषयों का चिन्तन यही मन करता है। सुषुप्ति-दशा में अपने इन्द्रियप्राणों के साथ मन जब आनन्द की दशा में शान्त हो जाता है। जब सब इन्द्रियव्यापार रुक जाते हैं, वह तीसरा सत्त्वगुणसम्पन्न सत्त्वैकघन महान् मन कहा जाता है। उस सत्त्वमन से भी ऊपर चौथा अव्ययमन या सृष्टि का मौलिक चिद्‌श पुरुषमन है जिसे श्वोवसीयस् मन कहते हैं और जिसका सम्बन्ध परात्पर पुरुष की सृष्ट्युन्मुखी कामना से है। वही अणु से अणु और महतो महीयान् है। केन्द्रस्थभाव मन है। वही उक्थ है। जब उसी से अर्क या रश्मियाँ चारों ओर उत्थित होती हैं तो वही परिधि या महिमा के रूप में मनु कहलाता है। यही मन और मनु का सम्बन्ध है (पृ० २८४) यद्यपि अन्ततोगत्वा दोनों अभिन्न हैं।

इसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए अग्निमूर्त्ति मनु, प्रजापतिमूर्त्ति मनु, इन्द्रमूर्त्ति मनु, गति-स्थितिरूप इन्द्र–विष्णु, शुन इन्द्र, प्राणमूर्त्ति मनु, ऋषिसंज्ञक प्राणतत्त्व, चार गुहाएँ और उनके सप्तर्षिप्राण, सप्तात्मा सुपर्णचिति, ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य, भाव–गुण–विकारसृष्टि, विभूति–योग–बन्ध नामक तीन बलसम्बन्ध, एवं बलों के अष्टादश भेद, तप और श्रम का भेद, सात प्रकार के अन्न, आर्द्र और शुष्करूप अग्नि और सोम का परिचय, शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, और बस्तिगुहा से सम्बन्धित चार अग्नियाँ (इन्हें ही मनोऽग्नि या ज्ञानाग्नि या अव्ययाग्नि, अक्षराग्नि या सौर प्राणाग्नि और चान्द्रप्राणाग्नि, क्षराग्नि या वागग्नि या अर्थाग्नि किंवा भूताग्नि (शिरोऽग्नि ललाटप्रदेश में, प्राणाग्नि हृदयदेश में, भूताग्नि सर्वाङ्गशरीर में)। अश्वमेधविद्या में प्रसिद्ध अश्व-तत्त्व जो सौररश्मिमण्डल की प्रतिष्ठा बनता हुआ सौर अश्व, वेन या मरीचिसंज्ञक सौररश्मि-भुक्त अग्निप्रकृति जल है, तदनन्तर परिश्रमाश्रु क्रोधाश्रु, शोकाश्रु, प्रेमाश्रु का विवेचन है, जो चार प्रकार की अग्नियों से उत्पन्न होते हैं—इन महत्त्वपूर्ण विषयों का बहुत ही विशद और प्रामाणिक विवेचन किया गया है। अन्त में शतपथब्राह्मण की प्रसिद्ध पञ्चाण्डविद्या का निरूपण किया गया है। स्वयम्भू, स्वयं प्रतिष्ठित सृष्टि का मूलतत्त्व है। वह स्वयं विश्वसर्ग की क्रमधारा से परे रहता हुआ कभी किसी प्रकार अणुभाव में परिणत नहीं होता। उसे वृत्तौजा या वर्त्तुलाकार कहा गया है। किन्तु उससे ही जब सृष्टि की प्रवृत्ति आरम्भ होती है, तब त्रिवृत्भाव का विकास हो पड़ता है। त्रिवृत्भाव के ही नामान्तर मन, प्राण वाक् हैं। उनके और भी अनेक पर्याय वैदिक साहित्य में आते हैं, त्रिवृत् या त्रिक के उत्पन्न होते ही स्वयम्भू का एक केन्द्र तीन केन्द्रों में परिणत हो जाता है इस त्रिकेन्द्रक सृष्टि का नाम ही अण्डसृष्टि है, जो कि ज्यामिति की परिभाषा में वृत्ता-यत आकृतिवाली अण्डाकृति होती है। यही वैदिकभाषा में त्रिनाभिचक्र है। स्वयम्भू के बाद सृष्टि-

क्रमधारा में पाँच अण्डों का जन्म होता है। उनमें पहला 'अस्त्वण्ड' है, जिसका सम्बन्ध परमेष्ठी या महान् आत्मा से है। स्वयम्भू से गर्भित परमेष्ठी त्रिवृत्भाव के प्रथम जन्म के कारण अण्डाकार बनता है। स्वयम्भू ने सर्वप्रथम कल्पना की कि यह सृष्टि उत्पन्न हो—

तदभ्यमृषत् अस्तु इति।

इसी कारण यह पहला अण्ड अस्त्वण्ड कहलाया। स्वयम्भूब्रह्म को अपने गर्भ में रखने वाला परमेष्ठी का आपोमण्डल यह अस्त्वण्ड ही ब्रह्माण्ड भी कहलाता है। इसके बाद सूर्य्य से दूसरा हिरण्मयाण्ड उत्पन्न होता है। जैसा कहा जा चुका है कि व्यक्तभाव की संज्ञा हिरण्य है, अतएव हिरण्मयाण्ड का सम्बन्ध अस्ति या गर्भित अवस्था से नहीं वरन् उस अवस्था से है जबकि गर्भ आगे चल कर जन्म ले लेता है अथवा अव्यक्त व्यक्तभाव में आ जाता है। पहली स्थिति या अस्त्वण्ड का सम्बन्ध अस्तिभाव से है। दूसरी का सम्बन्ध जायते या जन्म से है। जन्म के अनन्तर तीसरा भाव वर्द्धते अर्थात् वृद्धि से है। इसे ही पोषाण्ड कहते हैं जिसका सम्बन्ध भूपिण्ड या पृथ्वी से है। पुष्ट होने के अनन्तर परिपाक की अवस्था आती है जिसे विपरिणमते इस शब्द से कहा जाता है। इसे यशोऽण्ड कहते है। यह वस्तु का महिमाभाव है और इसका सम्बन्ध महिमा पृथ्वी से है। महिमा ही यश है। इसके अनन्तर प्रत्येक वस्तु क्षीण होने लगती है। वह अपक्षीयते अवस्था चन्द्रमा के विवर्त्त हैं और उसे रेतोऽण्ड कहा गया है। इन पाँच ब्रह्माण्डों की समष्टि ही विश्व है और विश्वरूपसमर्पक स्वयम्भूब्रह्म स्वयं विश्व-निर्माण करने के कारण विश्वकर्मा कहलाता है। महान् विश्व से लेकर यच्चयावत् जितने भूत या उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं उन सब में अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते-ये पाँच भावविकार अवश्य होते हैं। एक एक बीज में प्रकृति का यही नियम चरितार्थ हो रहा है। स्वयं बीज अस्त्वण्ड है। उसमें से अंकुर का फूटना अर्थात् अव्यक्त विटप का व्यक्तभाव में आना हिरण्मयाण्ड है। भूपिण्ड से अपनी खूराक लेकर अंकुर का बढ़ना उसका पोषाण्डरूप है। फिर उस अंकुर का अपने सम्पूर्ण महिमाभाव को प्राप्त होकर पूरा वितान करना यह उस बीज का यशोऽण्डरूप है। दिक्चक्रवाल को व्याप्त करके जो महान् वटवृक्ष देखा जाता है, वह अति सूक्ष्म उसी वटबीज की महिमा या यश है। सर्वथा विपरिणाम या परिपाक के बाद प्रत्येक शरीर में अपने ही जैसा उत्पन्न करने की एक शक्ति आती है, उसी का घनीभूत रूप रेत या बीज है। यही रेतोऽण्ड अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करते ही प्रत्येक शरीर क्षयोन्मुख होने लगता है। यही अपक्षीयते-स्थिति है। ये पाँचों अण्ड व्यक्तभाव के ही परिणाम हैं। अव्यक्त जब कभी व्यक्तभाव को प्राप्त करेगा उसे पाँच भावविकारों की क्रमिक स्थिति प्राप्त करनी होगी। शतपथब्राह्मण की यह अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है। यह विषय अत्यन्त गूढ और क्लिष्ट है, किन्तु सृष्टिव्यापिनी निर्माणप्रक्रिया को समझने

के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। विद्वान् लेखक ने पाँच-अण्ड विवर्त्तों का वैज्ञानिक स्वरूप संक्षिप्त रीति से सामने रक्खा है, किन्तु यह विषय स्वतन्त्ररूप से अध्ययन करने योग्य है, जैसा कि उनके शतपथब्राह्मणभाष्य में इसका निरूपण हुआ है। पञ्चाण्डविद्या से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली मनोता विद्या है जो कि सृष्टि की अत्यन्त गूढ विद्याओं में समझी जाती है। उसका भी इस प्रकरण में व्याख्यान किया गया है। इस प्रकार निःसंदेह यह ग्रन्थ वैदिकविज्ञान का कोष ही बन गया है। भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता की व्याख्या के प्रसंग में प्रजापति के निकटतम महामहिम सर्वश्रेष्ठ मानव की व्याख्या करते हुए लेखक ने विश्वसृष्टि के सूक्ष्म रहस्यों को संक्षेप और विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रयत्न इस ग्रन्थ की प्रातिस्विक विशेषता है। आज तक वैदिक विषयों को लेकर जितने भाष्य और टीकाएँ प्राचीन आचार्यों ने बनाई हैं, उनमें कहीं भी इस प्रकार परिभाषाओं के गूढ़ अर्थ की व्याख्या नहीं मिलती। अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के प्रयत्न विश्वरहस्यमीमांसा को स्पष्ट करने में लगे हुए हैं। सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है ? क्यों इसकी प्रवृत्ति होती है ? इसके मूल में कौन-सी शक्ति है ? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमों से आज वह प्रवृत्त है ? शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूल-भौतिक पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? गति और स्थितिसंज्ञक द्विविरुद्ध भावों का जन्म क्यों होता है और उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में हमारे सामने आ खड़े होते हैं। उनके समाधान का सच्चा प्रयत्न आज के वैज्ञानिक कर रहे हैं। नित्य नूतन प्रयोगों द्वारा वे विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य को जानने में लगे हैं। वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओं ने इतना अब निश्चयपूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है। विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियों के स्पन्दन से घनीभूत या व्यवस्थित हुए हैं। यह शक्ति विश्व की प्राणनक्रिया है। प्रत्येक भूत में यह विद्यमान है। बुद्धिमान् उसे हर एक भूत में देखते और पहचानते हैं—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः

आज परमाणु के विशकलन ने यह सम्भव कर दिया है कि शक्ति के इस रहस्य की झाँकी मानव को प्राप्त हो सकी है। किन्तु भूतमात्रा और प्राणमात्रा के समक्ष ही तीसरी प्रज्ञानमात्रा भी है, जो समस्त सृष्टि में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार भूतमात्रा और प्राणमात्रा। लोष्ठ, पाषाण आदि असंज्ञ, वृक्ष-वनस्पति आदि अन्तःसंज्ञ, एवं पशु-मनुष्य आदि ससंज्ञ भूतों में सर्वत्र

अव्ययात्मा का 'श्वोवसीयस् मन अवश्य ही व्याप्त है। सबके जन्म, स्थिति और लय के पीछे मूलभूत त्रिक का नियम एक-समान है। अवश्य ही विश्व में वैचित्र्य और विज्ञान की अनेक कोटियाँ पाई जाती हैं। जिसका स्पष्ट अन्तर कीट-पतंग आदि की मानव से तुलना करने पर समझा जा सकता है। प्रजापति का जो अमृत और अनिरुक्त स्वरूप है, उसकी भाषा को समझने की जो स्थिति हो सकती है विज्ञान भी शीघ्रता से उस ओर बढ़ रहा है और विश्वविज्ञान के तत्त्ववेत्ताओं की मौलिक चिन्तनप्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह समय दूर नहीं है, जब देश और काल के अतिरिक्त तीसरी सत्ता को भी मानने से ही विश्वनिर्माण की व्याख्या ठीक प्रकार करना सम्भव होगी। एक समय था, जब देश के आयतन पर आधारित ज्यामिति द्वारा भूतों के निर्माण की मीमांसा की जाती थी। वैज्ञानिकप्रवर आइन्स्टाइन ने इस विचार में महती क्रान्ति की और देश के साथ काल को भी सृष्टिनिर्माण के मौलिक तत्त्व रूप में सिद्ध किया। गणित और भौतिक विज्ञान की उपपत्ति द्वारा यह तत्त्व सब के लिये मान्य हुआ। देश और काल सृष्टि के निर्माण का अनिवार्य चौखटा है। इसी साँचे में पड़कर भूतसृष्टि ढल रही है। देश और काल को ही नाम और रूप कहा गया है। शतपथ के अनुसार नाम और रूप दो बड़े यक्ष हैं जिनके पारस्परिक विमर्द या संघर्ष से यह सब कुछ हो रहा है। शक्ति की संज्ञा ही यक्ष है, किन्तु नाम और रूप दोनों अभ्व यक्ष कहे गए हैं। जो होकर भी नहीं है (भूत्वा न भवतीति) उसे अभ्व कहते हैं। नामरूपात्मक सारा विश्व वैदिक दृष्टि से अभ्व ही है। वैज्ञानिक की दृष्टि में भी यह सारा विश्व शक्ति के मूल आधार पर तरंगित नामरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो देश और काल के टकराने से अस्तित्व में आया है, आ रहा है और आता रहेगा। वह जो मूलभूत शक्ति है उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक को भी अभी बहुत कुछ जानना है। विश्वरश्मियाँ (कास्मिक रेडियेशन) कहाँ से आती हैं, उनका स्रोत क्या है? शक्ति का जो समान वितरण इस समय हो रहा है, उसकी उलटी प्रक्रिया भी क्या कभी सम्भव है कि जिसके कारण महासूर्य जैसे ज्वलन्त शक्ति-केन्द्रों का पुनः निर्माण हो सके? एक बार शक्ति का विलय हो जाने पर इसकी पुनः प्रवृत्ति का क्या कोई हेतु और सम्भावना है? इत्यादि प्रश्न विज्ञान के संप्रश्न हैं, जिनका संकेत मानव का आह्वान उस ओर निश्चित रूप से कर रहा है, जो विश्व का मूल कारण है और जिसके विषय में सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस विश्व से बाहर रहता हुआ भी इसकी रचना करके इसी में समाया हुआ है—

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'।

वैज्ञानिकों के सामने सुमेरु के समान दुर्धर्ष सृष्टि का संप्रश्न बना हुआ है। जैसा मनीषिप्रवर मॉरिस मेटरलिङ्क ने कहा है 'सत्य तो यह है कि इतना अनुसन्धान और बौद्धिक मन्थन

हो जाने के बाद भी अभी विश्व-मानव उस स्थिति में नहीं पहुंच पाया है जहाँ एक भी परमाणु, एक भी घटक कोष या एक भी मानस का पूरा रहस्य या उसकी प्रक्रियाओं का पूरा भेद हमें मिल पाया हो। अभी तक चारों ओर रहस्य ही रहस्य भरा हुआ है, किन्तु मानव प्रजापति का नेदिष्ठ रूप है। उसे तत्त्व की प्राप्ति के बिना सन्तोष हो नहीं सकता। शक्ति के स्वरूप और जीवन के स्रोत एवं मन के स्वरूप को जानकर ही मानव के प्रश्न का समाधान हो सकेगा। कहा जाता है कि विश्व वैज्ञानिक आइन्स्टाइन अपने जीवन के अन्तिम चरणों में विश्व की गूढ पहेली को समझने में अतिव्यस्त थे और उनके दृष्टिपथ में यह सत्य आने लगा था कि देश और काल के अतिरिक्त भी कोई शक्ति है जो सृष्टिप्रक्रिया में अनिवार्य अङ्ग के समान कार्य कर रही है और उसकी सत्ता को भी सम्भवतः गणित की उपपत्तियों द्वारा व्यक्त करना सम्भव होगा। यह भविष्य के प्रश्न हैं जिनके विषय में अधिक ऊहापोह सम्भव नहीं, किन्तु वैदिक विज्ञान की जो सामग्री हमारे सामने है उसका जब बुद्धिगम्य विवेचन हम देखते हैं तो यह ध्रुव निश्चय हो जाता है कि उस किसी सत् चित् आनन्द तत्त्व ने अपने त्रिवृत् स्वरूप द्वारा इस सर्ग का वितान किया है और वह स्वयं इसमें गूढ है, वही अव्यक्त से व्यक्त भाव में आया है। साथ ही समझने वालों को इसका भी आभास स्पष्ट मिलता है कि वैदिक विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इन दोनों की शब्दावली और परिभाषाओं में चाहे जितना भेद हो, मूलतत्त्व की व्याख्या में बहुत कुछ सादृश्य है। ऊपर कही हुई पंचाण्डविद्या उसका एक छोटा सा उदाहरण है। जन्म, वृद्धि और ह्रास की मौलिक प्रक्रिया जो विज्ञान और दर्शन में समानरूप से मान्य है वही पञ्चाण्डविद्या का विषय है। जिसे अंग्रेजी में ओवल या आयतवृत्त कहते हैं, वही अण्ड है। एक अविशेष केन्द्र से तीन विशिष्ट केन्द्रों का विकास यही सृष्टि है। त्रिकभाव का नाम ही विश्व है। 'त्रिवृद् वा इदं सर्वम्' यह वेद की परिभाषा विज्ञान को भी मान्य है। इसी त्रिवृत्भाव की संज्ञा मन, प्राण, वाक् है जिसकी बहुत प्रकार की व्याख्या वैदिकसाहित्य में पाई जाती है। उस व्याख्या के भिन्न भिन्न स्तर हैं, जैसे इस सृष्टि के विभिन्न क्षेत्र या स्तर हैं। यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि विज्ञान के नियम के समान ही मूलभूत वैदिक नियम भी अत्यन्त सरल हैं। अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत के स्तरों पर उन नियमों के समझने का प्रयत्न ब्राह्मणग्रन्थों में पाया जाता है। विद्वान् लेखक की जो शैली है उसमें भी वह मान्य हुआ है। वैदिक विज्ञान का एक कठिन पक्ष भी है, वैदिक विज्ञान एक सूत्र या तन्तु नहीं—पूरा पट है। एक तन्तु को पकड़ते ही पूरे पट को सम्हालने का साहस यदि बुद्धि में न हो तो बुद्धि कातर हो जाती है और दिङ्मूढ स्थिति में पड़ जाती है। किस दशा में कहाँ गति की जाय यह स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु यह ऐसी कठिनाई नहीं है जिसका परिहार न हो सके। यह तो सृष्टि की ही विचित्रता है, उसमें सब कुछ ओतप्रोत है। एक सामान्यातिसामान्य अंकुर समस्त विश्व का प्रतीक बना हुआ है। उसका कृत्स्न ज्ञान कोई प्राप्त करना चाहे तो उसे एक ओर समस्त विज्ञान को और दूसरी ओर दर्शन के ज्ञान को मथना होगा। ज्ञान और विज्ञान को आत्मसात्

करके ही अन्तिम तत्त्व का दर्शन किया जा सकता है। ज्ञान शिरोमूला दृष्टि है और विज्ञान पाद-मूला दृष्टि है। वट में बीज का दर्शन और बीज में वट का दर्शन ये दोनों ही ज्ञानसाधन के प्रकार हैं।

जयपुर में पं० मधुसूदन ओझा वैदिक विज्ञान के अत्यन्त प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ता थे। इस प्राचीन ब्रह्मविज्ञान शास्त्र को बुद्धिपूर्वक प्रकाशित करने का उन्होंने विलक्षण प्रयत्न किया और इस विषय पर दो सौ के लगभग ग्रन्थ संस्कृतभाषा में लिखे। उनमें से लगभग ५० अभी प्रकाशित हो सके हैं, किन्तु ग्रन्थप्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने साक्षात् अध्यापन द्वारा यह दृष्टि और यह महिमाशालिनी विद्या अपने प्रियशिष्य पं० श्री मोतीलालजी शास्त्री को प्रदान की, जिन्होंने अत्यन्त भक्ति और निष्ठा से आचार्य के चरणों में बैठकर अठारह वर्षों के दीर्घकाल तक ज्ञानसाधना की। सौभाग्य से पं० मोतीलालजी ने जिस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में, उसी प्रकार और भी विशिष्ट एतद्विषयक साहित्य में इन तत्त्वों की व्याख्या की है। इस साहित्य के लगभग ६० सहस्र पृष्ठ लिखे जा चुके हैं जिनमें से दश सहस्र पृष्ठ के लगभग मुद्रित और प्रकाशित हो चुके हैं। इन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शतपथब्राह्मण के १४ अध्यायों का भाष्य है, जो लगभग १८ सहस्र पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इस महनीय साहित्य को प्रकाशित करने के लिये **'श्रीराजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान जयपुर'** नामक संस्था की स्थापना की गई है। इसके लिये राजस्थान-शासन का और सार्वजनिक सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कार्य को अग्रसर करने के लिये बम्बई के तीन महानुभाव अनुग्राहक मित्रों ने प्रथम वर्ष में पुष्कल सहायता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। हमें यह कहते हुए प्रसन्नता है कि महानुभाव श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुडीलालजी सेक्सरिया, श्रीमहावीरप्रसादजी मुरारका, श्रीजगदीशप्रसादजी सेक्सरिया ने वैदिक साहित्य के महत्त्व को शीघ्र ही हृदयङ्गम कर लिया, अपनी अन्तःप्रेरणा से इसे वास्तविक रूप से अग्रसर करने में जिस उत्साह और उदारता का परिचय दिया, उसने संस्थान के लिये अमृतप्रोक्षण का कार्य किया है। फलस्वरूप यह निश्चय किया गया है कि प्रथम वर्ष मे लगभग ४ सहस्र पृष्ठों का साहित्य प्रकाशित किया जाय। इसमें शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड का सम्पूर्ण विज्ञानभाष्य, गीता के अप्रकाशित खण्ड, कुछ उपनिषदों का भाष्य, उपनिषद् की विद्याओं पर नूतन ग्रन्थ, कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक सूक्तों पर नई व्याख्या एवं कुछ भारतीय मानव के उद्बोधन के लिये अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित किये जायँ। उसी योजना के अन्तर्गत यह ग्रन्थ पाठकों की सेवा में जा रहा है। हम संस्थान की ओर से इस कल्याणमयी भावना को लेकर प्रवृत्त हुए हैं कि वैदिक विज्ञान की यह महार्घ निधि राष्ट्र के समक्ष शीघ्र से शीघ्र आनी चाहिये। कई सहस्र वर्षों से विलुप्त इस विज्ञान का उद्धार अद्वितीय महत्त्वपूर्ण कार्य है। देश के किसी भी विश्वविद्यालय में इस प्रकार का प्राचीन अनुशीलन इस समय दिखाई नहीं देता। प्राचीन संस्कृति की परिभाषाओं को जानने के लिये पं० मोतीलालजी शास्त्री का यह कार्य राष्ट्रीय ज्ञानक्षेत्र में अमृतवर्षण का कार्य है।

काशी विश्वविद्यालय
चैत्रकृष्णा ११, संवत् २०१२

वासुदेवशरण अग्रवाल

श्रीः

निबन्धान्तर्गत–स्तम्भद्वयात्मक–प्रथमखण्ड के सम्बन्ध में
किमपि प्रास्ताविकम्

ब्राह्म–प्राजापत्य–ऐन्द्र–पैत्र्य–यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व–भेदभिन्न चान्द्रलोकानुगत सत्त्वविशाल अष्टविध ऊर्ध्वसर्ग, मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि–कीट–भेदभिन्न पार्थिवान्तरिक्षलोकानुगत रजोविशाल पञ्चविध मध्यसर्ग (तिर्य्यक्सर्ग), धातूपधातु–रसोपरस–विषोपविष–ओषधिवनस्पति–लतागुल्म–आदिरूपेण असंख्यभेदभिन्न भूलोकानुगत तमोविशाल विविध अधःसर्ग, सम्भूय पार्थिवप्रजापति के भौतिक महिमामण्डल में आवास-निवास करने वाले इन चतुर्दशविध (१४) भूतसर्गों के सम्बन्ध में चिरन्तन आप्त पुरुषों से परम्परया ऐसा श्रुतोपश्रुत है कि,–'मानवसर्ग' सर्वापेक्षया महतोमहीयान् है, मानव अमृतपुत्र है, प्रजापतिसमतुलित है, प्रजापति से नेदिष्ठ (समीपतम) है, अतएव सर्वश्रेष्ठ है, श्रेष्ठतर है, श्रेष्ठतम है।

तदित्थं, एवंविधा आप्तपुरुषमान्यता–आस्था के द्वारा श्रेष्ठतम प्रमाणित भी वर्त्तमान विश्वमानव, तत्रापि भारतीय मानव, तत्रापि आस्तिक हिन्दू मानव अपने राष्ट्रीय कोश में संख्यातीत शास्त्रसम्भार, सर्वविध भूत–भौतिक-परिग्रहसम्भार, शिल्पकला–वाणिज्यादि व्यवहारसम्भार, परिपूर्ण ज्ञानानुगति, कर्म्मानुगति, सर्वतोभावेन भगवद्भावानुगता आस्तिकता, आदि आदि सुख–शान्ति–ऋद्धि–समृद्धि–तुष्टि–पुष्टि–संसाधक यच्चयावत् परिग्रहसम्भारों को सञ्चित रखता हुआ भी आज सर्वथा सर्वात्मना 'आद्यन्त' का दुःखी–अशान्त–दीन–हीन–असन्तुष्ट–अपुष्ट–ही प्रमाणित हो रहा है। आर्षयुगानुगत अतीत का सर्वसुखी भी भारतीय हिन्दू मानव वर्त्तमान युग में इस प्रकार सर्वविधदुःखार्तिपरम्पराओं से उत्पीड़ित क्यों ?, जब कि सर्वसुखप्रवृत्ति के तथाकथित सम्पूर्ण परिग्रहसम्भार अतीतवत् वर्त्तमान में भी इस के कोश में–'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' न्याय से वर्त्तमान में भी सुरक्षित हैं ?।

नितान्त भावुकतापूर्ण–आस्था–श्रद्धा–शून्य पूर्व प्रश्न का निष्ठादृष्टि से अनुप्राणिता इस व्यापकदृष्टि से भी अभिनय कर देना वर्त्तमानयुगानुबन्ध से सामयिक ही मान लिया जायगा कि—**"विश्वमानव (विश्वसीमा में प्रतिष्ठित रहने वाला आज का मानव) दुःखी क्यों, जब कि सुखसाधक किसी भी साधन का आज इसके कोश में अभाव नहीं है"**। एकमात्र इसी समस्यापूर्ण सामयिक प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले विगत ३० वर्षों से प्रक्रान्त बने रहने वाले

मानसिक चिन्तन के परिणामस्वरूप ही **'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'** नामक सामयिक निबन्ध आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा मानवप्रज्ञा के सम्मुख मूर्त्तरूपेण प्रस्तुत होने जा रहा है।

अपनें विगत स्वाध्यायकाल में अपनी सामान्या भी भावुक-प्रज्ञा के द्वारा भारतीय मौलिक तत्त्वचिन्तन का जैसा जो कुछ अंश-प्रत्यंशात्मक स्वरूप अवगत हुआ, तन्माध्यम से हम शनैः शनैः इसी तथ्य की ओर आकर्षित होते गए कि, **"जिस राष्ट्र के कोश में इत्थंभूता साहित्य-निधि सुरक्षित हो, उसे कदापि दुःखी नहीं रहना चाहिए"**। अपनी इस मानसिक अनुभूति के साथ ही प्रत्यक्षद्रष्टा स्थिति के माध्यम से हमें साथ साथ ही ऐसा भी आभास होता रहता था कि, जिस भारतराष्ट्र के कोश में एवंविधा ज्ञाननिधि सुरक्षित है, वही आज विश्वमानव के समतुलन में अनुपात से कहीं अधिक दुःखार्त्त हैं। परस्परात्यन्तविरुद्ध इन दोनों अनुभूतियों के द्वन्द्वात्मक संघर्ष नें ही कालान्तर में हमें इस नवीन तथ्य की ओर आकर्षित किया कि—

"सचमुच सर्वसुखसाधनभूता निधि की तो कमी नहीं है। किन्तु विगत कतिपय शताब्दियों से प्रक्रान्त बनी रहने वाली मतवादात्मिका साम्प्रदायिक-दृष्टि के कारण वह मूलनिधि अमुक आपातरमणीय कुछ एक वैसे आवरणों से आवृत हो गई, जिन आवरणों के कारण मूलनिधि का ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय-निःश्रेयस्संसाधक स्वरूप सर्वथैव आवृत हो गया। एवं इसके स्थान में ज्ञानविज्ञानशून्या मतवादाभिनिवेशप्रधाना उस साम्प्रदायिक-दृष्टि नें ही मूलनिधि का स्थान ग्रहण कर लिया, जिस साम्प्रदायिकदृष्टि ने भारतीय मानव को सर्वथैव लक्ष्यच्युत प्रमाणित कर रक्खा है। सहजभाषा में-अपनीं मानसिक-काल्पनिक-मान्यताओं को हीं प्रधानता देने वाली साम्प्रदायिक दृष्टि के निग्रहानुग्रह से ही भारतीय मौलिक साहित्यनिधि का ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप अभिभूत हो गया, और मतवाददृष्टि ही यहाँ मूलनिधि प्रमाणित हो गई, जिसके दुष्परिणामात्मक व्यामोहन से ही भारतीय मानव आज इस प्रकार की दैन्यस्थिति का अनुगामी बन गया।"

उक्त नवीन तथ्य से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, "जब तक इस निधि का विशुद्ध स्वरूप राष्ट्रप्रज्ञा के सम्मुख इसकी प्रक्रान्ता राष्ट्रभाषा (हिन्दी) के माध्यम से ही उपस्थित नहीं कर दिया जायगा, तब तक राष्ट्रीयप्रज्ञा का साम्प्रदायिक विमोहन पलायित न होगा। एवं जब तक साम्प्रदायिक विमोहन पलायित न होगा, तब तक यह इस कल्पित काचमणि को ही वज्रमणि मानने की भ्रान्ति करती हुई इसे ही अपना पथप्रदर्शनात्मक आलोक मानने-मनवाने में आसक्त-व्यासक्त बनी रहेगी'। इसी निष्कर्षधारणा के आकर्षण से आज से अनुमानतः २५ वर्ष

पूर्व ही हमनें राष्ट्रभाषा हिन्दी में भारतीयमूलनिधि का संकलन आरम्भ कर दिया, जिसका संकलित स्वरूप अद्यावधिपर्य्यन्त अनुमानतः अशीतिसहस्रपृष्ठात्मक 'काय'-भाव में परिणत हो चुका है।

क्या धारणानुगत इस संकलन के द्वारा राष्ट्रीय मानव साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से आत्मत्राण कर अपनी ज्ञानविज्ञानात्मिका मूलनिधि की ओर आकर्षित हो सका ?, इस नवीन प्रश्न ने आज से कुछ एक वर्ष पूर्व ही हमारे अन्तर्जगत् में पुनः एक नवीन समस्या उत्पन्न कर डाली। साहित्य-संकलनकाल में हीं राष्ट्र की सामान्य-विशेष, दोनों हीं प्रकार की प्रज्ञाओं के सान्निध्य का महत्सौभाग्य उपलब्ध हुआ, एवं दोनों नें हीं इस तथ्य को सर्वात्मना राष्ट्रीय अभ्युदय के लिए उपयुक्त घोषित किया। किन्तु यह घोषणा केवल 'घोषणा' रूप में हीं परिणत रह गई। सामान्य प्रज्ञाओं से तो इस दिशा में केवल सहानुभूति के अतिरिक्त अन्य कुछ आशा रखना व्यर्थ ही था। किन्तु जिन विशेष प्रज्ञाओं का ध्यान इस तथ्य की ओर सर्वात्मना आकर्षित हो गया था, उन विशेष प्रज्ञाओं को भी जब हमनें 'कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान' की दिशा में सर्वथा उन्मुग्ध ही देखा, तो सहसा एक नवीन प्रश्न, तन्मूला एक नवीन समस्या यही आविर्भूत हो पड़ी कि,-"केवल साम्प्रदायिक आवरण ही मूलनिधि से सम्बन्ध रखने वाली कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठात्मिका आचारमीमांसा से तटस्थ बन जाने का कारण नहीं है। अपितु अवश्य ही कोई वैसा ओर भी कारण है, जिसके निग्रहानुग्रह से सब कुछ समझ लेने पर भी, जान लेने पर भी मानव की प्रज्ञा वास्तविक तथ्य को क्रियारूप में परिणत करने में असमर्थ ही प्रमाणित रहती है"।

जिस अचिन्त्य कारण से विशेषप्रज्ञाएँ भी गजनिमीलिका-पथ का अनुगमन करतीं हुई तथ्य को कार्य्यरूप में परिणत कर देने की क्षमता रखने वाले अपने 'व्यान' प्राण के उद्बोधन में असमर्थ बनीं रहतीं हैं, उस अचिन्त्य कारण का स्वरूपबोध हमें सर्वप्रथम जिस महामानव के अनुग्रह से प्राप्त हुआ, एकमात्र उसी के अनुग्रह से हमें सहसा एक नवीन तथ्य की ओर आकर्षित हो जाना पड़ा। जनसम्पर्क से सर्वथा तटस्थ रहने वाले, सहजरूपेणैव आत्मब्रह्मबोधपथारूढ, अतएव **'ब्रह्मानन्द'** नाम से प्रसिद्ध उस महामानव के द्वारा इस दिशा में हमें जो दृष्टिकोण उपलब्ध हुआ, उसी के आधार पर उस अचिन्त्य कारण की सुप्रसिद्धा-**'भावुकता'** नाम की अभिधा का वैसा इतिहास प्रस्फुटित हो पड़ा, जिसनें हमारी सभी समस्याओं का निराकरण कर डाला। और इस प्रस्फुटन से पूर्व सान्निध्य में आकर भी तटस्थ बन जाने वालीं जिन विशेष-प्रज्ञाओं के प्रति हमारे अन्तर्जगत में यदा कदा आक्रोश उत्पन्न हो जाया करता था, वह सदा के लिए उपशान्त हो गया।

जगन्नियन्ता जगदीश्वर की मह्दा 'अभ्वा'त्मिका, मह्दा 'यज्ञा'त्मिका 'प्रकृति' के उपबृंहण से सम्बन्ध रखने वाली प्रकृतिस्वरूपव्यामोहनात्मिका 'भावुकता' ❀ ही वह अचिन्त्य कारण है, जिसके द्वारा मानव सृष्टि के आदिकाल से ही विमोहित होता आ रहा है ÷ । एवं जिस आत्मस्वरूपात्मक-स्वस्वरूपविमोहन-लक्षणा 'भावुकता' से, किंवा प्राकृतव्यामोहन से परित्राण प्राप्त करने का एकमात्र उपाय 'स्वात्मनिष्ठा' ही माना गया है। जब जब भी मानव प्रकृत्याराधना से पराङ्मुख होकर प्रकृति का प्रेमी बन जाता है, तब तब ही इसका मनोभाव प्राकृत-भावुकता के पाश में आबद्ध होता हुआ आत्मस्वरूपलक्षणा आत्मबोधनिष्ठा से पराङ्मुख हो जाता है। और यही मानव के पराभव का एकमात्र मुख्य कारण बनता है। ठीक इसके विपरीत मानव विश्व-प्रकृति की आराधना करता हुआ, किन्तु प्रकृतिप्रेम से सर्वथा तटस्थ बना रहता हुआ 'माम्'लक्षण आत्मस्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली निष्ठाबिन्दु पर अश्माखण्डरूप से यदि अविचाली है, तो कदापि वह प्रकृतिव्यामोहनलक्षणा 'भावुकता' के पाश से आबद्ध नहीं होता + ।

'निष्ठा', और 'भावुकता' से सम्बन्ध रखने वाले इस अचिन्त्यकारणात्मक नवीन दृष्टिकोण का जिस समय परमश्रद्धेय तथाकथित **श्रीश्रीब्रह्मानन्दस्वामिमहाभाग** के अनुग्रह से प्रस्फुटन हुआ था, उसी समय तद्युग में प्रकाशित होने वाले **'मानवाश्रम'** नामक पाक्षिक पत्र में-**'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'**× नाम से दिग्दर्शन करा दिया गया था, जो कुछ ही समयानन्तर सहयोगियों की विशेष प्रेरणा से अनुमानतः १०० पृष्ठों में 'पुस्तिकारूप' से पृथक् भी प्रकाशित हो गया था। सन् ४५ में लघुपुस्तिकारूपेण प्रकाशित तन्निबन्ध उसी प्रकृतिदेवी के निग्रहा-

---

❀ न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधतः ।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी ॥

÷ ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
—सप्तशती

+ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
—गीता ७।१४

× मानवाश्रम–पाक्षिक पत्र की सप्ताङ्कसमष्टि–फाल्गुनकृष्ण १४, वि० २००१। फर्वरी सन् १९४५ में प्रकाशित।

नुग्रह से अनुमानतः १० वर्ष पर्य्यन्त (सन ५४ पर्य्यन्त) अपने उसी कलिकारूप में सुरक्षित रहा। एवं इस दशवर्षात्मिका अवधि में निबन्ध में प्रतिपादिता 'भावुकता' का प्रथम लक्ष्य (शिकार) स्वयं हमें हीं बन जाना पड़ा, जिसे हमनें प्रकृतिदेवी महामाया जगदम्बा का उद्बोधनात्मक निःसीम अनुग्रह ही माना। भावुकतावश नवीनरूप से आक्रान्त हो पड़ने वाली मानवाश्रमविद्यापीठस्थापन-तत्स्वरूपनिर्म्माणार्थ इतस्ततः अनुधावन-सत्तातन्त्र के समर्थ सञ्चालकों की भावुकतापूर्ण अजस्रोपासना-मान्यसहयोगियों के द्वारा समय समय पर उपलब्ध होते रहने वाले पुरस्कारात्मक आक्रोशों का अनुगमन-आदि आदि भावुकतापरम्पराओं के अनुग्रह से ही अन्ततोगत्त्वा 'भावुकता' के विश्वानुबन्धी उस चिरन्तन इतिहास के सम्पर्क में आ जाने का अवसर प्राप्त हो सका, जिसके अनुग्रह से ही १० वर्ष पूर्व की लघुपुस्तिकात्मिका कलिका आज प्रस्तुत महानिबन्धात्मक विकसित कुसुमरूप में प्रस्तुत हो रही है।

"सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों के विद्यमान रहते भी मानव कदापि सुखी-शान्त-प्रकृतिस्थ नहीं रह सकता, यदि वह 'भावुकता' से आक्रान्त है, तो। ठीक इसके विपरीत बिना साधन-परिग्रहों के भी नवीन साधन-परिग्रह अर्ज्जित-समार्ज्जित करने में सफल बनता हुआ मानव प्रकृतिस्थतापूर्वक स्वस्थ बना रहता है, यदि वह 'निष्ठा' पर प्रतिष्ठित है तो"। यही वह तथ्य है, जिसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत निबन्ध में हुआ है। **मानव दुःखी क्यों है ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर होगा--'भावुकता से'। मानव सुखी कैसे बन सकता है ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर होगा 'निष्ठा से'।** सब कुछ विद्यमान रहते हुए भी भावुकता से 'भावुक' बना हुआ मानव जहाँ आद्यन्त का दुःखी है, वहाँ कुछ न रहते हुए भी निष्ठा से 'नैष्ठिक' बना हुआ मानव आद्यन्त का सुखी है। और यही प्रस्तुत निबन्ध का अथ से इति पर्य्यन्त का चिरन्तन इतिहास है।

प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थखण्ड-रूप से निबन्ध चार खण्डों में विभक्त हुआ है। जिनमें से प्रथमखण्ड **'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर'** के अनुग्रह से प्रकाशित हो रहा है, जिसके सन्बन्ध में भी 'कृतज्ञताज्ञापन' अनुबन्ध से दो शब्द निवेदन कर देना प्रासङ्गिक ही मान लिया जायगा। अनुमानतः तीन वर्षों से स्थानीय अमुक मित्रों के अनुग्रह से राजस्थान सत्तातन्त्र से इस दिशा में सहयोग प्राप्त करने की एषणा जागरूक बनी, जिसका उपक्रम तथा उपसंहारबिन्दु वर्त्तमान क्षणपर्य्यन्त तो अभिन्न ही प्रमाणित हो रहा है। इस झञ्झावातात्मक प्रसङ्ग का एक यह महान् फल अवश्य हुआ कि, प्रस्तुत आर्षसाहित्य के प्रति आरम्भ से ही अपनी निष्ठा सुरक्षित रखनें वाले सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता माननीय डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग का ध्यान गत वर्ष से सहसा इस कार्य्य की ओर आचाररूप से आकर्षित हो पड़ा। गत वर्ष विघटित

होनें वाली कार्य्यकारिणी के मन्त्रित्त्व के लिए आपको आमन्त्रित किया गया, जिस कार्य्यकारिणी में अन्य सम्मान्य महानुभावों के अतिरिक्त राजस्थान सत्तातन्त्र के मान्य गृहमन्त्री-वित्तमन्त्री-स्वास्थ्यमन्त्री–कृषिमन्त्री भी समाविष्ट थे। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री माननीय **श्रीजयनारायणव्यास** के द्वारा उद्‌घाटन हुआ, तदतिरिक्त अन्य विशेष आयोजन, सम्मान्य राष्ट्रपतिमहाभाग का स्वागत, आदि आदि वे सभी विधि–विधान पूरे हुए, जो युगधर्म्मानुगता भावुकता से पूरे होनें चाहिए थे। निरन्तर तीन वर्ष पर्य्यन्त इस प्रकार की लोकोपासना अनवच्छिन्नरूप से प्रकान्त रही, जिसका गत वैशाखमास में हमनें अपनी ओर से अवभृथस्नान करा लेना ही श्रेयःपन्था अनुभूत कर लिया है।

अनन्तर १ नवम्बर सन् ५५ को सुप्रसिद्ध संस्कृतसाहित्यप्रेमी माननीय **श्रीलक्ष्मीलालजी** जोशी (जागीरकमिश्नर, राजस्थान), तथा **श्रीवासुदेवशरणअग्रवाल** के परामर्श से एक नवीन-संस्था का जन्म हुआ, जिसका मन्त्रित्त्व श्रीअग्रवाल महाभाग से ही अनुप्राणित माना गया। संस्था का विधानपूर्वक पञ्जीयन हुआ। एवं संस्था के मान्य मन्त्री महाभाग के साथ हमें भी प्रकाशनव्यवस्था के लिए गत दिसम्बरमास में बम्बईयात्रा करनी पड़ी। एकमात्र श्रीमन्त्री महोदय के निष्ठाबल से संस्था को थोड़ा आर्थिक सहयोग वहाँ प्राप्त हुआ, जिसके लिए संस्था उन सहयोगदाताओं के प्रति अवश्य ही कृतज्ञता व्यक्त करेगी। हम स्वयं तो संस्था के प्रति ही कृतज्ञता अभिव्यक्त कर रहे हैं, जिसने हमें निबन्ध के प्रस्तुत उस प्रथम खण्ड के शेषांश के प्रकाशन का अवसर प्रदान किया, जिसके २:२ पृष्ठ अनुमानतः एक वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो गए थे, एवं शेष अर्द्ध भाग अर्थाभाव से अप्रकाशित ही था। हमारी ऐसी मान्यता है कि, संस्था के सुयोग्य मन्त्री महाभाग के अनुग्रह से भविष्य में भी हमें वैसी सुविधा उपलब्ध होती रहेगी, जिस से **'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य'** नामक **'मानवाश्रमविद्यापीठ'** अध्ययनाध्यापनानुष्ठान-प्रचारानुष्ठान-प्रकाशनानुष्ठान–आदि प्रवृत्तियों में सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः अवश्य सफल बन सकेगा।

उक्त कृतज्ञताज्ञापनानन्तर निबन्धानुगत विषयों के सम्बन्ध में भी दो शब्द व्यक्त कर दिए जाते हैं। खण्डचतुष्टयात्मक निबन्ध में जो स्तम्भ पहिले सकल्पित थे, जिनका प्रस्तुत प्रथम खण्ड में उल्लेख किया जा चुका है–(देखिए प्र० ख० पृ० सं० १३१), आगे चल कर उनमें थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया गया है। एवं इस नवीन संशोधन के अनुपात से चार खण्डों में प्रतिपादित स्तम्भों का सन्निवेश परिवर्त्तित हो गया है। वही परिवर्त्तित तालिका यहाँ उद्‌धृत हो रही है—

भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता नामक खण्डचतुष्टयात्मक निबन्ध
की
स्तम्भतालिका

स्तम्भ	खण्ड
१—असदाख्यानस्वरूपमीमांसा—प्रथमस्तम्भ	—स्तम्भद्वयात्मक प्रथमखण्ड (१)
२—विश्वस्वरूपमीमांसा——द्वितीयस्तम्भ	

—१—

स्तम्भ	खण्ड
३—निष्ठा-भावुकतास्वरूपमीमांसा—तृतीयस्तम्भ	—स्तम्भद्वयात्मक द्वितीयखण्ड (२)
४—मानवस्वरूपमीमांसा——चतुर्थस्तम्भ	

—❀—

स्तम्भ	खण्ड
५—मानवकर्त्तव्यस्वरूपमीमांसा—पञ्चमस्तम्भ	—एकस्तम्भात्मक द्वितीयखण्डपरिशिष्ट

—२—

स्तम्भ	खण्ड
६—धर्म्म, एवं नीतिस्वरूपमीमांसा—षष्ठस्तम्भ	—स्तम्भत्रयात्मक तृतीयखण्ड (३)
७—श्वेतक्रान्तिस्वरूपमीमांसा——सप्तमस्तम्भ	
८—भारतीय साम्यवादस्वरूपमीमांसा-अष्टमस्तम्भ	

—❀—

स्तम्भ	खण्ड
९—श्वेतक्रान्तिघोषणामीमांसा—नवमस्तम्भ	—स्तम्भद्वयात्मक तृतीयखण्डपरिशिष्ट
१०—स्वतन्त्रराष्ट्रकामनामीमांसा—दशमस्तम्भ	

—३—

स्तम्भ	खण्ड
११—दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा——एकादशस्तम्भ	स्तम्भचतुष्टयात्मक चतुर्थखण्ड (४)
१२—प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा——द्वादशस्तम्भ	
१३—योगक्षेमस्वरूपमीमांसा——त्रयोदशस्तम्भ	
१४—निष्ठा-भावुकता-लोकसूत्रमीमांसा-चतुर्द्दशस्तम्भ	

—❀—

स्तम्भ	खण्ड
१५—लोकसूत्राचारमीमांसा——पञ्चदशस्तम्भ	—एकस्तम्भात्मक चतुर्थखण्डपरिशिष्ट

—४—

सैषा-खण्डचतुष्टयात्मकस्य-परिशिष्टखण्डत्रयानुगतस्य-निबन्धस्य
स्तम्भतालिका

—❀—

अनुमानतः ३००० तीन सहस्र पृष्ठसंख्या में उपनिबद्ध यह सामयिक निबन्ध उस शतपृष्ठात्मक पूर्वनिबन्ध का ही विकसित स्वरूप है, जिस के माध्यम से हमनें प्रधानरूप से उस अचिन्त्यकारणभूता 'भावुकता', एवं तदपेक्षिता 'निष्ठा' के स्वरूपोपासन की ही भावुकतापूर्णा चेष्टा की है, जिस के द्वारा हम निश्चयेन कालान्तर में सर्वात्मना भावुकताप्रवर्त्तिका प्रकृति के ही क्रोड में अपनें आपको समर्पित कर देंगे। और यही हमारे भावुकतापूर्ण प्राकृत जीवन का वास्तविक अवभृथस्नान माना जायगा।

लोकानुबन्धी सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जीवन ही मानव का लौकिक जीवन कहलाया है। राष्ट्र के दुर्भाग्य से कुछ समय से इस भारतराष्ट्र की प्रज्ञा की ऐसी धारणा बन गई है, अथवा तो पूर्वसंकेतिता साम्प्रदायिक दृष्टि ने बलपूर्वक बना दी है कि, मानव का प्रधान पौरुष आत्मिक शान्तिलाभ करना ही है। अवश्य ही आत्मशान्ति प्राप्त कर लेना मानव का महान् पौरुष है। किन्तु लोक की उपेक्षा कर कदापि इस पुरुषार्थसाधन में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। लोकजीवन ही प्राकृतिक जीवन है, जिस की स्वरूपस्थिति ही मानव की प्रकृतिस्थता कहलाई है। प्रकृति की उपेक्षा कर मानव कदापि केवल-पुरुषानुगता स्वस्थता-शान्ति का अनुगमन नहीं कर सकता। प्रकृतिस्थता ही स्वस्थता का आधार है लोकतन्त्र में, जबकि स्वस्थता ही प्रकृतिस्थता का आधार मानी गई है अध्यात्मतन्त्र में। दोनों एक ही के दो स्वरूप हैं, विवर्त्तभाव हैं, महिमभाव हैं। प्रकृतिगर्भित पुरुष ही **'अध्यात्मम्'** है, एवं पुरुषगर्भिता प्रकृति ही **'अधिभूतम्'** है। दोनों का जिस सुसूक्ष्म केन्द्रबिन्दु पर समसमन्वय हो रहा है, वही **'अधिदैवतम्'** है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि, तीनों में से किसी एक को ही प्रधान मानकर शेष दोनों की उपेक्षा कर देना सर्वथा वैसी भावुकता ही है, जिससे परिणाम में शून्यं शून्यं के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्'–'त्रयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि सिद्धान्तानुसार एक ही तत्त्व इन तीन दैवत-आत्म-भूत-भावों में व्यक्त हो रहा है सर्गदशा में। एवं तीनों सर्वथा एक ही रूप में परिणत हो जाते हैं प्रतिसर्गदशा में। एक ही आत्मतत्त्व का व्यक्त विश्वदशा में त्रिधा वितान हुआ है। अतएव तीनों स्वरूप सर्वथा समानरूपेण मानव के उपकारक बने हुए हैं। यही नहीं, तीनों का निर्विरोध ❀ समन्वय–अनुष्ठान–अनुगमन–हीं मानव की वास्तविक स्वरूपस्थिति मानी गई है, जिसे भावुकतावश विस्मृत कर मानवनें आज अपने स्वरूप को ही विस्मृत कर लिया है। आश्चर्य्य तो यह देख-सुन कर होता है कि, अधिभूत, तथा अधिदैवत से सम्बन्ध रखने वाले विधि-विधानों की आत्य-

❀ अधिदैवतदृष्ट्या समन्वय, अध्यात्मदृष्ट्या अनुष्ठान, एवं अधिभूतदृष्ट्या अनुगमन।

न्तिक उपेक्षा कर केवल आध्यात्मिक (सो भी सर्वथा काल्पनिक) शून्य आधारों को ही अपनी साधना का मूलाधार मानने-मनवाने की महती भ्रान्ति कर बैठने वाले अध्यात्मवादी साधक और सिद्ध, दोनों नें हीं ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-समन्वयमूला सफलता से सर्वथा बिपरीत परिणाम में उपलब्ध होने वाली मानसिक अभावोपरति, शून्यभावात्मिका अवसानस्थिति को ही (जिस शून्यस्थिति में न कुछ व्यवस्थित जानने के लिए रहता, न व्यक्त कर्म्म ही रहता, न व्यक्त भूतोपलब्धि ही होती) 'आत्मशान्ति' जैसी महत्त्वपूर्ण अभिधा से उद्घोषित मान रक्खा है। जिस प्रकार एक गुरुतम भार से उत्पीड़ित भार-वाही मार्ग में चलता चलता अपने भार को अमुक उच्च प्रदेश में क्षणमात्र के लिए रखता हुआ अपने आपको शान्त मान बैठता है, तथैव अपनी इत्थंभूता काल्पनिक अध्यात्मसाधनाओं के क्षण में साधक-सिद्ध, दोनों हीं लोकभार से क्षणमात्र के लिए पृथक् होकर शून्य में आ जाते हैं। और यही शून्यता इनकी दृष्टि में 'आत्मशान्ति' बन जाती है, जिसका ये 'बड़ी शान्ति मिलती है, बड़ा आनन्द आता है', कह कर स्वयं तो प्रतारित होते ही हैं, साथ ही स्वसमानधर्म्मा अन्य अकर्म्मण्यों को भी इस गन्धर्वनगर की ओर आकर्षित करते रहते हैं। इस प्रकार की कल्पित आत्मशान्ति के सूत्राधार सिद्ध **गुरु भगवान्**, एवं ऐसे शान्तिपथ के इच्छुक साधक **शिष्यभक्त**, दोनों की वैतालचेष्टाओं से सहजस्वस्थ-प्रकृतिस्थ भी मानव आज किस प्रकार 'अध्यात्म', 'अध्यात्म' नहीं, अपितु 'अध्यातम-अध्यातम'-की रट लगाता हुआ निर्लक्ष्य प्रमाणित हो चुका है, होता जा रहा है ?, प्रश्न के बिभीषिकामय समाधान से असंस्पृष्ट बने रहना ही श्रेयःपन्था है।

निवेदन यही कर देना है कि, अधिदैवतभावानुगत **मनोमय ज्ञानतन्त्र**, अध्यात्मभावानुगत **प्राणमय कर्म्मतन्त्र**, एवं अधिभूतभावानुगत **वाङ्मय अर्थतन्त्र**, तीनों से कृतरूप परिपूर्ण मानव अपनी जीवनीय पद्धति में इन तीनों का समन्वय करके ही प्रकृतिस्थतापूर्वक स्वस्थता-लाभ कर सकता है, जिस स्वस्थता का ही नाम 'मानवता' है। ऐसी सम-समन्वयात्मिका मानवता से अनुप्राणित मानव लोक में सर्वश्रेष्ठ विभूति माना गया है, जिसे दुर्भाग्यवश तथाकथित कल्पित सिद्ध-गुरु-भगवानों नें केवल अपनी लोकैषणापूर्त्ति के लिए आज सर्वथा पापात्मा-दीन-हीन-पतित उद्घोषित कर रक्खा है। विगत कतिपय शताब्दियों से प्रक्रान्त बने रहने वाले, देश-काल-पात्र-श्रद्धा-के तारतम्य से बड़े कौशल से इसमें परिवर्त्तन करते रहने वाले साम्प्रदायिकों के 'अध्यात्मवाद' का ऐसा ही कुछ दुःखपूर्ण इतिहास है, जिसके पौनःपुनिक आवर्त्तन के दुष्परिणामस्वरूप ही भारतीय आस्तिक मानव, किन्तु भावुक मानव सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों के विद्यमान रहते भी आद्यन्त का दुःखी ही प्रमाणित हो रहा है। काल्पनिक अध्यात्मबाद, इत्थंभूत अध्यात्मवाद से अनुप्राणित मतवादात्मक धर्म्मवाद, ऐसे वादों से समुद्भूत अभिनिवेशवाद, आदि आदि वादपरम्पराओं नें

आज मानव की वैय्यक्तिक-पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय व्यवस्था को, सर्वसमन्वयात्मिका जीवनपद्धति को सर्वथा अस्तव्यस्त प्रमाणित करते हुए विश्वमानवता के लिए एक भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी है।

उद्बोधन प्राप्त कर ही लेना है मानव को, विशेषतः भारतीय मानव को, तत्रापि विशेषतः उस हिन्दू मानव को अपनी वादमूला उस महती विभीषिका से, जिससे यही सर्वाधिकरूपेण प्रभावित होता रहा है अपनी श्रद्धा-आस्था-मूला सहज भावुकता के कारण। इसीलिए प्रस्तुत निबन्ध का नामकरण हमनें मानवसामान्य से अनुप्राणित न कर केवल 'भारतीय भावुक हिन्दू मानव' नाम से ही सम्बद्ध मान लिया है। अवश्य ही आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्रयुग की उन्मुक्ता वरदा अभया छत्रच्छाया में विचरण करने वाला प्रत्येक भारतीय मानव अपने आपको सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अनुभूत कर रहा है। और इस अनुभूति के सु ? परिणामस्वरूप ही **'शरीरनिबन्धन आदेश, मनोनिबन्धन--उपदेश, बुद्धिनिबन्धन अनुशासन,** एवं **आत्मनिबन्धना संवित्'** इन चारों हीं व्यवस्थातन्त्रों का कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह गया है आज के राष्ट्रीय मानव के लिए। इसी स्वैराचारपरायणात्मिका सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता की काल्पनिक अनुभूति से अपनी निष्ठापूर्ण अभिजात उपाधियों से, भारताग्निनिबन्धना 'हिन्दू' उपाधि से भी घृणा होने लगी है आज भारतीय मानव को, जिन उपाधियों के गर्भ में हीं इसका गौरवपूर्ण चिरन्तन इतिहास अद्यावधि भी सुरक्षित चला आ रहा है। यह सब कुछ जानते और अनुभव करते हुए भी चिरन्तन 'हिन्दू' शब्द ही भारतीय मानव की सहज अभिधा इसलिए स्वीकृत हुआ है कि, इसी अभिधा के गर्भ में भारतीय मानव की उद्बोधनात्मिका सहजनिष्ठा प्रतिष्ठित है।

पुरातन आर्ष-देवयुग में, जबकि भारतवर्ष की पूर्वसीमा पीतसमुद्र (चीन का यलोसी) था, पश्चिमसीमा महीसागर (मेडिट्रे नियेन्सी) था, दक्षिणसीमा निरक्षवृत्तानुगत ❀ लङ्काद्वीप था, उत्तरसीमा रावीनदीविनिर्गमनात्मक शर्य्यणावत पर्वत (शिवालक) था, इन्द्र और वरुण, दोनों प्राणदेवताओं की मान्यताएँ पृथक्-पृथक्-रूपेण प्रक्रान्त हो पड़ीं थीं एक घटना-विशेष को लेकर। फलतः ततकालीन ब्राह्मणसमाज के **ऐन्द्रब्राह्मण, वारुणब्राह्मण,** रूप से दो स्वतन्त्र वर्ग बन गए थे। अनुदिन प्रवृद्धमाना दोनों की संघर्षवृत्ति को उपशान्त करते हुए ततकालीन समाज-

---

❀ आजकल 'सीलोन' को 'लङ्का' माना जा रहा है। किन्तु भारतीय द्वीपव्यवस्था के अनुसार सीलोन तो 'सिंहलद्वीप' है। लङ्काद्वीप सर्वथा इससे पृथक् था, जो आज समुद्रगर्भ में विलीन है।

व्यवस्थापक भगवान् ब्रह्मा (मानवाभिध भौम ब्रह्मा) ने 'सिन्धु' नद को मध्यस्थ मानकर भारतवर्ष के आर्य्यावर्त्त-आर्य्यायण-नामक दो विभाग कर डाले। सिन्धुनद के इस ओर का क्षेत्र 'सिन्धुस्थान' कहलाया, एवं सिन्धु के उस पार का स्थान 'पारस्थान' कहलाया। सिन्धुस्थान आर्य्यावर्त्त कहलाया, एवं पारस्थान आर्य्यायण कहलाया। कुछ एक विशेष मान्यताओं को छोड़कर अन्य सभी मान्यताओं में दोनों क्षेत्रों के अनुगामी समाज समान्वत ही रहे। इसके अतिरिक्त आर्य्यायण नामक पारस्थान में निवास करने वाले पारस्थानी वारुणब्राह्मण सिन्धुस्थानवासी आर्य्यावर्त्त के ऐन्द्र-ब्राह्मणों को, तदनुगामी आर्य्यमण्डल को विद्या-बुद्धि-विज्ञान-शौर्य्य-आदि में अपने से श्रेष्ठ हा मानते रहे। एवं इस सहज आभिजात्यधर्म्म से आकर्षित होकर ही उन्होंनें आर्य्यावर्त्तनिवासी मानवसमाज को-'हिन्दू' नाम से व्यवहृत किया।

वारुणब्राह्मणों में सुप्रसिद्ध 'ऋज्राश्व' नामक महर्षि की परम्परा में आविर्भूत सर्वश्री जरथुस्त्र महाभाग से सम्बद्ध 'छन्दोभ्यस्ता' नामक वैदिकवाङ्मय के प्रतिरूप में उपनिबद्ध 'जेन्दावस्ता' में प्रयुक्त 'हिन्द' शब्द ही कालान्तरभावी 'हिन्दू' शब्द का मौलिकरूप है। यहूदयों की धर्मपुस्तक 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' (बाइबिल के पुराने भाग) में भी 'हन्दू' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो निश्चयेन जेन्दावस्ता के 'हिन्द' का ही अवतरण है। क्रिश्चियनों की मान्यता के अनुसार बाइबिल का तथाकथत पुरातन भाग क्राइस्ट से भी पाँच हजार वर्ष पूर्व का है। यह पुरातन धर्म्मशास्त्र (ओल्ड-टेस्टामेन्ट) 'हिब्रू' (इब्रीय) भाषा में उपनिबद्ध है, जिसकी अपेक्षा पारसियों की जेन्दावस्ता की 'जेन्द' भाषा अति पुरातन है। स्पष्ट है कि, हिन्दू का मूलभूत 'हिन्द' शब्द वास्तव में हमारी पुरातन सभ्यता का पुरातन श्रेष्ठ ही प्रतीक है❀। जेन्दावस्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि,-"हिन्द से महाविद्वान् 'व्याम' नामक हिन्द (हिन्दू) ब्राह्मण पारस्थान आए, और उन्होंनें प्रेतात्मविद्या के आधार पर तत्रत्यों को आत्मस्वरूप से अवगत कराया। हिन्द व्यास से बढ़ कर सचमुच इस युग में दूसरा बुद्धिमान् नहीं है। तत्कालीन 'गुप्ताश्व' (ईरानभूपति) ने व्यास का स्वागत किया"। ÷

❀ 'सिन्धु' से 'हिन्दू' नाम चल पड़ा, इस भावुकतापूर्ण मान्यता का उस दशा में कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि, आर्य्यायणनिवासी पारस्थानी (पारसी) वारुणब्राह्मणों के पुरातनग्रन्थों में विद्या-बुद्धि-विज्ञान-शौर्य्यादि उत्कृष्ट गुणों के लिए ही स्वतन्त्ररूप से ही 'हिन्दू' शब्द व्यवस्थित बन रहा है।

÷ वैव हिन्द वाजगश्ते। अकनू बिरहमने व्यास नाम, अज हिन्द आमद, वसदान के अकिल चुना नेस्त (६५ वीं आयत)। चूँ व्यास हिन्दी बलख आमद गस्तस्य जरतुस्तरा बखवाँद। (१६३ वीं आयत)। मनभरदे अम हिन्द नजादे। (जेन्दावस्ता)।

उक्त निदर्शनों के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, वेदयुगात्मक देवयुग-समकालीन जेन्दावस्ता की 'जेन्द' भाषा का 'हिन्द' शब्द ही यूनानियों की धर्म्मपुस्तक की हिब्रू भाषा में समागत हुआ, जिसका अर्थ हिब्रू में हुआ है-विक्रम-गौरव-वैभव-प्रजाशक्ति-प्रभाव-इत्यादि। 'ओल्डटेस्टामेन्ट नामक यहूदियों का धर्म्मग्रन्थ ३९ भागों में विभक्त है, जिसकी १७ वीं पुस्तक का नाम है—'दि बुक ऑफ यस्थर' (The Book of Esther), जिसका हिब्रू नाम है—'आज्थुर'। इसके प्रथम अध्याय में लिखा है कि—

"Now it came to pass in the days of Ahasuerus. This is Ahasuerus which reigned from India even unto Ethiopia, over an hundred and seven and twenty provinces. Esther. Chapter I. Verse I"

उक्त उद्धरण का 'अहासुरस् राजा ने इन्डिया से ईथियोपिया पर्य्यन्त राज किया" यह वाक्य विशेष रूप से अवधेय है। वाक्य का 'इन्डिया' शब्द हिब्रू के 'हन्द' से निष्पन्न 'हिन्द'-हिन्दुस्थान-हिन्दुस्तान से ही सम्बन्ध रख रहा है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'इन्डिया' हुआ है। "हिन्द से (शक्तिविशिष्ट राज्य से) लेकर ईथियोपिया पर्य्यन्त राज किया" वाक्य स्पष्ट ही तन्मूलक हिन्द-हिन्दू-शब्द की प्राचीनता व्यक्त कर रहा है, साथ ही विशिष्टता भी। **थराक्लूश** नामक एक ग्रीक (यहूदी) ग्रन्थकार ने लिखा है कि— **"भारतवर्ष का विक्रम-गौरव-विद्यावैभव-देखकर ही यहूदी लोग इस देश को 'हन्द' कह कर पुकारते थे"**। आर्षवैदिकसभ्यता के प्रतिरूपात्मक जेन्दावस्ता ग्रन्थ में महान् वैशिष्ट्य के लिए प्रयुक्त 'हिन्द' शब्द ही 'हिन्दू' का मूलाधार है, जो कि भारतीय आस्तिक ऐन्द्रमानव की विशेषता ही अभिव्यक्त कर रहा है। यह हिन्द शब्द ही कालान्तर में सिक्खधर्म्मप्रवर्त्तक गुरुनानक के सैनिक शिष्यों के द्वारा गुरुमुखीभाषा में 'हिन्दु' रूप में परिणत हो गया। नानक से पूर्व यह शब्द 'हिन्द' 'हिन्दव'-'हन्द' इत्यादि अभिधाओं में ही परिणत रहा। अन्ततोगत्त्वा गुरुमुखी का 'हिन्दु' ही हिन्दुवंशावतंस सिक्खों के द्वारा 'हिन्दू' रूप में परिणत हो गया। विवेचन से स्पष्ट है कि 'हिन्दू' शब्द किसी भी प्रकार की संकुचित साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। अपितु जिस प्रकार 'आर्य्य' शब्द आर्य्यावर्त्त की भाषा में विशिष्ट-गुण-योग्यतादि-गुणों का वाचक है, वैसे ही 'हिन्दू' शब्द भी आर्य्यायण की जेन्दभाषा में गुण का ही वाचक है। जिस प्रकार **'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्'** इस वाक्य के द्वारा मानवमात्र को 'आर्य्य' बना डालने की कामना अभिव्यक्त हुई है, तथैव 'हिन्दू' शब्द भी इसी आर्य्यभाव को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रख रहा है। आर्य्यसभ्यता के विकासकाल में ही आर्य्यभारतीय मानव को इसकी आर्य्यता के पुरस्कार में ही आर्य्यायणों के द्वारा 'हिन्द' यह गुणात्मिका सम्मानिता उपाधि मिली है, जिसका वर्त्तमानरूप 'हिन्दू' है। सुप्रसिद्ध फरासीसी लेखक **जाकोलियेत** अपने ग्रन्थ में लिखता है कि— **"असाधारण बल और असाधारण विद्वत्ता के कारण पूर्वकाल में भारतवर्ष पृथिवी की सम्पूर्ण जातियों का आदरपात्र था"**।

जिस प्रकार 'मानव' शब्द 'मनु' रूपा केन्द्रशक्ति–गुण का अनुगामी बनता हुआ मानव-मात्र का संग्राहक है, एवमेव 'आर्य्य' तथा–'हिन्दू' शब्द भी विशिष्टगुण–शक्ति बलवीर्य्य–पराक्रम-विद्या–सत्य–आदि विशिष्ट भावों के वाचक बनते हुए तद्गुणविशिष्ट मानवमात्र के लिये ही व्यवहृत हो सकते हैं, हुए हैं अन्य देशीय–अन्य जातीय–वैसे विशिष्ट मानवों के लिए। यदि ऐसा न होता, तो कदापि—'**कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्**' यह घोषणा न होती। कौन 'आर्य्य' जैसे, 'हिन्दू' जैसे गरिमा–महिमामय गुणों से समन्वित होना न चाहेगा ?। जिस प्रकार पङ्क से उत्पन्न वस्तुमात्र के लिए उपयुक्त होने वाला 'पङ्कज' शब्द कमल की अपनी विशिष्टता के लिए कालान्तर में केवल 'कमल' में ही निरूढ हो गया, और आज 'पङ्कज' शब्द केवल 'कमल' का ही वाचक बन रहा है। एवमेव श्रेष्ठता–विशिष्टतादि से सम्बद्ध भी आर्य्य, तथा हिन्दू शब्द तद्गुणक विश्व के यच्चयावत् श्रेष्ठ–विशिष्ट मानवों से सम्बन्ध रखता हुआ भी उस भारतीय आस्तिक सांस्कृतिक मानवसमाज में ही निरूढ हो गया, जिसने अपने आत्ममूलक समदर्शन के आधार पर मानवमात्र के अभ्युदय की कामना की, प्राणिमात्र की स्वस्तिकामना की, और तदाधारेणैव जिस भारतीय आर्य्य हिन्दू मानव की–'**सर्वे सन्तु निरामयाः'–'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्**' इत्यादि उदात्त घोषणाएँ प्रतिष्ठित बनीं। और यों इस पारम्परिक वैशिष्ट्य से ही गुणवाचक भी आर्य्य, तथा हिन्दूशब्द उस भारतीय आस्तिक मानवजाति में ही कालान्तर में निरूढ़ हो गए, जिस भारतीय मानवजाति ने अपने सम्पूर्ण विधि–विधान लोकैषणाओं से पृथक् रहते हुए मानवमात्र के हित से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृतिसिद्ध सनातन विधि–विधानों को आधार बना कर ही प्रवृत्त किए हैं। अतएव जिसका यह प्रकृतिसिद्ध आर्य्यधर्म्म, किंवा हिन्दूधर्म्म 'सनातनधर्म्म' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है, जो मानवमात्र का उपकारक होता हुआ '**मानवधर्म्म**' नाम से भी प्रसिद्ध है।

न तो 'हिन्दू' शब्द भावुकतापूर्ण मान्यताओं के अनुसार साम्प्रदायिकता का ही सूचक है, न मतवादाभिनिविष्टों की मान्यता के अनुसार 'हिन्दू' शब्द 'कदर्य्य' भाव का ही द्योतक है, न हिन्दूशब्द आपातरमणीय मान्यताओं के अनुपात से 'कुफ्र' ('अविद्या') का ही वाचक है। न सिन्ध से ही हिन्दू का आविर्भाव हुआ है। न वर्त्तमान युग के भावुक विद्वानों के–'हीनं दूषयति' लक्षण काल्पनिक निर्वचन से ही हिन्दू शब्द का कोई सम्बन्ध है। अपितु यह शब्द है गौरव-गरिमा–गाम्भीर्य्य–गुण–शक्ति–विद्या–पौरुष–आदि भावों को अपने गर्भ में सुरक्षित रखने वाले जेन्दावस्ता में प्रयुक्त 'हिन्द' शब्द का कालान्तरभावी रूपान्तर, जिस रूपान्तर का श्रेय उस वीर सिक्ख जाति को प्राप्त है, जिसने गुरुमुखी में हिन्द को हिन्दु एवं हिन्दूरूप में परिणत किया है, एवं जिसने सर्वस्वसमर्पण के द्वारा हिन्दुत्त्व का संरक्षण किया है।

ज्ञानविज्ञानात्मक-सर्वशास्त्रमूलभूत प्राजापत्य आर्य्यशास्त्र (वेदशास्त्र) के महान् आदर्शों के सूचक, बल-वीर्य्य-पराक्रम-विद्या-बुद्धि-भावों के संग्राहक, अतएव पवित्र-प्रशस्त-चिरन्तन महान् इतिहास के अभिव्यञ्जक इत्थंभूत 'हिन्दू' शब्द के द्वारा आज भी भारत की आर्य्यजाति उद्बोधन ही प्राप्त कर रही है। 'हिन्दू' ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जो 'आर्य्य' शब्द की भाँति उच्चारणमात्र से भारतीय मानवजाति में एक विशिष्ट आशा का प्रदीप प्रज्ज्वलित करने की क्षमता रखता है। इस के द्वारा जातीय गौरव का चिरन्तन इतिहास इसके सम्मुख प्रस्फुटित हो पड़ता है। ऐसे विशिष्ट गुणशाली 'हिन्दू' शब्द की विशिष्ट उपाधि से समलङ्कृत भारतीय आस्तिक मानव आज परप्रत्ययमूला जिस भावुकता से भावाविष्ट बनकर जिस प्रकार इस आभिजात्य उपाधिपद के प्रति उपेक्षा व्यक्त करता जा रहा है, वह सर्वथैव चिन्त्य है। हिन्दूजाति, हिन्दूधर्म्म, हिन्दूशास्त्र, हिन्दूपद्धति, आदि आदि के मौलिक इतिहासों का अन्यतम संग्राहक, सर्वथैव विशिष्ट-भावों का अभिव्यञ्जक 'हिन्दू' शब्द यदि भारतीय मानव से पृथक् कर दिया जाता है, तो इसकी भारतीयता का कुछ भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता।

कारण स्पष्ट है। इस देश के प्राणप्रतिष्ठात्मक मौलिक प्राणाग्नि का ही नाम 'भारत' * है, जिस 'भारत' अग्नि के सम्बन्ध से ही यह देश 'भारत', किंवा भारतवर्ष कहलाया है। भारताग्नि ही इस भारतदेश के वे पुरोधा हैं÷, जिन्हें अग्रणी मानकर ही इस देश के प्राणाग्नि-मूलक सम्पूर्ण विधि-विधान व्यवस्थित बने हैं। भारताग्नि के उपबृंहणस्वरूपात्मक अग्निवायु-आदित्यप्राणों के वितानरूप+ ऋक्-यजुः-सामतत्त्वों के आधार पर ही तो भारतीय मानव के कर्म्मकलाप प्रतिष्ठित हुए हैं। त्रयीवेदमूलक प्राणाग्नित्रयीसमन्वित इन कर्म्मकलापों के कारण ही तो भारतीय मानव ने अपनी प्रज्ञा से 'आर्य्य' उपाधि प्राप्त की है। एवं इसी भारताग्निगुणा-कर्षण से प्रभावित होकर ही तो सुप्रसिद्ध अग्न्युपासक आर्य्यायण देश के पुरातन मानवों नें इसे तद्गुणवाचक 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत किया है। ऐसी अवस्था में यदि यह परवञ्चक-कुत्सित-आक्रान्ताओं के द्वारा प्राप्ता भावुकता के आवेश में आकर काल्पनिक राष्ट्रीय-व्यामोह

---

* अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण ! भारतेति। (निगदमन्त्र-शत०)। अग्निर्वै देवेभ्यः-हव्यं भरति। (तस्मादग्निर्भारतः) (शत० १।४।२।२)।

÷ अग्निमीळे पुरोहितं होतारं रत्नधातम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम् (ऋक्सं० १।१।१)।

\+ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसाम-लक्षणम्॥ (मनुः १।२३)।

का अनुगामी बनता हुआ अपनी आर्य्य उपाधि को, तद्भिन्ना 'हिन्दू' जैसी गौरवपूर्ण पवित्र उपाधि को भी साम्प्रदायिक उपाधि मान बैठने की भयानक भूल करनें लग पड़ता है, तो कहना पड़ेगा कि, आज के भारतीय मानव की आत्ममूला सहजनिष्ठा सर्वथैव अभिभूत हो चुकी है। तब तो इसे कालान्तर में अपनी 'भारतीय' उपाधि से भी पृथक् हो जाना पड़ेगा, किंवा उन्हीं कुनैष्ठिकों के [illegible] पृथक् कर दिया जायगा इसे 'भारताभिजनत्त्व' की सीमा से भी। यही क्यों, फिर तो इसे हि[illegible] उस हिन्दीभाषा का भी परित्याग कर देना पड़ेगा, जिसकी सीमा मे इसका समस्त चिरन्तन [illegible]हास समाविष्ट हो चुका है। 'हिन्दू' शब्द से अपने आप को पृथक् मानने–मनवाने की भावुकतापूर्णा भ्रान्ति का अनुगामी वर्त्तमान प्रकान्त युग का भावुक भारतीय राष्ट्रीय मानव इस शब्द से, शब्दानुगत चिरन्तन इतिहास से अपनें आपको पृथक् करता हुआ कालान्तर में किस रूप से शेष रह जायगा ?, प्रश्न का स्वयं उसे अपनें अन्तर्जगत् में हीं मुकुलितनयन बन कर विचार करना चाहिए। परप्रत्ययमूला भावुकता के आवेश में आकर इसने क्या क्या नहीं छोड़ दिया ?। क्या शेष रह गया है आज के इस भावुक हिन्दू मानव के कोश में ?। हाँ 'नामग्रह' अवश्य ही शेष है आज पर्य्यन्त भी। आज शेषभूत इसी नामग्रह के अनुग्रह से इसे पुनः इसके चिरन्तन इतिहास की ओर आकर्षित किया जा सकता है, किया जा सकेगा। एकमात्र इसी अनुबन्ध से सर्वथा निष्ठादृष्टि से हमनें प्रस्तुत निबन्ध का–**'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'** अभिधाकरण ही सामयिक माना है। जिस भावुकतादोष से भारतीय मानव 'हिन्दू' जैसी नैष्ठिक अभिधा से भी आज उद्वेग करने लग पड़ा, उसकी भावुकता के निराकरण के लिए, तत्स्थान में आत्ममूला निष्ठा के प्रतिष्ठापन के प्रधान उद्देश्य से उपनिबद्ध प्रस्तुत निबन्ध का इस अभिधा-करण के अतिरिक्त और क्या नामकरण हो सकता था ?

अब दो शब्दों में प्रस्तुत प्रथमखण्ड के दोनों स्तम्भों की स्वरूपदिशा में भी किञ्चिदिव निवेदन कर देना प्रासङ्गिक बन रहा है। स्तम्भद्वयात्मक प्रस्तुत प्रथमखण्ड में **'असदाख्यान-मीमांसा'** नामक प्रथम स्तम्भ के द्वारा आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के भारतीय भावुक हिन्दू मानव की भावुकता के उदाहरणों का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है। धर्म्मभीरु पाण्डुपुत्रों नें इसी भावुकता के कारण प्रकृतिसिद्ध निष्ठातन्त्र की उपेक्षा कर जिस उत्पीड़नपरम्परा का अनुगमन किया था, तन्माध्यम से ही आज के धर्म्मभीरु भावुक हिन्दूमानव को उद्बुद्ध कराने का प्रयास हुआ है। दूसरे **'विश्वस्वरूपमीमांसा'** नामक स्तम्भ में उस विश्व का तात्त्विक स्वरूप समन्वित करने की चेष्टा हुई है, जिस विश्व के गर्भ में आवास-निवास करने वाला मानव विश्व के प्राकृत स्वरूप से अपरिचित रहने के कारण ही प्रकृतिव्यामोहनमूला भावुकता का लक्ष्य बन जाया करता है।

प्राकृतिक विश्व प्रकृतिस्थता के द्वारा जहाँ मानव को निष्ठाबल प्रदान करता है, वहाँ यही प्राकृतिक विश्व प्रकृतिस्खलन के द्वारा मानव को सर्वथा उस सीमापर्य्यन्त भावुक बना देता है, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर मानव अपने आत्मपुरुषानुगत मौलिक स्वरूप को विस्मृत कर उसी प्रकार से विश्वप्रकृति का एक प्राकृतिक अङ्ग ही बना रह जाता है, जैसे कि मानवेतर केवल प्राकृतिक पशु-पक्षी-आदि आत्मपुरुषाभिव्यक्तित्व से शून्य रहते हुए स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने में सर्वथा असमर्थ बने रहते हैं। दूसरे शब्दों में विश्वानुगत-विश्वात्मक प्राकृतिक पदार्थों का प्रेमी जहाँ स्वयं इस प्राकृत व्यामोहन से व्यामुग्ध होकर स्वस्वरूप से विमुख बन जाता है, वहाँ विश्वप्रकृति की सर्गात्मिका व्याख्या के द्वारा प्राकृतिक पदार्थों में ईश्वरभावना व्यवस्थित मानने वाला विश्वप्रकृति का आराधक मानव प्राकृतिक पदार्थों की उपयोगिता से समन्वित हो जाता है, एवं प्रेमानुरागमूलक प्राकृतिक व्यामोहन से असंस्पृष्ट रहता हुआ स्वात्मस्वरूप से अभिव्यक्त बन कर स्वस्थ भी प्रमाणित होता रहता है। आचारमीमांसा से सर्वथा असंस्पृष्ट, केवल तत्त्वमीमांसावेशाविष्ट नूतन वेदान्तियों की आपातरमणीया कल्पना की भाँति विश्वेश्वर का स्थूलशरीररूप विश्व मिथ्या नहीं है, अपितु 'सत्यं शिवं सुन्दरं' ही विश्व की स्वरूपव्याख्या है। इत्थंभूत सत्यविश्व का सत्य सर्ग ही मानव की विश्वानुबन्धिनी प्रकृति को अभ्युदयशीला बनाने की क्षमता रखता है। सत्यस्य सत्येश्वरप्रजापति के सत्यात्मक विश्व की इसी सर्गव्याख्या-स्वरूपव्याख्या पर क्योंकि मानव की मानवतालक्षणा प्रकृति व्यवस्थित बनी रहती है। अतएव भावुक हिन्दू मानव की स्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हमें भावुकतास्वरूपविश्लेषक असदाख्यान, तथा विश्वस्वरूपविश्लेषिका विश्वस्वरूपमीमांसा, इन दो स्तम्भों का अनुगमन करना पड़ा है। शेषभूत तीनों खण्डों के स्तम्भों का स्वरूपदिग्दर्शन तत्खण्डों से हीं अनुप्राणित माना जायगा।

आर्षमानव-आर्य्यमानव-हिन्दूमानव-आदि विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध भारतीय मानव की भावुकता से इसकी मूलप्रतिष्ठात्मिका मूलसंस्कृति-सभ्यता-आदर्श-आचार-साहित्य आदि आदि सभी कुछ असंख्यसंख्यात मतवादों के आवरण से, आक्रान्ता आततायियों के आक्रमणों से आवृत-अभिभूत ही हो गये हैं, जिसके परिणामस्वरूप आज के नितान्त आस्तिक भी इस भारतीय हिन्दू मानव की व्यक्त जीवनपद्धति में 'स्वसत्त्व' रूप से प्रमाणित करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया है। अवश्य ही सनातनधर्म्म-आर्य्यधर्म्म-हिन्दूधर्म्म-वैष्णवधर्म्म-अन्यान्य परःशत सन्तधर्म्म-आदि विविध धर्म्मपरम्पराओं की उत्तालतरङ्गों में आज भी इस धर्म्मभीरु को प्रवाहित देखा-सुना जा रहा है। किन्तु वास्तविक तथ्य यही है कि, जिसे आज का हिन्दू मानवधर्म्म कहता है, वह तो तत्त्वतः वैसा सामयिक मतवाद है, जिसका शाश्वत सनातन-

निष्ठात्मक धर्म्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जिस मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) में ज्ञानविज्ञानसिद्ध सनातन निष्ठाधर्म्म की रहस्यव्याख्या हुई है, उस वेदशास्त्र के मौलिक अध्ययनाध्यापन से तो यह हिन्दू मानव शताब्दियों से ही विमुख हो गया है। यही नहीं, इसने भावुकतावश अपनी सामयिक आपातरमणीय मान्यताओं को भी (सामान्य धर्म्मभीरु मानवों की प्रतारणा के लिए) वेदशास्त्र से अनुप्राणित प्रमाणित करने की विफल चेष्टा की है। एवं अपनी सर्वथा काल्पनिक धारणाओं को भी वेदशास्त्रसिद्ध प्रमाणित करने का अक्षम्य अपराध करते हुए इसने धर्म्म के व्याज से प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष में आपणव्यवसाय* को ही प्रोत्साहित किया है। परिणाम इसकी इस वञ्चनात्मिका आपणव्यवसायप्रवृत्ति का यह हुआ है कि, धर्म्म-संस्कृति-साहित्य-आदर्श-आदि के प्रति सहजरूप से आस्था-श्रद्धा रखने वाले वर्ग की भी आस्था-श्रद्धा आज विचलित हो पड़ी है। फिर सामान्य वर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ कहना शेष ही नहीं रह जाता।

तदित्थं भारतीय हिन्दू मानव के इस सर्वस्वाभिभूतिकालात्मक आवरणकाल में यदि इसकी मूलसंस्कृति-मूलसभ्यता-मूलआदर्श-मूलआचार-तथा मौलिकसाहित्य के प्रति सर्वसामान्य की, विशेषतः स्वयं इसकी भी यदि उपेक्षा प्रक्रान्त हो पड़े, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है। और कोई आश्चर्य्य नहीं है, वर्त्तमान सत्तातन्त्र यदि एकमात्र इसी आज के मृदुलग्रीव भावुक हिन्दू मानव की उपेक्षा करना अपना परम पौरुष उद्घोषित कर रहा हो तो। सत्तातन्त्र से इस दिशा में इसलिए कुछ भी आवेदन करना कोई अर्थ नहीं रखता कि, उसने 'हिन्दू' नाम को ही दुर्भाग्यवश एक साम्प्रदायिक नाम मान लिया है, जबकि यह निरीह सम्प्रदायवाद जैसी विभीषिका से स्वयं ही शताब्दियों से उत्पीड़ित है। आवश्यकता तो आज इस बात की थी कि, इसके विशुद्ध सांस्कृतिक स्वरूपपरीक्षण को सत्तातन्त्र अपनी योजनाओं में स्थान प्रदान करने का अनुग्रह करता। एवं तदनन्तर ही इसके सम्बन्ध में अपनी यथेच्छ धारणा निर्द्धारित करता। किन्तु······। इस किन्तु-परन्तु······का उत्तर कालपुरुष के अतिरिक्त और कौन दे सकता है ?

केवल भावुक हिन्दू मानव के लिए ही सम्भवतः आविष्कृत, अतएव सम्भवतः केवल इसी के लिए संविधान की **'धर्म्मनिरपेक्ष'** घोषणा का अनुगमन करने वाले सत्तातन्त्र की दृष्टि में आज का हिन्दू ही उपेक्षित है, उस की संस्कृति-सभ्यता-मौलिक साहित्य ही उपेक्षित है, जबकि वही धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र हिन्दूमानव के अतिरिक्त अन्यान्य बुद्धादि सभी मतवादों के लिए, उनके धार्म्मिक महान् समारम्भों के लिए मुक्तहस्त ही बन रहा है। सुस्वागत ही करेगा सर्वभूत-

* दूकानदारी।

हितरत हिन्दूमानव अपनें सत्तातन्त्र की इस उदारता का। अवश्य ही सभी को प्रश्रय प्राप्त होता रहना ही चाहिए सत्तातन्त्र की अभया वरदा छत्रच्छाया में। प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि, क्या हिन्दुस्तान में अपना अमुक अतिशय अनुभव करने वाले हिन्दू ही इस छत्रच्छाया के लिए उपेक्षणीय हैं ? ऐसा क्यों ?, और कैसे घटित-विघटित हो रहा है ?, प्रश्न की विशद मीमांसा निबन्ध के तृतीयखण्ड में- 'श्वेतक्रान्ति का महान् संदेश' नामक परिच्छेद में होने वाली है। अभी तो आलप्यालं पर ही इस उद्वेगकर प्रश्न को उपरत किया जा रहा है।

सत्तातन्त्र उदासीन है, उदासीन ही रहेगा तबतक, जबतक कि वह स्वयं इस भारतदेश की मूलनिष्ठा के मौलिकस्वरूप को अन्तर्य्यामसम्बन्ध से स्वप्रज्ञा में प्रतिष्ठित नहीं कर लेगा। मानते हैं, अभी कुछ एक बाह्य समस्याएँ हीं ऐसी हैं, जिनका समन्वय सत्तातन्त्र के लिए प्रथम अपेक्षित है। प्रक्रान्त भौतिक झञ्झावातों से जब भी सत्तातन्त्र उन्मना बन जायगा, अवश्य ही इसका उस उपरतिदशा में इस ओर भी ध्यान जायगा ही, और उस स्थिति में इसे अवश्य ही यह अनुभव कर ही लेना पड़ेगा कि, "सचमुच हिन्दूमानव की मूलसंस्कृति ही एकमात्र वैसी संस्कृति है, जिसकी प्रथम प्राणप्रतिष्ठा के द्वारा ही **'यथा वः सुसहासति'** (ऋग्वेद) लक्षण सहास्तित्त्वसिद्धान्त, तथा तन्मूलक विश्वमानवबन्धुत्त्व प्रतिष्ठित हो सकता है"। तथाभूत नैष्ठिकयुग के शीघ्र से शीघ्र आनयन के लिए ही राष्ट्रप्रज्ञा के सम्मुख सर्वथा प्रणतभाव से उद्बोधनात्मक यह सामयिक निबन्ध प्रस्तुत हो रहा है।

अलमतिपल्लवितेन। महत्सौभाग्य से प्राप्त सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता के आज के 'विचार-स्वातन्त्र्य' जैसे उन्मुक्त युग में अपनी राष्ट्रीय प्रज्ञा से प्रत्येक विषय का स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने वाले राष्ट्रीय मानवों से अन्त में हम यही नम्र आवेदन करेंगे कि, दोषान्वेषणदृष्टि से ही सही, एक बार वे अपनी मूलसंस्कृति के विशुद्ध मौलिक स्वरूप पर भी दृक्पात का अनुग्रह तो करें। तदनन्तर ही इस दिशा में अपना उदार निर्णय व्यक्त करने का निःसीम अनुग्रह होगा, जो यह भारतराष्ट्र का महत्सौभाग्य ही माना जायगा। भूगर्भ में निमज्जिता सूर्य्यकान्तमणि जूस्तरों के पारम्परिक वेष्टनों से यदि अपने बाह्य दृश्यरूप से मलिन भी बन गई है, तब भी उसका सूर्य्य-कान्तमणित्त्व तो अक्षुण्ण ही माना जायगा, जबकि विविध बाह्य चाकचिक्यों से दृष्टिमात्र से कान्तिमान् प्रतीत भी काच काच ही माना गया है। **'काचः काचः, मणिर्मणिः'** इस व्यवच्छेद-दृष्टि से अवश्य ही राष्ट्रीय मानवों को अपने राष्ट्र की मूलनिधि के उस परीक्षण में प्रवृत्त होना ही चाहिए, जिस एतद्देशानुगता वाङ्मयी निधि के परीक्षण में प्रत्यन्तदेश के असंख्यात मानव-श्रेष्ठ आज भी अहोरात्र जागरूक बने हुए हैं, जिन के स्तुत्य प्रयास के फलस्वरूप ही इस भाग्य-

हीन आज के भावुक हिन्दू मानव को भी यदा-कदा अपनी मूलनिधि के पत्रों के दर्शन का महत् सौभाग्य उपलब्ध हो जाता है, जिस मूलनिधि का आविर्भाव कभी इसी के पुरातन पुरुषों से हुआ था।

सुख-शान्ति-समृद्धि-तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि की कारणभूता सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों की विद्यमानता भी मानव की प्रकृतिव्यामोहनमूला परदर्शनात्मिका पराकर्षणप्रवर्त्तिका भावुकता के निग्रहानुग्रह से सुखादि के स्थान में दुःख-अशान्ति-दारिद्र्य-क्षोभ-उपरति-ह्रास का ही कारण प्रमाणित होती रहती है। सम-विषम-विविध प्राकृतिक वैकारिक स्थिति-परिस्थितियों के निग्रहानुग्रह से गन्धर्वनगरवत् सहसा आविर्भूत हो पड़ जाने वाली सर्वनाशकारिणी 'भावुकता' पलायित हो, एवं सुख-शान्ति-समृद्ध्यादि की अन्यतम कारणभूता कालातिक्रम से विविधि आवरणों से आवृता सुषुप्ता आत्ममूला निष्ठा जाग्रत हो, यही निबन्ध का एकमात्र उदर्क है। निबन्ध सर्वथा लोकानुबन्धी है, किन्तु निबन्ध की भाषा इसलिए निष्ठाभावानुगता ही है कि, दैववश (दैवानुग्रह से) वर्त्तमान युग की लोक-प्रान्त-भाषापरम्पराओं के बोध की कथा तो विदूर रही, 'संस्पर्श' की भी इस भावुक के साथ कल्पना भी नहीं की जा सकती।

बुद्धि की 'धी' रूपा रश्मियों से सम्बन्ध रखने वाले विश्वास से समन्विता, एवं सहजरूपेणैव संसिद्ध आत्मनिष्ठा से संगृहीता मानसी श्रद्धा के आधार पर उपनिबद्ध प्रस्तुत सामयिक निबन्ध के सम्बन्ध में इस भावुक भारतीय की यह अनन्य आस्था है कि, यदि वर्त्तमान भावुक मानव अनुग्रह कर एक बार भी आद्योपान्त खण्डचतुष्टयात्मक इस निबन्ध को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कर लेंगे, तो निश्चयेन अवश्यमेव उनकी परप्रत्ययनेयमूला भावुकता उस निष्ठागुण से सर्वात्मना अभिभूत हो जायगी, जिस निष्ठा के बिना मानव आज प्रत्येक क्षेत्र में अपने आपको पराजितवत्-असमर्थवत्-शून्यवत्-अशक्तवत्-भ्रान्तवत्-क्लान्तवत्-क्षुब्धवत्-अशान्तवत्- उद्विग्नवत् दरिद्रवत्-हीनप्रज्ञवत्-अनुभूत करता रहता है।

'आस्था' इस भावुक की अपनी है। एवं इस आस्था को अभिव्यक्त करने वाली 'निष्ठा' एकान्तनिष्ठ परिव्राजकाचार्य्य परमश्रद्धेय सहज मानवश्रेष्ठ उन स्वामिप्रवर श्रीश्रीब्रह्मानन्द-महाराज का ही ब्रह्मोदनभाग है, जिसके प्रवर्ग्यांश से ही यह नितान्त भावुक भी जन इस सामयिक निबन्ध को भावुकतापूर्णा भाषा, भाषानुगता नितान्तभावुकतापूर्णा लिपि के माध्यम से बहिर्जगत की वस्तु बनाने जा रहा है। 'निष्ठा' की सगुणमूर्त्ति श्रद्धेय स्वामीजी महाराज जिस वसुन्धरा को अपने पावन संस्पर्श से धन्य बना रहे हैं, वह भारतवसुन्धरा वास्तव में अन्य भूभागों के सम-

तुलन में सर्वमूर्द्धन्या ही मानी जायगी। तन्निष्ठ-तत्परायण स्वामिमहाभाग ही इस तत्प्रसादरूप निबन्ध के अनन्याधार हैं। अतएव 'तुभ्यमेव समर्पये' इस आर्षपरम्परा के माध्यम से इसी अर्पणभावना के साथ यह 'किमपि प्रास्ताविकम्' उपरत हो रहा है। एवं उपरति के इसी माङ्गलिकसंस्मरण को हृत्प्रतिष्ठ करते हुए इस परिच्छेद के साथ निबन्ध का प्रथमखण्ड इस प्रकार उपक्रान्त हो रहा है कि—

'एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न, और उसके समाधान का प्रयत्न'

मानवाश्रम-विद्यापीठ
दुर्गापुरा (जयपुर)
चैत्रकृष्णप्रतिपत् वि० २०१२
भौमवासर

इति निवेदयति–**मोतीलालशर्म्मा, वेदवीथीपथिकः**
भारद्वाजोपाह्वः
जयपत्तनाभिजनः



श्रीः

स्तम्भद्वयात्मक-प्रथमखण्ड की संक्षिप्त-विषयसूची एवं तालिका-परिलेखसूची

भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता

(उद्बोधनात्मक—सामयिक निबन्ध)

तदन्तर्गत—

प्रथमखण्ड की—संक्षिप्त—विषयसूची

तस्मिन्नेतस्मिन् प्रथमखण्डे द्वौ स्तम्भौ निरूपितौ द्रष्टव्यौ—

—※※—

श्री:

'भारतीयहिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'-

निबन्धोपक्रमाधारभूता—प्रथमखण्डान्तर्गता

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

(१)—प्रथमस्तम्भात्मिकायां—'असदाख्यानस्वरूपमीमांसायां'—एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः

[१ पृष्ठतः १३४ पृष्ठपर्य्यन्त]

विषयसूची

उपरता चेयं निबन्धोपक्रमाधारभूता–प्रथमखण्डान्तर्गता

प्रथमस्तम्भात्मिका

असदाख्यानस्वरूपमीमांसा

—१—

'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'-
निबन्धानुगता–प्रथमखण्डान्तर्गता द्वितीयस्तम्भात्मिका
विश्वस्वरूपमीमांसा

* २३५ संख्या भूल से दो बार समाविष्ट हो गई है ।

उपरता चेयं स्तम्भद्वयात्मकस्य प्रथमखण्डस्य संक्षिप्तविषयसूची

श्रीः

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गत स्तम्भद्वयात्मक-प्रथमखण्ड की

तालिका-परिलेखसूची

उपरता चेयं तालिका-परिलेखसूची

स्तम्भद्वयात्मकस्य प्रथमखण्डस्य

१

श्री:

'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गता–

'असदाख्यानमीमांसा'

प्रथमखण्डान्तर्गता

(पौराणिक आख्यान की ऐतिहासिक मीमांसा)

नामक

प्रथमस्तम्भ

१

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

भारतीय हिन्दू–मानव, और उसकी भावुकता

(उद्‌बोधनात्मक–सामयिक निबन्ध)

मांगलिकसंस्मरण

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
—ऋक्संहिता १०।११२।६।

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्संहिता ६।४।२६।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८ ५।

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देव 'मात्मबुद्धिप्रकाशं' मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत ६।१८।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेय आरण्यक

एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न, और उसके समाधान का प्रयत्न

महामायी परात्पर परमेश्वर के सहस्रवल्शात्मक महाविश्व के योगमायावच्छिन्न पार्थिव विश्व में निवास करने वाला मानव अपने मौलिक स्वरूप से जबकि सर्वात्मना परिपूर्ण है, आप्तकाम है, आत्मकाम है, अतएव निष्काम है, तो इसके लिए "दुःख–अशान्ति–शोक–मोह–भय–परिताप–अपूर्णता–अभाव–असफलता"–आदि भावों का आविर्भाव कैसे, और क्यों, किस के द्वारा हो पड़ा !, अवश्य ही यह एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न माना जायगा, जिसके समाधान के लिए मानवीय मस्तिष्क चिरन्तन काल से ही प्रयत्नशील बना रहा है। क्या मानव ने तथाकथित प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लिया !, यह एक सामयिक प्रश्न है, जिसे लक्ष्यबिन्दु मान कर ही हमें मानव की इन समस्यापरम्पराओं के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा का अनुगमन करना है।

विश्वमानव की समस्याओं के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा से सम्बन्धित व्यापक दृष्टिबिन्दु के साथ साथ हमें उस भारतीय मानव की समस्याओं को भी लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिस भारतीय मानव का ऐसा महान् उद्घोष कर्णाकर्णिपरम्परया श्रुत उपश्रुत है कि, उसी ने सर्वप्रथम इस प्रश्न के तात्त्विक समाधान का सफल प्रयत्न किया है। "विश्वेश्वर के प्राकृतिक विश्व का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण करने वाला निगमशास्त्र, तदनुगामी आगमशास्त्र, तद्व्याख्यारूप इतिहास–पुराणशास्त्र, तदाम्नायसंरक्षक दर्शनशास्त्र, आदि आदि रूपेण भारतीय शास्त्रपरम्परा ने मानव की उन सम्पूर्ण समस्याओं का सफल समाधान कर दिया है, जिसके द्वारा भारतीय मानव अपनी प्राकृतिक परिपूर्णता को सर्वात्मना अन्वर्थ बना सकता है" इस मान्यता के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक प्रश्न अगत्या समुपस्थित हो ही जाता है कि, क्या भारतीय मानव ने अपनी लोकोत्तर शास्त्रपरम्परा से अपनी प्राकृतिक परिपूर्णता को अन्वर्थ बना लिया है !। मानसिक सन्तुष्टि विभिन्न दृष्टिकोण है, एवं बुद्ध्यनुगता आत्मतृप्ति अन्य दृष्टिकोण है। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी प्रतीत होती हो रही है कि, विगत द्विसहस्राब्दियों का इतिहास तो इस दिशा में भारतीय मानव को सर्वात्मना असफल ही प्रमाणित कर रहा है। इस प्रत्यक्षानुभूता प्रतीति के जागरूक बने रहते हुए उस महान् उद्घोष का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जिसे शास्त्रभक्त भारतीय मानव सगर्व लक्ष्य बनाए हुए है। शास्त्रभक्ति की आलोचना हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' लक्षण लक्ष्यबिन्दु। शास्त्रों की विद्यमानता में भी भारतीय मानव कैसे सब दिशाओं में पराभूत बन गया !, प्रश्न की मीमांसा में समय यापन करते रहना सर्वथा असामयिक, एवं व्यर्थ ही माना जायगा। निदान अन्वेष्टव्य है उस रोग का, जिसने 'शास्त्र' जैसी अमोघ दिव्यौषधि के विद्यमान रहते भी भारतीय मानव को आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः अस्वस्थ–क्लान्त–अशान्त–भ्रान्त बना रक्खा है। इसी 'अन्वेषण' लक्ष्य की साधना के सम्बन्ध में मानवसमस्याचिन्तकों की उदार सम्मति की निग्रहानुग्रहभावजिज्ञासाभिव्यक्ति के उद्देश्य से यह सामयिक निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है। हमारी ऐसी धारणा है कि, प्रस्तुत सामयिक निबन्ध के आद्योपान्त निरीक्षण के द्वारा मानव चिरन्तनप्रश्नसमाधि के साथ साथ युगधर्मानुगत अन्यान्य सभी आपातरमणीय समस्याओं के निदान में सफल बन सकेगा। इसी माङ्गलिक भावना के माध्यम से ऐतिहासिकसन्दर्भरूप 'असदाख्यान' उपक्रान्त है।

१–भावुकतास्वरूपसंग्राहक–'असदाख्यानो'पक्रम—

कालदोष, संस्कारदोष, शिक्षादोष, वेदानभ्यासदोष, आलस्यदोष, आचारपरित्यागदोष, अन्नदोष, सङ्गदोष, परप्रत्ययनेयतादोष, आदि आदि दोषपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से परिपूर्ण–नितान्त नैष्ठिक भी मानव किस प्रकार आत्मसहकृता बुद्धिलक्षणा सन्निष्ठा से पराङ्मुख बनता हुआ शरीरसहकृता मनोऽनुभूति-लक्षणा भावुकता से आक्रान्त होकर अपनी प्रकृतिसिद्ध सहज परिपूर्णता से अपने आपको अभिभूत कर लेता है !, प्रश्नमीमांसा वर्त्तमानयुग के युगधर्म्मानुगत, सर्वात्मना परप्रत्ययनेयबुद्धि, अतएव ऐकान्तिक भावुक भारतीय हिन्दू मानव के लिए कोई विशेष महत्त्व इसलिए नहीं रख रही कि, यह स्वयं ही इस मीमांसा का सर्जक बना हुआ है। क्या वर्त्तमानयुगीय भारतीय मानव ही इस भावुकतापूर्ण मीमांसा का सर्जक है !, प्रश्नमीमांसा का सम्बन्ध अवश्य ही पूर्वयुगानुगत उस भावुक मानव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जो पूर्वयुगभुक्त पुरातन भावुक मानवश्रेष्ठ प्रस्तुत 'असदाख्यान' का उपक्रम बन रहा है।

भारतीय चतुर्युगानुबन्धिनी कालगणना के अनुपात से सप्तम वैवस्वत * मन्वन्तर की २२ वीं चतुर्य्युगी के अन्तिम कलियुग के भुक्त आनुमानिक ५ सहस्रपूर्व के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में, उस महाभारतयुग में–जो युग भारतीय निगमागमसाहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आम्नायपरम्परा, धर्म्म, आदर्श, आचार, लोक-नीति, राजनीति, परिवारनीति, व्यक्तिनीति आदि के लिए एक निःसीम निरतिशय संक्रमणात्मक–संघर्षात्मक–द्वन्द्वात्मक युग प्रमाणित हो रहा था, उस पूर्वयुग में--जहाँ मानवता और दानवता में प्राकृतिक देवासुरसंग्रामवत् प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त थी, उस पूर्वयुग में--जहाँ सत्त्व और तम (मध्यस्थ रजोगुण के समसमन्वयाभाव से), दोनों चरम उत्कर्षानुगामी बने हुए थे, उस पूर्वयुग में--जहाँ आत्मानुप्राणित धर्म्म, एवं शरीरानुगत कर्म्म, दोनों (मध्यस्था बुद्धि, तथा मध्यस्थ मन के सन्तुलन के अभाव से) सर्वथा विभक्त बने रहते हुए उन्मर्य्यादित होकर अधर्म्म एवं अकर्म्म के ही उत्तेजक बन रहे थे, उस पूर्वयुग में--जहाँ भारतवैभव चरमसीमानुगामी बनता हुआ भी मानवतृष्णा की तुष्टि के लिए सन्तोषकर प्रमाणित नहीं हो रहा था, उस पूर्वयुग में--जहाँ मानव का आत्मबुद्ध्यनुगत निष्ठाबल मनःशरीरानुगता भावुकता से आक्रान्त होकर मूर्च्छित बन रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ सहज भावुकता का दर्प दलन कर आसुर निष्ठाबल भावुक मानव समाज को लक्ष्यच्युत बना रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ आस्थायुक्ता श्रद्धोपेता पूर्ण आस्तिकता के साथ साथ आस्थाश्रद्धावञ्चिता नास्तिकता भी प्रबलवेग से अपना प्रभाव व्यक्त कर रही थी, तदित्थं विविध द्वन्द्वपरम्पराक्रान्त, तथोपवर्णित, नितान्त संघर्षात्मक महाभारतकालीन तथाविध

---

* मन्वन्तरानुगता इस कालगणना का विशद वैज्ञानिक विवेचन खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञानग्रन्थ के **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** नामक प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है।

पूर्वयुग से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्त्वपूर्ण 'असदाख्यान'× एक विशेष उद्देश्य से आज हम 'विश्व-मानव' के सम्मुख, तत्रापि 'भारतीय हिन्दू मानव' के सम्मुख, एवं निष्कर्षतः–**'भारतीय भावुक हिन्दू मानव'** के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं, जो 'असदाख्यान' अपने सहज उपलालनभाव से कल्पनाप्रधान बनता हुआ भी **'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'** इस सिद्धान्तानुसार ÷ आख्यानव्याज से मानव के सम्मुख लक्षीभूत 'सत्य' स्थिति ही अभिव्यक्त किया करता है।

२–असदाख्यान के लक्षीभूत पूर्वमानव—

प्रतिपाद्य संकल्पित असदाख्यान उस महाभारतकाल से सम्बन्धित है, जिसके प्रधान लक्ष्य बन रहे हैं दुर्य्योधनप्रमुख **कौरव,** एवं युधिष्ठिरप्रमुख **पाण्डव।** प्रज्ञाचक्षुष्क **धृतराष्ट्र** के लोकैषणासक्त दुर्य्योधनप्रमुख **धार्त्तराष्ट्र,** एवं सहज भावुक अतएव पाण्डुवर्ण नृपति के लोककामना से भी पराङ्मुख युधिष्ठिर-प्रमुख **पाण्डव,** दोनों हीं पूर्वपरिच्छेदोंपवर्णित प्रतिद्वन्द्विता के अनुगामी बने रहते हुए सर्वथा विभिन्न विरुद्धदिग्द्वयानुगत दो लक्ष्यों पर आरूढ़ हो चले थे। **कर्म्मभीरू** दुर्य्योधन का पथ विभिन्न था, एवं धर्म्मभीरू युधिष्ठिर का मार्ग स्वतन्त्र था। दूसरे शब्दों में लोकवैभव से आकर्षितमना बनते हुए दुर्य्योधन जहाँ केवल 'कुरु' (इदं कुरु) लक्षण **कर्म्मक्षेत्र** के अनुगामी थे, वहाँ पारलौकिक आत्म-शान्तिमात्र से ही अपने आपको कृतकृत्य अनुभूत करने वाले धर्म्मराज युधिष्ठिर केवल **धर्म्मक्षेत्र** के पथिक बने हुए थे। दुर्य्योधन जहाँ **भूतलिप्सा** के अर्जन में आसक्तव्यासक्त थे, वहाँ युधिष्ठिर **आत्म-सत्यसंरक्षण** में हीं पूर्णरूपेण तल्लीन थे। इस प्रकार तद्गुणानुगता राज्यसत्ता, किंवा राजसत्ता इन दो विभिन्नधर्म्मा शासकों के नियन्त्रण से नियन्त्रित बनी रहती हुई तद्गुणानुगता भारतीय प्रजा भी सर्वथा विभिन्न दो लक्ष्यों की सर्जिका प्रमाणित हो रही थी, एवं **'राजा कालस्य कारणम्'** यह ऐतिहासिक तथ्य अक्षरशः अन्वर्थ बन रहा था।

स्वाभाविक ही था प्रतिद्वन्द्वितात्मिका तथाविधा स्थिति में **'बल'** (भूतबल) के द्वारा **'सत्य'** (आत्मसत्य) का तात्कालिक अभिभव, किंवा प्रत्यक्षदृष्ट्या पराभव। **'बलं सत्यादोजीयः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार बल सत्य की अपेक्षा आरम्भ में अवश्य ही अपने सहज आक्रमणभाव से ओजस्वी बना रहता है। अतएव इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में कुछ समय के लिए बल ही प्रमुख बन जाया करता है। एक भूतशाली (भौतिक वित्त परिग्रहशाली, एवं भौतिक शारीरिक बलशाली धनमदान्ध

× पुराण में उपवर्णित सुप्रसिद्ध आठ प्रकार के आख्यानों में उपलालनभावात्मक एक विशेष आख्यान ही 'असदाख्यान' कहलाया है, जिन आठों का तात्त्विक विवेचन **'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यानप्रकरण'** में (तृतीयवर्ष में) द्रष्टव्य है।

÷ **उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।**
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
—भगवान् भर्तृहरिः

धनिक, एवं शरीरबलमदान्ध मल्ल) दुष्टबुद्धि आततायी आसुर मानव के भौतिक प्रहार के सम्मुख सहसा एकबार तो सत्यनिष्ठ–सत्यवादी को अवनतशिरस्क ही बन जाना पड़ता है। **'अकारणाविष्कृतवैरिदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते'** आभाणक प्रसिद्ध ही है।

३–लक्षीभूत पूर्व मानवों का प्रारम्भिक उदर्क (परिणाम)—

प्रारम्भिक उदर्क (परिणाम) वही घटित हुआ, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के साम्राज्य में घटित होता रहता है। बलासक्त बलातिमानी दुर्य्योधन की प्रतिद्वन्द्विता में सत्यासक्त आत्माभिमामी युधिष्ठिर को स्वभ्रातृवर्गसहित न्यायसिद्ध लोकवैभव–राज्यसत्ता से वञ्चित हो जाना पड़ा। बलशाली दुर्य्योधन बन बैठे साम्राज्यभोक्ता, एवं सत्यासक्त धर्म्मभीरू युधिष्ठिर बना दिए गए 'शून्यं–शून्यम्'। कैसी विषमावस्था थी !, कैसा प्राकृतिक वैषम्य था !। वैषम्य इसलिए कि, निगमागमशास्त्र–ऋषिनिष्ठापरम्परा- लोकमान्यता-परम्परा–सबकी धारणा, निश्चित आस्था के अनुसार **'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः'** इस दार्शनिक सिद्धान्तानुसार सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य * ही ऐहलौकिक 'अभ्युदय' नामक **'समृद्धानन्द'** (लोकसमृद्धि लौकवैभव–लोकसुख) का, तथा पारलौकिक 'निःश्रेयस् नामक **'शान्तानन्द'** (पारलौकिक ऋद्धि–शान्ति) का, दोनों का अनन्याधार–प्रवर्त्तक–संरक्षक–संवर्द्धक माना गया है। किन्तु स्थिति घटित–विघटित हुई धारणा के सर्वथा विपरीत। बलनिष्ठ कौरवों के सम्मुख सत्यनिष्ठ पाण्डवों की कैसी दशा दुर्दशा भुक्त–प्रक्रान्त रही !, प्रश्न की मार्म्मिक व्यञ्जना से भी धर्म्मनिष्ठ आस्तिक सुपरिचित हैं। क्या यही है धर्म्मनिष्ठानुगति का परिणाम !, निरतिशय दुःखात्मक उदर्क !।

४–असदाख्यान के प्रति अभिनिविष्टों का अभिनिवेश—

'वेदभक्ति' व्याज से वेदमर्म्मसंहारक अमुक अभिनिविष्ट वर्ग पौराणिक 'असदाख्यान' की प्रामाणिकता के भी प्रति अन्यान्य सनातन सिद्धान्तों की भाँति भावुकप्रजा के व्यामोहन का कारण बन सकता है। एक अन्य वर्ग ओर भी है, जिसे हम 'विज्ञानवादी' वर्ग कहेंगे। दोनों हीं वर्ग भारतीय सनातन मान्यताओं के प्रति सर्वात्मना अभिनिविष्ट बने हुए हैं। वेदभक्त अभिनिविष्ट वर्ग के निरर्थक शून्य तर्क-वादाभास का महत्त्व तो आस्तिक प्रजा को विदित हो चुका है। अतः तत्सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है। वक्तव्य है उस द्वितीय वर्ग के अभिनिवेश के सम्बन्ध में, जिसने क्षणिक भौतिक विज्ञानवाद की आपातरमणीयता से आज आस्तिक मानव को सर्वथा आत्मविस्मृत कर दिया है। प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा प्रमाणित, अतएव तात्कालिकरूपेण प्रभावोत्पादक, अतएव सहसा मानवीय श्रद्धा–विश्वास को दृढ़ बनाने में समर्थ वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की दृष्टि से ही प्रत्येक विषय की मीमांसा के लिए आतुर विज्ञानवादी मानव की दृष्टि में, तथा तदनुगामी गतानुगतिक नवशिक्षासुसंस्कृत भारतीय मानव की दृष्टि

---

* यो वै धर्म्मः--सत्यं वै। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः--'धर्म्मं वदति' इति। धर्म्मं वा वदन्तं 'सत्यं वदति' इति। (शत० १४।४।२।६।)

में पुराणेतिहास का विशेष महत्त्व इसलिए नहीं है कि, पुराणप्रतिपादित आख्यानों का वह अपनी प्रयोगशालाओं (Laboratries). में हाईड्रोजन (Hydrogen), ऑक्सिजन (Oxygen), कार्बन (Carbon) नाइट्रोजन, (Nytrogen) आदि तत्त्वों की भाँति यन्त्रमाध्यम से विशकलन (Analyse) पूर्वक परीक्षण नहीं कर सकता। बिना इस भौतिक–वैज्ञानिक–परीक्षण के उस वैज्ञानिक, तथा तदनुवर्त्मा नवशिक्षित भारतीय की दृष्टि में सम्पूर्ण भारतीय आम्नाय नहीं, तो न्यूनतम दन्तकथात्मक पुराण तो अवश्य ही अप्रामाणिक, अतएव मानव के सहज विकास का अवरोधक नितान्त व्यर्थ का अकाण्डताण्डवमात्र ही है। बड़े बड़े शिक्षाधुरीणों के श्रीमुख से ऐसी वैखरी वाणी विनिर्गत हुई है कि– **'पुराण ? अरे पुराण तो माइथालॉजी (Mythology) है'।** तात्पर्य्य इस वाणी का यही कि, "पुराण के विषय, उसके आख्यानोपाख्यान, गाथाएँ, इतिहास, सब कुछ काल्पनिक हैं, अतएव पुराण तो सर्वथा उपेक्षणीय है"। जबकि भारतीय इतिहास पुराण ग्रन्थ हीं अवैज्ञानिक, अतएव अप्रामाणिक हैं, तो तदनुबन्धी 'असदाख्यान' के माध्यम से मानव की किसी महती समस्या के समाधान की चेष्टा करना क्या अप्रामाणिक नहीं माना जायगा ?, ओमित्येतत्।

पुराणेतिहासज्ञानलव से भी असंस्पृष्ट विज्ञानवादियों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, 'असदाख्यान' तो पुराण का आठ प्रकार के आख्यानों में से केवल अन्तिम, सो भी बालानामुपलालनात्मक एक विभाग है। शेष सात दैविक–भौतिक–आत्मिकादि आख्यानों की वैज्ञानिकता का जिस दिन उन विज्ञानवादियों को आभास भी हो जायगा, तत्क्षण वे अपने सर्वस्वघातक क्षणिक विज्ञान का अहिः–कञ्चुकिवत् परित्याग करते हुए प्रणतभाव से पुराणेतिहास के क्रोड़ का आश्रय ग्रहण कर लेंगे। अस्तु, यह कथा विषयान्तर से सम्बन्ध रखती है। अभी मान लेते हैं हम विज्ञानवादियों का अभिनिवेशात्मक अभियोग। इस सम्बन्ध में हम उनके सम्मुख केवल एक यही प्रतिप्रश्न उपस्थित करेंगे कि, क्या शिक्षापद्धति में उनके यहाँ 'माइथालॉजी' का कोई महत्त्व नहीं है ?। अवश्य ही अमुक सामान्यवर्ग के प्रारम्भिक उद्बोधन के लिए वहाँ की शिक्षापद्धति में भी असद्ज्ञानसरणी समाविष्ट है। खगोलीय–भूगोलीय वृत्तों के बोध कराने के लिए पार्थिव मृण्मयादि गोलकों को ही तो शिक्षक इसे अपने हाथ से परिभ्रममाण रखते हुए–यह उत्तर ध्रुव है, यह दक्षिण ध्रुव है, यह इक्वेटर है, यह केन्सर है, इत्यादि उपलालनात्मिका माइथालॉजी को ही तो माध्यम बनाते रहते हैं। इसी आधार पर तो भारतीय उपासनाकाण्ड में उपासक की लक्ष्यसिद्धि के लिए प्रतिमा को माध्यम माना गया है *। 'माइथा' शब्द 'मिथ्या' भाव संग्राहक, 'लॉजी' शब्द 'ज्ञान' भाव का संग्राहक। फलतः 'माइथालॉजी' का भावार्थ हुआ 'मिथ्या-ज्ञान'। यही तो तात्पर्य्य 'असदाख्यान' शब्द का है। एवं आरम्भदिशानुगत उपलालनभाव की अपेक्षा

*** अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।**
उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

पौराणिक यह आख्यान भी सर्वात्मना मान्य है, जिसका मूल भी निगमशास्त्र ही बना हुआ है। ऐसी स्थिति में उन वैज्ञानिकों के अभिनिवेश का समादर नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए।

५–'सदाख्यानोपक्रम माध्यम से अभिनिवेशतुष्टि का प्रयास—

दुराग्रहात्मक अभिनिवेश को स्वीकृत करते हुए हम अभ्युपगमवाद से तुष्यद्‌दुर्जनन्यायेन विज्ञानवादी के मनोभावों का समादर कर लेते हैं, एवं नैगमिक **'सदाख्यान'** के माध्यम से ही पूर्वस्थिति की प्रामाणिकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हैं। हमारी ऐसी धारणा है कि, परदेशीय वैज्ञानिक, एवं तदुच्छिष्टभोगी भारतीय वैज्ञानिक, दोनों हीं निगमशास्त्र को अप्रामाणिक घोषित करते हुए संकुचित हो पड़ते हैं। अवश्य ही मानना पड़ेगा कि, किसी न किसी रूप से निगम की ओर उनका सहज आकर्षण है। महाभारत युग से शत-सहस्र युग-परम्पराओं से कहीं पूर्व के 'देवयुगात्मक' 'यज्ञयुग' (वैदिकयुग) में एक बार इसी दृष्टिकोण के माध्यम से धर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में महाभारतयुगवत् ही संघर्ष उत्पन्न हो गया था, जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। वही सदाख्यान यहाँ संक्षेप से प्रस्तुत किया जा रहा है।

६–निष्ठास्वरूपप्रवर्त्तक वैदिक 'सदाख्यान' की रूपरेखा—

"स ये हाग्रऽईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयांस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयांस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–'ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति (वदन्तः)। तत इतो देवान् हविर्न जगाम। इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति।

ते ह देवा ऊचुः–बृहस्पतिमाङ्गिरसं–'अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्, तेभ्यो विधेहि यज्ञम्' इति। स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–कथं न यजध्व–इति। ते होचुः–'किं काम्या यजेमहि। ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति।

स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–यद्वै शुश्रुमः–'देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति–यञ्छ्रुतानि हवींषि, क्लृप्ता वेदिः। तेनावमर्शमचारिष्ट। तस्मात्पापीयांसोऽभूत्।

तेनावमर्शं यजध्वम्। तथा श्रेयांसो भविष्यथ–इति। आ कियत इति ?। आ बर्हिषस्तरणात्–इति। बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत, बर्हिरेवस्तृणन्नपास्येत्। अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति, अपि पदाभितिष्ठन्ति। स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते, श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत" इति।

—शतपथब्राह्मण १।२।३।२४,२५,२६ कं०।

"उस पूर्वयुग में (तात्त्विक रहस्य को न जानने के कारण) भारतीय मानवोंनें जो यज्ञानुष्ठान किया, उस अनुष्ठानकर्म्म में उन्होंनें अवमर्शपूर्वक--वेदिस्पर्शपूर्वक (वेदिका स्पर्श करते हुए) यज्ञपद्धति का अनुगमन किया। परिणाम यह हुआ इस वेदिस्पर्श का कि, इष्टफलभोग के स्थान में वे यज्ञकर्त्ता मानव अनिष्ट--पतन--प्रत्यवाय के भागी बन गए। ठीक इसके विपरीत उस युग में भी जो अश्रद्धान--नास्तिक--आसुरभावापन्न भारतीय मानव यज्ञ में श्रद्धा नहीं रखते थे, यज्ञ नहीं करते थे, वे (अपनी भौतिक लौकिक कर्म्म परम्परा के अनुगमन से--लोककर्म्मानुष्ठान से लोकदृष्ट्या) सुखोपभोक्ता बने हुए थे। इस वैषम्य के आधार पर श्रद्धाशील यज्ञकर्त्ता आस्तिक मानव के मानसक्षेत्र में सहसा इस प्रकार की अश्रद्धा उत्पन्न हो गई कि, अरे ! देखते हैं—जो हम मानव यज्ञ कर रहे हैं उनका तो पतन हो रहा है, दुःखी हो रहे हैं हम यज्ञानुष्ठान से। एवं जो यज्ञ का नामस्मरण भी नहीं करते, वे सुखी--समृद्ध बन रहे हैं। इस अश्रद्धा के कारण आस्तिकोंनें भी सहसा यज्ञानुष्ठान का परित्याग कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, यज्ञानुगता आहुति के अवरुद्ध हो जाने से आन्तरिक्ष्य प्राकृतिक प्राणदेवता इस वैध पार्थिव प्राणाहुति से वञ्चित होकर कोपप्रवर्त्तक बन गए (प्रकृति की आदान--प्रदानात्मिका परस्परभावात्मिका सहज शान्ति उच्छिन्न हो गई *) क्योंकि, पार्थिव यज्ञाहुति से ही तो प्राणदेवात्मिका--प्रकृति स्वस्थ बनी रहती है। प्राकृतिक प्राणदेवों की स्वस्थता--स्वरूपस्थिति ही तो उनकी जीवनसत्ता है।

सर्वात्मना विकम्पित भारतवर्ष की, तन्मानवों की इस प्रकार की अश्रद्धा का इतिवृत्त तत् समय के भौम--पार्थिव मानवदेवताओं के समीप जब पहुँचा, तो वे चिन्तित हो पड़े। तत्काल मन्त्रणा कर उन्होंनें यज्ञरहस्यवेत्ता अङ्गिरावंशज, अतएव 'आङ्गिरस' नाम से प्रसिद्ध देवगुरु बृहस्पति को भारतवर्ष में इस उद्देश्य से भेजा कि, ये वहाँ जाकर यज्ञरहस्यविश्लेषणपूर्वक भारतीय मानवों की चलित श्रद्धा को पुनः यज्ञकर्म्म में स्थिर बनाते हुए प्राकृतिक कोप का उपशम करें। मन्त्रणानुसार बृहस्पति आए इलावृतवर्षात्मक भौम स्वर्गस्थान से भारतवर्षात्मक इस कृष्णमृगदेश (यज्ञदेश) में। बृहस्पतिने प्रश्न किया कि—हे मानवो ! तुम लोग यज्ञ कैसे नहीं करते ?, क्यों तुम लोगोंनें यज्ञकर्म्मानुष्ठान का परित्याग कर दिया ?। उत्तर स्पष्ट था। मानव कहने लगे—हे देवगुरो ! हम किस इष्टसिद्धि--फलकामना के लिए यज्ञ करें,

---

* **प्राणदेवता, अभिमानीदेवता, मन्त्रदेवता, कर्म्मदेवता, चान्द्रदेवता, पार्थिवभूतदेवता, भौममानवदेवता, आध्यात्मिकदेवता,** भेद से देवविज्ञान आठ भागों में विभक्त है। प्रकृतिवत् इस पृथिवी पर ही स्वयम्भू ब्रह्मा के द्वारा देवत्रैलोक्य, एवं असुरत्रैलोक्य--व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी, जो वल्लीसोमरक्षक गन्धर्व मानव चन्द्रमा के कुकाण्ड से कालान्तर में मानव असुरों के द्वारा स्मृतिगर्भ में विलीन कर दी गई। यह सम्पूर्ण देवविज्ञान शतपथभाष्य में यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। तद्युग के भौम देवताओं--मनुष्यदेवताओं--नें हीं बृहस्पिति को यहाँ भेजा था।

जबकि हम प्रत्यक्ष में यह अनुभव कर रहे हैं, देख रहे हैं कि, जो हम लोग यज्ञ कर रहे हैं, वे तो दुःख-दारिद्रय से उत्पीड़ित बने हुए हैं। एवं जो नहीं कर रहे, वे सुख-समृद्धि के भोक्ता बने हुए हैं।"

भारतीय मानवप्रजा के यज्ञकर्म्मपरित्यागनिबन्धन तथाकथित कारण के वास्तविक तथ्य को हृदयङ्गम करते हुए, यज्ञकर्म्म के वास्तविक--प्राकृतिक--मौलिक रहस्यात्मक--तत्त्ववाद के आधार पर समाधान में प्रवृत्त आङ्गिरस महर्षि कहने लगे कि--हे मनुष्यो ! हम सनातनपरम्परा से--यज्ञविज्ञानरहस्यवेत्ता वैदिक महा-महर्षियों की परम्परा से--ऐसा सुनते आ रहे हैं कि, यह जो तुम्हारा वैध यज्ञकर्म्म है, वह कोई साधारण लौकिक कर्म्म नहीं है। (मनःशरीरानुबन्धी भौतिक कर्म्म नहीं है), अपितु यह तो देवपरिपूत कर्म्म है, छन्दोबद्ध--मर्य्यादित--प्राकृतिक--सौरप्राण देवताओं के द्वारा सञ्चालित नित्य प्राकृतिक ईश्वरीय यज्ञ की प्रतिकृति में देवप्राणात्मक देवयज्ञरहस्यवेत्ता महर्षियों के द्वारा मानव अभ्युदय के लिए आविष्कृत दिव्य कर्म्म है, अलौकिक कर्म्म है, जिसमें मानवीय मानस कल्पना का समावेश कदापि इष्टजनक नहीं बन सकता। तात्पर्य्य--अशन, पान, भोग, भुक्ति, आदि की भाँति यज्ञकर्म्म कोई साधारण लौकिक कर्म्म नहीं है। अपितु प्रत्यक्ष में वितायमान वेदि--इध्म--बर्हि--पुरोडाश--स्फ्य--कपालादि पात्र--इत्यादि पार्थिव भौतिक परिग्रहों से समन्वित इस वैध यज्ञकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा वह परोक्ष अतीन्द्रिय प्राकृतिक प्राण तत्त्व है, जिसमें यत्किञ्चित् भी प्रमाद--असावधानी--मानवीयकल्पनासमावेश--से, मन्त्रप्रयोगानुगत वर्ण--अक्षर--पद--वाक्य--स्वर के दोष के समावेश से यह यज्ञकर्म्म इष्टफलसाधकता के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाया करता है। हमारी धारणा नहीं, विश्वास है कि, अवश्य ही तुम मनुष्योंनें--**'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति'** (शत० २।४।२।६।) इस सहज स्खलनदोष से इस यज्ञकर्म्म में कहीं न कहीं प्राकृतिक यज्ञ के विरुद्ध कोई वैसी भूल कर डाली है, जिससे यह यज्ञ तुम्हारे लिए इष्टस्थान में अनिष्ट का कारण बन गया है। उस अज्ञातदोष से अपरिचित रहने के कारण ही तुमनें दूसरी महाभयावह यह भ्रान्ति कर डाली है कि, तुमने यज्ञ को ही अनिष्ट का कारण घोषित करते हुए इसके प्रति अश्रद्धा कर ली है। उसी प्रमाद से तुम्हारा उद्बोधन कराने के लिए भौमदेवताओं की ओर से हमें यहाँ आना पड़ा है।

सुनो ! अवधान पूर्वक सुनो ! और समझो कि, तुमने कहाँ भूल कर डाली। तुमनें देवताओं को आहुति देने के लिए हविर्द्रव्य का परिपाक कर लिया, यथाविधि वेदि का स्वरूप सम्पादन कर लिया। एवं यहाँ तक तुमने--**'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'** आदेश के अनुसार अपने इस विकृतियज्ञ में प्रकृतिवत् ही सब कुछ सम्पादन किया। किन्तु आगे चल कर तृणादि अपकरण के लिए तुमने अवैधरूप से प्रकृतिविरुद्ध वेदि का स्पर्श कर डाला। वेदि बन ही चुकी थी, अभी उस पर दर्भास्तरण नहीं हुआ था। कहीं से कोई तृण वेदि पर आ गिरा होगा। तुमने हाथ से उसे निकाल दिया, किन्तु यह न सोचा कि, दर्भास्तरण से पूर्व वेदि का किसी भी निमित्त से स्पर्श कर लेना अपने सर्वनाश का आमन्त्रण करना है। इसी स्पर्शदोष से तुम्हारा अनिष्ट हो गया। अतएव भविष्य के लिए हम तुम्हें सावधान कर देते हैं कि, वेदि का हाथ से स्पर्श न करते हुए ही तुम्हें यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

कब तक हम वेदिका स्पर्श न करें ?, यदि वेदि पर निरर्थक, अतएव अयज्ञिय तृणादि वात्या से आ जायँ तो उन्हें कैसे दूर करें ?, यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करने पर बृहस्पति ने समाधान किया कि, बर्हिस्तरण से पहिले पहिले वेदि का हाथ से स्पर्श इसलिए नहीं करना चाहिए कि, 'स्फ्य' नामक यज्ञिय शस्त्र से भूगर्भ की मृत्तिका को उत्पीड़ित कर (खोद कर) वेदि का जो स्वरूपनिर्म्माण किया जाता है, इस शस्त्रप्रहारकर्म्म से वेदि हिंसात्मक क्रूरकर्म्मानुगत घातक प्राण से समन्वित बन जाती है। इस घातक प्राण को सुशान्त करने की शक्ति सौर आपोमय रश्मिरूप 'वेन' से उत्पन्न 'बर्हि' (दर्भ—डाभ) में मानी गई है। जब तक इस बर्हि का स्तरण वेदि पर नहीं कर दिया जाता, तब तक वेदि घातक प्राण से आक्रान्त रहती है। अतएव इस समय यदि हस्तस्पर्श कर लिया जायगा, तो वेदिस्थ घातक प्राण यज्ञ को अनिष्टभाव से समन्वित कर देगा। अतएव बर्हिस्तरण से पूर्व पूर्व यदि वेदि पर अन्य तृण आदि आ भी जायँ, तो उन्हें बर्हि से ही हटाना चाहिए। जब बर्हि बिछा दिए जाते हैं, तो हिंसाप्राण उपशान्त हो जाता है। तदनन्तर हस्तस्पर्श ही क्या, यदि (अभ्युपगमवादेन) तुम वेदि पर पैर भी रख दोगे, तो भी कोई अनिष्ट न होगा। इस प्रकार कुशास्तरण से पूर्व पूर्व अनवमर्श (अस्पृष्ट) रूप से यजन करने वाला यज्ञकर्त्ता द्विजाति मानव अवश्यमेव इष्टफलभोक्ता ही बनता है। इसलिए--**'अनवमर्शमेव यजेत'** ।*"।

उक्त वैदिक--नैगमिक--सदाख्यान से प्रकृत में हमें इसी तथ्य का अनुगामी बनना है कि, मानव कभी कभी अपने प्रज्ञापराध (नासमझी) जनित दोषों का स्वरूप न जानता हुआ अपने इन दोषों--अपराधों--भ्रान्तियों--त्रुटियों का उत्तरदायित्त्व दैववाद पर छोड़ने की महती भ्रान्ति कर बैठता है। भूल होती है स्वयं इस की, दोष दिया करता है यह दैव को। अज्ञानतावश--मोहवश--आवेशवश--अभिनिवेशाकर्षितान्तःकरणमना मानव अभ्युदय--निःश्रेयस् पथ से वञ्चित रहता हुआ कभी दैववाद (भाग्य) को, कभी सहयोगी मानवों को, कभी साधनों को, तो कभी साध्य धर्म्म--कर्म्म--शास्त्रादि अन्यान्य निमित्तों को दोषी ठहराता हुआ कालान्तर में अपनी निश्चित--निर्णीत--शास्त्रनिष्ठा से पराङ्मुख बन जाया करता है, कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा से च्युत हो जाया करता है। आज एक वैसे ही मानव, किंवा महामानव, किन्तु भावुकतावश लक्ष्यच्युत बने हुए भारतीय मानव से सम्बन्ध रखने वाले उस ऐतिहासिक तथ्य की ओर हमें भावुक मानवसमाज का ध्यान आकर्षित करना है, जिसकी मध्यस्थता ही प्रस्तुत सामयिक निबन्ध की जननी प्रमाणित होने वाली है।

---

* इस सदाख्यान का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य--प्रथमवर्ष के 'वेदिब्राह्मण' नामक प्रकरण में हो चुका है, जो प्रथमवर्ष अब पुनः प्रकाशन सापेक्ष है। हम इस प्रयास में जागरूक हैं कि, सुविधा प्राप्त होने पर शतपथभाष्य के १--२--३-- वर्षत्रयात्मक तीनों खण्ड पुनः प्रकाशित कर दिए जाँय, जिस इस जागरूकता की सफलता का एकमात्र उत्तरदायित्त्व प्राच्यसंस्कृतिप्रेमी साहित्यिकों की लोकैषणाविनिर्मुक्ता निष्ठा पर ही अवलम्बित है।

७—महामाया द्वारा लोकमानव का विमोहन—

निश्चयेन केवल अपने प्रज्ञापराध से घटित–विघटित दुर्दशापरम्परा का दोष अपनी सहज भावुकता के तात्कालिक आवेश से अन्यान्य व्यक्तियों से सम्बन्धित मानने वाले, किंवा दैव को ही इस दोष-परम्परा का कारण घोषित करने की महती भ्रान्ति करने वाले एक वैसे ही कर्त्तव्यविमुख सुप्रसिद्ध भावुक मानव के तात्कालिक भावाविष्ट उद्गारों की ओर आज हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जो मानव प्रारम्भोपवर्णित महाभारतानुगत पूर्वयुग में अपने **'आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक'** इन चारों हीं आध्यात्मिक–मानवस्वरूपनिबन्धन–पर्वों से असाधारण योग्यता प्रमाणित कर रहा था। नित्य–प्राकृतिक–विज्ञानानुमोदित वेदशास्त्र सिद्ध 'अवतारवाद' सिद्धान्त के अनुसार तो, सुनते हैं–यदि उस पूर्वयुग में वासुदेव श्रीकृष्ण सौर हिरण्मय मण्डल को अपने महिमामय आपोमण्डल में बुद्बुद्वत् गर्भीभूत बनाए रखने वाले पारमेष्ठ्य नारायण विष्णु के पूर्णावतार थे, तो यह महामानव सौर इन्द्रात्मक ज्योतिर्म्मय 'नर' का अवतार था। पारमेष्ठ्य आपोमय नारायण, एवं सौर ज्योतिरिन्द्ररूप नर, दोनों का प्राकृतिक महाब्रह्माण्ड में सहज सख्यसम्बन्ध सनातनरूप से सुरक्षित है। अतएव पारमेष्ठ्य नारायणावतार (विष्ण्वावतार) रूप वासुदेवकृष्ण, तथा नरावतार (इन्द्रावतार) रूप इस महामानव का मैत्रीसम्बन्ध इन दोनों के इस योगमायानिबन्धन पार्थिव–अवतार–स्वरूपों में भी तद्युग में प्रकृतिवत् अक्षुण्ण बना रहा था, जिसकी वैज्ञानिक दिशा का गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। सभी कुछ यथार्थ था, प्राकृतिक था यद्यपि, तथापि—

> **"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।**
> **बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥"**
> **—दुर्गासप्तशती**

इत्यादि रहस्यवाणी के सनातन नियमानुसार नरावताररूप सर्वात्मना सुयोग्यतम–कुशल–मेधावी–प्रज्ञाशील–बुद्धिनिष्ठ–महासत्त्व–महाप्राण–आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण उस महामानव पर भी सदसद्विलक्षणा–परा-परागांपरमा–ईश्वरीपरमेश्वरी–जगन्माता जगदम्बा योगमाया के बलवत् मोहपाश का वैसा आक्रमण हो ही गया, जिस आक्रमण का सम्भार वैसा महामानव भी न संभाल सका, न संभाल सका। एवं तत्परिणामस्वरूप इस मोहपाशाक्रमण से अपनी सहज भी बुद्धिनिष्ठा को, परिपूर्ण भी मानवता को, सनातन भी आस्थाश्रद्धा को, निर्णीत भी शास्त्रकर्म्मेतिकर्त्तव्यतापरायणता को सर्वात्मना विस्मृत करता हुआ, इस लौकिकी सामान्या मनोऽनुगता–यथाजातमानवमान्यता युक्ता–मुग्धभावापन्ना-किंकर्त्तव्यविमूढोत्पादिका भावुक-स्थिति से समन्वित होता हुआ सर्वात्मना पुरुषार्थशून्य–सा, आत्मविमूढ़-सा, बुद्धिनिष्ठा–वञ्चित-सा, उदासीनवदासीन-सा, दिङ्विमूढ़ सा, असहाय-सा, सर्वसाधन–परिग्रह–शून्य–सा बनता हुआ आज अपने सर्वसमर्थ परिपूर्ण अतिमानव (आधिकारिक-अवतार) मित्र के सम्मुख अश्रुपूर्णाकुलेक्षणभावमाध्यम से

अपने इस नितान्त भावुकतापूर्ण अन्तर्द्वन्द्व के समाधान के लिए समुपस्थित होता हुआ इस प्रणतभाव का अनुगामी बन रहा है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

—गीता २।७।

इस व्यामोहनप्रसङ्ग में ही एक आभ्यन्तर सामयिक प्रश्न । यह यथार्थ है कि, महामायाऽभिन्ना योगमाया (विष्णुमाया) के मोहपाशाक्रमण से नितान्त ज्ञाननिष्ठ मानव भी लक्ष्यच्युत बन जाया करते हैं । महतोमहीयान् आश्चर्य्य ? क्या महामङ्गलविधात्री जगन्माता **'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'** अपनी इस मातृभावना के सर्वथा विपरीत इसी प्रकार स्वसन्तति पर अपना वात्सल्य अभिव्यक्त करती है ? । क्या मङ्गलमयी माता का स्ववात्सल्याभिव्यक्ति के लिए एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह गया है कि, वह अपनी ज्ञाननिष्ठ--सर्वविध योग्य--आस्थाश्रद्धासमन्वित भी सन्तति पर सहसा अपने स्नायुमज्जावेधक मोहपाश का आक्रमण कर इसे सर्वात्मना हतवीर्य्य बना दे ?, इसकी जागरूक सहज शक्तियों को कुण्ठित-- अभिभूत कर इसे दीनहीन-सा, मूर्खविमूढ़-सा, किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा बना दे ?, यही वह सामयिक प्रश्न है, जो अवश्य ही हमारे इस ऐतिहासिक 'मानव' के गाथा प्रसङ्ग में एक आस्तिक–भावुक, विशेषतः धर्म्मभीरू भावुक भारतीय मानव के पिब्दमान सौम्य अन्तःकरण में एक जटिल समस्या उत्पन्न कर रहा है । इस महत्त्वपूर्ण सामयिक प्रश्न का समाधान हम क्या करें, जबकि हम स्वयं भी इसी पथ के पथिक बने हुए हैं । इस समस्यात्मक प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्त्व तो एकमात्र कालपुरुष के अनुग्रह पर ही अवलम्बित माना जायगा । पार्थिव–चान्द्र–सौरसम्वत्सरत्रयीरूप कालचक्रत्रयी की सतत परिभ्रममाण–नियति के निग्रहानुग्रह से पार्थिव मानवसमाज की चन्द्रानुगता मानसिक प्रवृत्तियों में कब क्या क्या उच्चावच परिवर्त्तन हुआ करते हैं ?, स्वयं मानव इन प्राकृतिक परिवर्त्तनों के प्रति किस सीमा पर्य्यन्त उत्तरदायी है ?, इत्यादि प्रश्नपरम्परा एक स्वतन्त्र विषय है, जिसका **'मानवस्वरूपमीमांसा'** रूप से अग्रिम परिच्छेदों में समाधान करने की चेष्टा की जारही है । प्रकृत में सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए दो शब्दों में तत्र निरूपित समाधानदिशामात्र से ही पाठकों को अवगत करा दिया जाता है ।

८–लोकमानव की ग्राम्यपशुता, और मायाविमोहनसमाधानचेष्टा—

नैगमिक **'पञ्चपशुविज्ञान'** के अनुसार अश्व–गो–अवि (भेड़)–अज (बकरा) वत् पुरुष भी महाकालद्वारा कवलित बना रहने के कारण अन्नस्थानीय (भोग्यस्थानीय) बना रहता हुआ (मनःशरीरभावद्वयीमात्र की अपेक्षा से) एक प्रकार का 'पशु' ही माना गया है, जैसा कि–**'अबध्नन् पुरुषं पशुम्'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । पञ्चविध **'पुरुषाश्वगवाव्यजाः'** इन प्राकृतिक पार्थिव मुख्य पशुओं के जाति–उपजाति–अवान्तरजाति–अनुलोम–प्रतिलोमसंकर–आदि बीज--योनि भेद से अवान्तर शत–सहस्र

विभेद हो रहे हैं। इन असंख्य भेदभिन्ना पञ्चपशुजातियों का भारतीय वैज्ञानिक महर्षियोंनें **'आरण्यक-पशु'-'ग्राम्यपशु'** इन दो भागों में वर्गीकरण करते हुए पशुस्वरूप की तात्त्विक मीमांसा की है।

'पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यान्-आरण्यान्-ग्राम्याश्च ये' इत्यादि रूप से पशुवर्ग-ग्राम्यपशु, आरण्य-पशु, इन दो वर्गों में विभक्त है। दुर्भाग्यवश, किंवा विगतशताब्दियों से परम्परया उत्तराधिकारसमर्पण प्रक्रिया की भाँति भावुकमानवपरम्परा के द्वारा भावुकमानवपरम्परा को दायादरूप से प्राप्त भावुकतावश वैदिकपरम्परा के अभिभूत हो जाने से वेदार्थमीमांसा के सम्बन्ध में सर्वसामान्य चलितप्रज्ञ व्याख्याताओं की कौन कहे, महामान्य मेधावी वेदव्याख्याताओं के द्वारा भी यत्रतत्र जैसी उद्वेगकरी भ्रान्तियाँ अभि-व्यक्त हो पड़ीं हैं, उन भ्रान्त व्याख्याओं के अनुग्रह से अर्थ के स्थान में बड़े बड़े अनर्थ हो पड़े हैं। उदाहरण, यही प्रक्रान्त पशुवर्गद्वयी। व्याख्याताओंनें 'आरण्यपशु' का अर्थ किया है-**'जगलीपशु'** (अर्थात्-शून्य निर्जन-वनोपवनों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले पशु)। एवं 'ग्राम्यपशु' का अर्थ किया है-**'गाँव के पशु'** (अर्थात् ग्राम, एवं नगर में रहने वाले पशु)। भावुकतापूर्णा प्रत्यक्षप्रभावमूला लोकदृष्टि से इस अर्थ में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं हो रही, जबकि 'अरण्य', एवं 'ग्राम' शब्दों के अमरकार-सम्मत 'जँगल' और 'गाँव' अर्थ सर्वसाधारण की लोकदृष्टि में लोकसम्मत बन रहे हैं। किन्तु·········

'किन्तु' का आश्रयग्रहण इसलिए करना पड़ा कि, वैदिकसाहित्य काव्यनाटकसाहित्य की भाँति कोई लौकिक साहित्य नहीं है, जिसे लोककोश-एवं लोकव्याकरण के माध्यम से सहसा समन्वित कर लिया जाय, किंवा आपातरमणीयभावापन्ना प्रत्यक्षदृष्टिमात्रमाध्यम से जिसका यथेच्छ समन्वय कर लिया जाय। अपितु अलौकिक-अपौरुषेय-तत्त्वपरिपूर्ण-रहस्यार्थगभीर-वेदशास्त्र की अपनी रहस्यपूर्णा एक स्वतन्त्र परोक्ष, किन्तु आम्नायपरम्परानुप्राणित परिभाषापरम्परा है, जिसे आधार बनाए बिना अन्य लौकिक सहस्र मेधाओं-प्रयत्नों-लोकव्याख्याओं से भी कथमपि वेदार्थ का तत्त्वार्थबोध सुसमन्वित नहीं बन सकता, कथमपि नहीं बन सकता।

'आरण्य' शब्द का पारिभाषिक अर्थ है 'अरण' सम्बन्ध से **'एकाकीभाव'**, एवं 'ग्राम' शब्द का अर्थ है **'समूहभाव'**। वनोपवनादि में क्योंकि ऐकान्तिकता (एकान्तपना) स्वाभाविक है, सहज सुलभ है। अतएव इस एकाकीपन से वनादि प्रान्त भी 'अरण्य' नाम से लोक में व्यवहृत होने लग गए हैं। एवमेव ग्रामनगरादि में क्योंकि प्राणी सामूहिक रूप से आवास निवास करते हुए से प्रतीत होते हैं। अतएव ग्रामनगरों को 'ग्राम' नाम से व्यवहृत करना भी लोकसम्मत बन गया है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, अरण्य और ग्राम शब्द एकाकीपन एवं सामूहिकभाव के सर्जक नहीं हैं, अपितु एकाकीभाव, समूहभाव अरण्य-ग्राम-शब्दों के सर्जक हैं। दूसरे शब्दों में अरण्य एवं ग्राम शब्दों का मुख्य अर्थ है एकाकीभाव, एवं समूहभाव, न कि जंगल, और गाँव। अरण्य (एकाकीभाव), एवं ग्राम (समूहभाव) के कारण वनोपवनादि अरण्य, एवं प्राणिसमूहात्मक प्रदेश ग्राम कहलाए हैं। वनोपवनादि, एवं ग्राम-

नगरादि कदापि 'अरण्य-ग्राम' शब्दों के वाच्य नहीं है। वैसे सामान्य यथाजात लोकमानव की स्थूलदृष्टि से अरण्य-ग्राम शब्दों का जँगल-गाँव अर्थ घोषित करते रहना भी लोकदृष्ट्या समादरणीय बन ही रहा है। एवं इस लौकिक दृष्टि के अनुग्रह से 'आरण्यकपशु' का अर्थ-'**जंगल के जीव**', और 'ग्राम्यपशु' का अर्थ '**गाँव के जीव**' करते रहना कोई अक्षम्य अपराध नहीं माना जा सकता। हाँ, वैदिक अरण्य--ग्राम शब्दों के साथ न तो यह जँगलीपना ही क्षम्य है, एवं न यह गँवारपना ही उपेक्षणीय है।

तात्त्विकदृष्ट्या 'अरण्य' शब्द का अर्थ होगा '**ऐकान्तिकता**', एवं 'ग्राम' शब्द का अर्थ होगा '**सामूहिकता**'। इस दृष्टि से 'आरण्यकपशु' का अर्थ होगा '**एकान्तनिष्ठप्राणी**', एवं 'ग्राम्यपशु' का अर्थ होगा-'**समूहनिष्ठप्राणी**'। एकाकी निवास विचरणशील प्राणी को आरण्यकपशु कहा जायगा, एवं सामूहिक (समूह बना कर-निवास-विचरण करने वाला) प्राणी ग्राम्यपशु माना जायगा। लौकिक दृष्टि से सम्बन्धित अरण्य (जँगल) में भी आरण्य-ग्राम्य, दोनों प्रकार के प्राणी उपलब्ध हो सकते हैं, होते हैं। एवं ग्राम (गाँव-शहर) में भी दोनों निवास-विचरण करते हैं। पहिले 'पशु' नाम से प्रसिद्ध दोनों प्राणियों के उभयत्र निवास का अन्वेषण कीजिए। **शरभ-अष्टापद-सिंह-व्याघ्र**-आदि बुद्धयनुगत पराक्रमी पशु भेड़ बकरियों की भाँति समूह--झुण्ड बना कर विचरण-निवास करते रहना अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ के सर्वथा विरुद्ध मानते हैं। स्वतन्त्ररूप से स्वच्छन्द वृत्ति से विचरण करते रहना हीं इन शरभादि कतिपय श्रेष्ठ पशुओं का सहज स्वभाव है। ऐसे शरभादि जँगली प्राणियों को ही हम 'आरण्यकपशु' कहेंगे। **मदमत्त मौक्तिक गज, एमूषवराह प्रतिकृतिरूप महासत्त्व शूकर, चान्द्र-गन्धर्वप्राणप्रतीकरूप चलितप्रज्ञ-चलितशरीरयष्टिधर्म्मा-सचकितनयन मृग**, धूर्त्तशिरोमणि **शृगाल,** आदि आदि मनःशरीरानुगत वीर्य्य-बलानुशयानुप्राणित कतिपय पशु समूह झुण्ड बना कर ही आवास निवास किया करते हैं। झुण्ड के झुण्ड बना कर विचरण करते रहना हीं इन जँगली पशुओं का सहज स्वभाव है। इस झुण्डरूप सामूहिकभाव के कारण ही इन जँगली पशुओं को 'ग्राम्यपशु' कहा जायगा। तदित्थं-केवल आरण्य (जँगल) में ही आरण्यक, तथा ग्राम्य, दोनों प्रकार के पशुओं का आवास प्रमाणित हो रहा है। यही उभयवर्ग ग्राम से सम्बन्धित माने जायँगे। महासत्त्व साण्ड **वृषभ** (आँकल), **उत्सृष्टवृषभ,** महाप्राण साण्ड **महिष** (सवीर्य्य भैंसा), मस्तकविस्फोटक नर **अवि** (मींढा), आदि आदि कितने एक नागरिक पशु नगर में रहते हुए भी ऐकान्तिकरूप से विचरण करते हुए अपनी आरण्याभिधा को अन्वर्थ बनाते रहते हैं। '**गो-महिष-श्वान-पालूतूगज**-आदि पशु सामूहिकरूप के अनुगामी बने रहते हुए ग्रामनिवासी 'ग्राम्याभिधा' को अन्वर्थ बना रहे हैं। तदित्थं ऐकान्तिकरूप से, तथा सामूहिकरूप से नगर-ग्रामों में निवास करने वाले पशु क्रमशः आरण्यक-ग्राम्य बने हुए हैं। दोनों ही वर्ग अरण्य में, दोनों ही वर्ग ग्राम में। अरण्य में भी आरण्यक-ग्राम्य दोनों, ग्राम में भी आरण्यक, ग्राम्य दोनों, यही निष्कर्ष है। अलमतिपल्लवितेन। अब शेष प्रश्न रह जाता है पशुश्रेष्ठ मानववर्ग के सम्बन्ध में, जिसकी मीमांसा विस्तार से इसी निबन्ध के द्वितीयप्रकरण में होने वाली है। विषय-सन्दर्भसमन्वयदृष्टि से अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि—

आश्रमचतुष्टयानुगत **द्विजातिमानव**, एवं यथाजात **लौकिकमानव**, भेद से सर्वप्रथम हम मानव के दो वर्ग मानते हुए इन्हें क्रमशः **अलौकिक परिपूर्ण नैष्ठिक मानव, लौकिक अपूर्ण भावुक मानव,** इन नामों से व्यवहृत करेंगे। अतीतानागतज्ञ–विदितवेदितव्य–अधिगतयाथातथ्य–तपःपूत–निगमागमतत्त्ववित्–तत्त्वानुशीलननिष्ठ आरण्यक आचार्य्य (ऋषि) के पावन चरणों में समिधग्रहणपूर्वक प्रणतभाव से ऋजुभाव–अजिह्मता–सत्य–श्रद्धा–आदि सत्त्वगुणमाध्यम से पञ्चविंशतिवर्षात्मक प्रथम वय में श्रौतस्मार्त्त ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर उत्तरपञ्चविंशति में श्रौतस्मार्त्त गृह्यकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ, तृतीयपञ्चविंशति में निवृत्तिप्रधान कर्म्मों का अनुगामी बनता हुआ, चतुर्थ पञ्चविंशति में कामत्यागलक्षणा संन्यासनिष्ठा के द्वारा मानवजीवन को धन्य बनाता हुआ द्विजातिमानव ही **'अलौकिकमानव'** कहलाया है। इस प्रकार के द्विजातिमानव की सेवाशुश्रूषा में निश्छलरूप से अपने आपको अर्पित रखने वाला शास्त्रसिद्ध वर्णधर्म्मानुसार आजीविकाकर्म्म में निरत रहता हुआ, लोकमान्यताओं के अनुसार पितृ–देवकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ मानव ही **'लौकिकमानव'** है, जिन इन द्विविध मानवों का विशद वैज्ञानिकस्वरूप द्वितीय स्तम्भ की प्रतीक्षा कर रहा है। इन्हीं दोनों वर्गों को हम क्रमशः **'आत्मबुद्धिनिष्ठमानव'**, एवं **'मनःशरीरयुक्तमानव'** इन नामों से व्यवहृत करेंगे।

अलौकिक मानव भी मनःशरीरभावों से युक्त है। किन्तु यहाँ प्रधानता आत्मा, और बुद्धि की है। एवमेव लौकिक मानव भी आत्मबुद्धिभावों से युक्त है। किन्तु यहाँ प्रधानता मनः–शरीरभावों की है। आत्मा और बुद्धि (विद्याबुद्धि) सदा एकान्तनिष्ठा को ही लक्ष्य बनाते हैं। अतएव तत्प्रधान अलौकिक मानव को हम **'आरण्यक मानव'** ही कहेंगे, फिर यह क्षीणोदर्कपद्धति से अरण्य (जँगल) में रहे, अथवा तो भूमोदर्कपद्धति से ग्राम–नगर में रहे। 'पशु' सर्ग चौदह भागों में विभक्त है, जिसका रजोविशाल मध्य सर्ग 'मानवसर्ग' कहलाया है। यह सर्ग 'चान्द्रसर्ग' है *। चन्द्रमा ही मनोभाव का स्वरूप सम्पर्क है। अतएव मनःशरीरप्रधान, अतएव रजोविशाल इस लौकिक **'चान्द्रमानव'** को ही हम 'पशु' श्रेणि से सम्बद्ध मानेंगे। आत्मबुद्धि का प्रभव सूर्य्य माना गया है, जैसा कि–**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'–'धियो यो नः प्रचोदयात्'** इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। यही देवसर्ग का अधिष्ठाता है। यही आत्मबुद्धि-प्रधान सत्त्वविशाल अलौकिक मानव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव इस **'सौरमानव'** को हम **'देवमानव'** मानते हुए पशुश्रेणि से सर्वात्मना असंस्पृष्ट ही घोषित करेंगे। इसी अलौकिक सौर देव-मानव को लक्ष्य बना कर मानवधर्म्मस्वरूपविधाता भगवान् मनु ने–**'पितृभ्यो देवमानवाः'** (मनुः ३।२०१।) यह घोषणा अभिव्यक्त की है। तात्पर्य्य, इन दोनों मानव वर्गों में से आत्मबुद्धिनिष्ठ सौर

---

* श्राद्धविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत **'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'** नामक प्रथमखण्ड में (पृ० २५० से ३०० पर्य्यन्त) इस चतुर्दशविध चान्द्र पशुसर्ग का विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

द्विजातिमानव आरण्यक ही है, एवं यह 'मानव' ही है, देव ही है। दूसरा मनःशरीरयुक्त चान्द्र यथाजात मानव ग्राम्य ही है, यह 'पशु' ही है। इसी के लिए संस्कृतसाहित्य में **'देवानां प्रियः'** अभिधा व्यवहृत हुई है, जिस अभिधा को निगमनिष्ठामार्ग से स्खलित भावुकतापूर्णमतवादाभिनिविष्ट अमुक भारतीय भावुक राजाओंनें (अशोकादिनें) भी अन्वर्थ बनाया है।

प्रसङ्ग प्रकान्त है 'भावुकता' से सम्बन्ध रखने वाले असदाख्यान का। निष्ठा जहाँ विद्याबुद्धि का सहज धर्म्म है, वहाँ भावुकता मन का सहज भाव है। इस दृष्टि से आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक आरण्यक सौर मानव, एवं मनःशरीरयुक्त भावुक ग्राम्य चान्द्र मानव, दोनों में से भावुक ग्राम्य मानव को ही हम पशुमीमांसाप्रसङ्ग में प्रधान मानेंगे, एवं इसी लोकमानव के माध्यम से हम महामायानुगत विमोहन की मीमांसा करेंगे। आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक महामानव तो **'निर्म्मानमोहाः-जितसंगदोषाः'** इत्यादि के अनुसार इस प्रकान्त मीमांसा से सर्वात्मना असंस्पृष्ट ही माने जायँगे। **'ज्ञानिनामपि० बलादाकृष्य मोहाय०'** इत्यादि महामायामोहपाशाक्रमण के लक्ष्य पशुमानव--ग्राम्यमानव--लोकमानव--मनःशरीरयुक्त मानव--भावुकमानव ही बना करते हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

'मानव सामाजिक प्राणी है' इस लोकमान्यता की मीमांसा में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हमें मानव के पूर्वप्रतिपादित आरण्यक, ग्राम्य, दोनों अलौकिक--लौकिक वर्गों को लक्ष्य बना लेना चाहिए। अलौकिक मानव को वस्तुतस्तु 'आरण्यक' कहना भी उसकी परिपूर्णता पर आक्रमण ही करना है। वह स्व-स्वरूपतः आत्मबुद्ध्यपेक्षया एकान्तनिष्ठ बनता हुआ जहाँ आरण्यक है, वहाँ लोकसंग्रहमात्र के लिए मनःशरीरापेक्षया समाजनिष्ठ बनता हुआ वह ग्राम्य भी प्रतीत होने लगता है। वह दोनों हैं, दोनों हीं नहीं है, सब कुछ है, ब्रह्मवत् सर्वधर्म्मोपपन्न है। अतएव लोकदृष्ट्या वैसा महामानव ग्राम्यलौकिक मानवदृष्ट्या सर्वथा अमीमांस्य है। मीमांस्य है केवल मनःशरीरयुक्त भावुक वह लौकिक मानव, जो अपने सहज आत्मबुद्धिलक्षण नैष्ठिक स्वरूप को प्रत्यक्ष--प्रभाव--द्वारा विस्मृत करता हुआ सहसा पशुसमाजधर्म्मा बनता हुआ पशुवत् किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। ऐसा है यह लौकिक ग्राम्य (सामाजिक) पशुमानव, जिसके लौकिक स्वरूप विश्लेषण के लिए हमें मानव के दो वर्गों की रूपरेखा उपस्थित करनी पड़ी। अभी एक तीसरा लौकिक ग्राम्य मानववर्ग और मीमांस्य है, जो अविद्याबुद्धिसहकृता असन्निष्ठा का महापात्र बनता हुआ भावुक मानव को सतत उत्पीड़ित क्रिया करता है। प्रतीक्षा कीजिए उस असन्निष्ठ दानवमानव की असत्स्वरूपमीमांसा की कुछ काल पर्य्यन्त।

(लोकदृष्ट्या)--मानव आरण्यक पशु नहीं है, अपितु 'ग्राम्यपशु' है, समूहात्मक पशु है, समष्टि में आवासनिवास विचरण करने वाला 'सामूहिक प्राणी' है, जिसका अर्थ किया जाता है वर्त्तमानयुग के नितान्त भावुक समाजशास्त्रियों के द्वारा **'सामाजिक प्राणी'**। मानव की--लोकमानव की--ग्राम्यमानव की-- नागरिक मानव की--किंवा वर्त्तमान भावुकभाषाव्यवहार की अपेक्षा राष्ट्रिय मानव की **वैय्यक्तिक-**

पारिवारिक-कौटुम्बिक-जातीय-सामाजिक-नागरिक-राष्ट्रिय आदि आदि कुछ एक ऐसी अनिवार्य्य आवश्यकता-परम्पराएँ हैं, जिन का अनुगामी बने रहना, जिनके प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण किए रहना, मानव का--लोकमानव का अनन्य कर्त्तव्य बना रहता है। इस सामूहिक कर्त्तव्यानुगति के कारण ही लोकमानव को 'सामाजिक प्राणी', किंवा 'ग्राम्यपशु' बन जाना पड़ता है, विवशतावश बना रहना पड़ता है। तब तक बना रहना पड़ता है, जब तक कि यह स्वस्वरूपबोधपूर्वक आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं बन जाता। लोकमानव की इस सामाजिकानुबन्ध की सीमा का क्षेत्र बहु विस्तृत है। व्यक्तिगत शिक्षा–योग्यता–निष्ठा–आदि के अतिरिक्त इसे अगत्या अपने व्यक्तितन्त्र के साथ साथ पारिवारिक कौटुम्बिक–जातीय–सामाजिक--नागरिक–एवं राष्ट्रिय अनुबन्धों से अनुप्राणित शिक्षा–योग्यता–नैतिकता–आदि का भी लक्ष्य बना रहना पड़ता है, तदनुपात से ही इसे सदसत् परिणामों का अनुगामी बना रहना पड़ता है। यही नहीं, अपितु समाज, किंवा राष्ट्रदोष से स्व-समत्त्वयोग से स्खलित कालपुरुषानुगत प्राकृतिक मण्डल में घटित विघटित घटना–दुर्घटनाओं का भी इसे फलभोक्ता बना रहना पड़ता है। सुनते हैं एक पापात्मा के विराजमान हो जाने मात्र से सम्पूर्ण नौका ही सरितातल में निमज्जित हो जाया करती है। प्रकृतिविरोध–प्रकृतिवैषम्य–जनपदोध्वंसिनी–महामारी–अतिवृष्टि–स्वल्पवृष्टि–अवृष्टि–करकापात–हिमपात–उल्कातारावियुत्वज्रपात–आदि आदि प्राकृतिक महादण्डों से इस सामाजिक प्राणी के व्यक्तितन्त्र को भी अवश्य ही दण्डित होना पड़ता है। किंवा इन सब झञ्झावातों के निग्रहानुग्रह का फलाफल–कुफल--सुफल–उस लोक–ग्राम्य मानव को भी परिस्थितिवश, एवं अपनी सामाजिक ग्राम्यपशुता के अनुपात--तारतम्य से भोगना ही पड़ता है, जिस लोकमानव ने स्वप्न में भी प्रकृतिविरुद्ध कर्म्मात्मक अधर्म्मपथ का संस्मरण भी तो नहीं किया था। इसी दिशा में तो **'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'** को चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। निष्कर्षतः–तात्कालिक सम–विषम सामाजिक राष्ट्रिय वातावरणों के तात्कालिक प्रभाव से निर्दोष भी भावुक लोकमानव सर्वात्मना स्वत्राण करने में असमर्थ ही बना रहता है।

जो महामानव, अलौकिक परिपूर्ण मानव, आधिकारिक पुरुषोत्तम मानव एवंविध संघर्षात्मक–प्रतिद्वन्द्वितात्मक विभीषिकामय संक्रमणकालानुबन्धी विषम वातावरणों का भी अतिक्रमण कर निराकुल–सुशान्त–धीर–दृढ़नैतिक–अविकम्पित बने रहते हुए नैगमिक पथ पर आरूढ़ रहते हैं, वे ही मानव वास्तव में 'मानव' जैसी सर्वश्रेष्ठतम अभिधा के पात्र माने गए हैं। तथाकथित महाभारतात्मक संक्रमणात्मक युग में समस्त भारत में ही क्या, अपितु सम्पूर्ण विश्व में तथाविध विषमकालात्मक भयावह अशान्त–क्षुब्ध–वीभत्स–उत्तेजक–वातावरण से अपने आपको एकान्ततः असंस्पृष्ट बनाए रखने में केवल चार ही अतिमानव–लोकोत्तरमानव–सर्वात्मना समर्थ प्रमाणित हुए थे हमारी धारणा से भी, एवं तद्युग की आस्तिक मान्यता से भी। चारों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मानव उस युग में कालप्रभाव से आक्रान्त थे, कुछ एक मानव तो स्वदोषात्मिका प्रज्ञास्खलनरूपा अपनी भावुकता से, एवं कुछ एक सामाजिक

राष्ट्रिय–भावानुगत वातावरण दोष से, जिसे आस्तिकप्रजा 'कालप्रभाव' नाम से घोषित किया करती है। पूर्णावतार पूर्णेश्वर स्वयं भगवान् **वासुदेवश्रीकृष्ण,** पूर्णज्ञानवैराग्यनिष्ठ पुराणपुरुष भगवान् **कृष्ण-द्वैपायन (व्यास),** सत्यवती सूनु भीष्मप्रतिज्ञ महाप्राण महात्मा **देवव्रत (भीष्मपितामह),** एवं धर्म्म-राजनीतितत्त्वरहस्यवेत्ता महात्मा **विदुर,** इन चार अतिमानवों के अतिरिक्त महाभारतकालीन सम्पूर्ण मानवसमाज ही स्वयं मानव के वैय्यक्तिक–पारिवारिक–कौटुम्बिक–सामाजिक–एवं राष्ट्रिय, आदि में से किसी न किसी विषमभावापन्न कालदोष के प्रभाव से महामाया जगदम्बा के सहज–वात्सल्यपरिपूर्ण अनुग्रह से वञ्चित रहता हुआ लक्ष्यच्युत बन कर–**'ज्ञानिनामपि चेतांसि०'** इत्यादि पूर्वोद्धृता रहस्य-वाणी को चरितार्थ कर रहा था, जिस चरितार्थता की कोटि में लक्षीभूत हमारे ऐतिहासिक उस प्रधान-पात्र का भी समावेश हो पड़ा था उसकी सहज भावुकता से, जो ऐतिहासिक सर्वगुणसम्पन्न नरपुङ्गव तद्युग में **'पार्थ, महाबाहु'** आदि प्रशस्त सम्बोधनों से यत्रतत्र उपवर्णित होता हुआ सुप्रसिद्ध **'अर्जुन'** नाम की नरावतार–इन्द्रावतार–निष्ठा को भी अभिव्यक्त कर रहा था *।

---

* प्रसिद्ध है कि, पाँचों पाण्डुपुत्र प्राणदेवताओं के अंश से ही समुत्पन्न थे। धर्म्म से युधिष्ठिर की, वायु से भीम की, इन्द्र से अर्जुन की, एवं नासत्य–दस्र नामक दोनों अश्विनीकुमारों से नकुल–तथा सहदेव की उत्पत्ति हुई थी। 'अर्जुन' वास्तव में प्राकृतिक सौर इन्द्रप्राण का गुह्य–परोक्ष नाम है, प्राति-स्विक अभिधा है। जैसे लोक में श्रेष्ठ सम्मान्य मानव का जन्मानुगत प्रातिस्विक नाम व्यवहार में लाना अशिष्टता अभद्रता माना जाता है, तथैव इन्द्र को भी 'अर्जुन' इस प्रातिस्विक नाम से सम्बोधित करना एक प्रकार का समाजानुबन्धी शिष्टताविरोधी 'आगः' (अपराध) माना गया है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थों में इन्द्र को 'अर्जुन' इस प्रातिस्विक अभिधा से सम्बोधित न कर 'इन्द्र' इस यौगिकार्थानुगत प्रत्यक्ष नाम से ही व्यवहृत किया गया है। नरावतार अर्जुन में इन्द्र का व्यक्तिगत प्राणांश ही अवतरित हुआ था। अतएव इसे 'अर्जुन' इस इन्द्र के व्यक्तिगत नाम से ही व्यवहृत करना अन्वर्थ माना गया। 'इन्द्र' और 'अर्जुन' शब्दों के इस रहस्यार्थ का विश्लेषण निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से भलीभाँति व्यक्त हो जाता है—

"अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः, यदस्य गुह्यं नाम। को ह्येतस्यार्हति गुह्यं नाम ग्रहीतुम्"।

—शत० ब्रा० २।१।२।११।

"इन्द्र का वास्तविक वैय्यक्तिक नाम इसके शुक्ल–धवल–ज्योतिर्म्मयभाव के कारण ही 'अर्जुन' है, जो कि नाम सर्वथा गुह्य है, परोक्ष माना गया है। भला किस में यह साहस है कि, जो देवाधिपति, अतएव 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध इस त्रैलोक्याधिष्ठाता सौरप्राणदेवता के परोक्ष गुह्य नाम का लोकव्यवहार में उच्चारण कर सके"।

६–महाभारतयुगानुगता संक्रमणावस्था—

नरावतार–इन्द्रावतार–पार्थ अर्जुन को 'भावुकतानिबन्ध' का सूत्राधार मानने से पूर्व हमें तत्कालीन महाभारतयुग की सम–विषम कालिक, दैशिक, राष्ट्रिय स्थिति–परिस्थितियों को विहङ्गमदृष्ट्या लक्ष्य बना लेना होगा। अपनी विशेष गुण–विभूति के तारतम्य से ज्योतिःशास्त्रसम्मत द्वादशभाववत् द्वादश (१२) श्रेणिविभागों–वर्गों–में विभक्त इस सामाजिक मानव प्राणी के १२ हों वर्ग महाभारतयुग में सर्वात्मना समुपलब्ध थे, जैसा कि द्वितीय स्तम्भात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा में इन द्वादश मानववर्गों की स्वरूप-दिशा का स्पष्टीकरण होने वाला है। उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर–उत्कृष्टतम, एवं निकृष्ट–निकृष्टतर–निकृष्टतम–मानव की सभी श्रेणियाँ महाभारतयुग को समलंकृत कर रहीं थीं। एक दूसरी श्रेणि के मानवीय गुण-दोष मानव के सहज सामाजिक–भावानुबन्धन के कारण, पारस्परिक आदान–प्रदान सम्बन्ध के कारण परस्पर संक्रान्त थे। यही कारण था कि, उस युग में बड़े से बड़ा धार्म्मिक मानव भी तात्कालिक वाता-वरण से तात्कालिकरूप से प्रभावित होकर प्रकृतिविरुद्ध अधर्म्मपथ का तात्कालिक समर्थन कर बैठता था। क्या धृतराष्ट्र धर्म्म–बुद्धिशून्य थे ? नहीं। किन्तु कालदोषात्मक वातावरणदोष से इन्हें भी अनेक बार अपने मनोभावों में समविषम परिवर्त्तन करने पड़े। क्या गुरुद्रोण का कौरवों की ओर से युद्ध में समाविष्ट होना धर्म्मपथ था ?। क्या द्यूतकर्म्मावसर पर भारतीय नारी की निर्ल्लज्जता के रोमाञ्चकर वाता-वरण को देखते हुए भी वहाँ के सभासदों का मौनवृत्ति से तटस्थ–दर्शकमात्र बने रह जाना नैतिकता थी ?। तदित्थं-महाभारतयुग का वातावरण ही एक अश्रुत–अदृष्टपूर्व घोर–घोरतम संघर्षात्मक संक्रमणकाल प्रमा-णित होरहा था। पूर्व क्षण में यदि उस युग में किसी का उद्बोधन कराया जाता था, तो उत्तर क्षण में ही पुनः वह उद्बोधन स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता था। उद्बोधन कराने वाले वासुदेव, व्यासादि थक थक जाते थे उद्बोधन कराते कराते। किन्तु उद्बोधन के पात्र उद्बोधनपथों को अविलम्ब विस्मृत कर देने में यत्किञ्चित् भी तो शिथिलता प्रदर्शित नहीं करते थे। स्थिरता–दृढ़ता–निष्ठा–धृति–आदि से सर्वात्मना वञ्चित एक ओर का विशुद्ध भावुकतापूर्ण महाभारतयुग, तो दूसरी ओर का शकुनि–कर्ण–दुर्य्योधन–दुःशासन–आदि जैसे केवल नीतिनिष्ठ मानवों का सुदृढ़ असन्निष्ठात्मक युग। परस्परात्यन्तविरुद्ध भावों का कैसा अद्भुत–आश्चर्य्यप्रद समन्वय था उस युग में, जिस युग में मानव का अपने वैय्यक्तिक तन्त्र को सुशान्त–सुस्थिर–सुनिष्ठ–निराकुल–निरापद बनाए रख लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भवप्राय ही था।

तथाकथित राजनैतिक क्षेत्र की भाँति धार्म्मिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक क्षेत्र की भी ऐसी ही संक्र-मणावस्था प्रक्रान्त थी उस युग में। वस्तुतस्तु यह संक्रमणावस्था ही तो नैतिक–संक्रमणावस्था की जननी बनी थी। यथाहि—आस्तिकप्रजा से यह भारतीय सिद्धान्त परोक्ष नहीं है कि, विकृतिस्थानीया पार्थिव मानवप्रजा अपने मूलभूत प्राकृतिक विवर्त्त–प्राकृतिक–नियम के विरुद्ध जब उत्पथ-गमन में प्रवृत्त हो जाती है, तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। प्रकृति का यह प्रारम्भिक क्षोभ ही भूकम्प–महामारी आदि कोपों का जनक बनता हुआ पार्थिव प्रजा के उत्पीडन के द्वारा इसके उद्बोधन का प्रारम्भिक प्रयास करता है।

यदि इसकी उपेक्षा कर लक्ष्यच्युत मानव आवेशवश अधिकाधिक उच्छृङ्खल बनने लगता है, तो तदनुपात से ही प्रकृति भी अधिकाधिक क्षुब्ध होने लगती है। जब यह प्राकृतिक क्षोभ निःसीम बन जाता है, प्राकृतिक सनातन नियमसंघात्मक सनातनधर्म मानव के प्रज्ञास्खलन से अभिभूत हो जाता है, तो प्रकृतिसहयोगी चेतनपुरुष विकम्पित हो पड़ता है, जिसका परिणाम होता है चिदंश का प्रकृति के द्वारा योगमायामाध्यम से पार्थिव आधिकारिक अवतरण, यही अवतारसिद्धान्त का रहस्यार्थ है। धर्मग्लानि के उपशम के लिए ही भगवदवतार हुआ करते हैं, जैसा कि **'यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति०'** इत्यादि आगमवचन से प्रमाणित है। पूर्णकलोपेत (षोडशकलोपेत प्रजापति की सोलह कलाओं से संयुक्त), अतएव 'पूर्णावतार' नाम से उपवर्णित भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण का अवतार ही स्पष्टरूप से महाभारतयुगानुगता धर्मग्लानि का, परिपूर्ण प्राकृतिक क्षोभ का, मानवीय आत्यन्तिक स्खलन का समर्थक बना हुआ है।

धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है निगमशास्त्र–**'वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ'** (मनुः)। निगमाम्नाय जब जब मानव के प्रज्ञापराध से अभिभूत हो जाता है, तब तब ही वेदसिद्ध सनातनधर्म अधर्म से अभिभूत हो जाता है, अतएव मानना पड़ेगा कि, महाभारतयुगीय संघर्षात्मक क्षोभात्मक भावों का मूलकारण निगमाम्नाय का अभिभव ही था। निगमाम्नायमूलक विधि–विधान उसी प्रकार उस युग में अभिभूत हो गए थे, जैसे कि वर्त्तमानयुग में मानवप्रजा की अमर्य्यादा से वेदाम्नायपरम्परा सर्वात्मना स्मृतिगर्भ में विलीन हो गई है। तत्तद्युगों में तत्तद्युगों के महर्षि अभिभूत वेदाम्नाय को पुनः पुनः अभिव्यक्त करते हुए धर्मसंरक्षण में प्रयत्नशील * बने रहते हैं। इनका प्रयत्न जब उपरत हो जाता है, तो उस स्थिति में पूर्णेश्वर को अवतार धारण करना पड़ता है।

तथोपवर्णित महाभारतयुगीय राजनैतिक क्षेत्र की, सामाजिक–पारिवारिक जातीय–भावों की दुर्व्यवस्था का मूलकारण था निगमाम्नायसम्मत आत्मबुद्धिलक्षण बुद्धियोगपथ की विस्मृति। नैगमिक आम्नाय ही धर्म का, धर्म ही साहित्य का, साहित्य ही संस्कृति का, एवं संस्कृति ही सभ्यता का परम्परया आधार बना करते हैं। निगमाम्नाय की विलुप्ति के दुष्परिणामस्वरूप उसकी धर्मनिष्ठा, तदनुप्राणिता साहित्यनिष्ठा (शास्त्रनिष्ठा), तदभिन्ना संस्कृति, तन्मूला सभ्यता (श्रौतस्मार्त्त आचार–व्यवहार–शिष्टता आदि) आदि जब दीनहीन दशा को प्राप्त हो गए, तो तत्प्रकार की पारिवारिक–सामाजिक–राजनैतिक दीनहीन दशा का जन्म हुआ। उदाहरण के लिए हिरण्यगर्भ महर्षि के द्वारा उद्भाविता प्रकृतिप्रधाना यज्ञयज्ञात्मिका कर्मलक्षणा **'योगनिष्ठा'** सर्वथा स्वतन्त्ररूप से प्रगतिशील बन चुकी थी उस युग में निगमाम्नाय से वञ्चित रहने के कारण। उधर महर्षि कपिल के द्वारा उद्भाविता कर्मत्यागलक्षणा **'सांख्यनिष्ठा'** स्वतन्त्र

---

* युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥

रूप से ही अपना डिण्डिमघोष अव्यक्तरूप से व्यक्त कर रही थी। इन दोनों शास्त्रीय निष्ठाओं में परस्पर अश्वमाहिष्य प्रक्रान्त था। परिणामस्वरूप तद्राष्ट्र में विभिन्न इस प्रकार के दो विरोधी सम्प्रदाय बन गए थे, जो अपनी अपनी निष्ठा के यशोगान में ही तल्लीन बने रहते हुए पारस्परिक दोषान्वेषणमूला भावुकता को ही अपना मुख्य पुरुषार्थ मान बैठे थे। विवस्वान् से सम्बन्धित देवयुग से आरम्भ होकर अमुक युग पर्य्यन्त आचार्य–अन्तेवासी परम्परारूप से अविच्छिन्नरूप से प्रक्रान्त बनी रहने वाली उभय-समन्वयात्मिका आत्मबुद्धिमूला बुद्धियोगनिष्ठा महाभारत युग में आकर निष्ठाद्वयी के काल्पनिक–अकल्पित कलहात्मक–कलिवात्याहित संघर्ष से सर्वथा विलुप्त–अभिभूत हो गई थी।

इस स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, धर्म्मनिष्ठा का स्थान वर्त्तमान युग की भाँति उस युग में मतवाद ने ही ग्रहण कर लिया था। निगमनिष्ठा का स्थान मतवादानुगता भावुकता ने ग्रहण कर लिया था। धर्म्म का नीति ने अभिभव कर डाला था। जो नीति–राजनीति-नैगमिक प्राकृतिक धर्म्म के स्वरूप--संरक्षण के लिए विहित थी, वह मतवादानुग्रह से अनीतिलक्षणा विशुद्ध–धर्म्मनिरपेक्षा नीति बनती हुई धर्म्म की उपेक्षा, अधर्म्म के समर्थन में ही अपना सत्तागौरव–अनुभूत करने लगी थी। एवं इसी एकमात्र नैगमिकधर्म्मबहिष्कृता, धर्म्मभीरुतानुगता अनीतिलक्षणा स्वार्थलिप्सापरिपूर्णा महाभारतयुगानुगता नीति ने पूर्वोपवर्णिता संक्रमणावस्था को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था और उस प्रकार राष्ट्र के धार्मिक--साहित्यिक--सांस्कृतिक--संघर्षात्मक--संक्रमणात्मक वातावरण से तत्कालीन वैय्यक्तिक–पारिवारिक–जातीय–सामाजिक–राष्ट्रिय वातावरण सर्वात्मना संक्रमणात्मक बनता हुआ मतवादानुगता सांख्य–योगनिष्ठा की भाँति **भावुकवर्ग असन्निष्ठवर्ग** रूप से दो भागों में विभक्त होता हुआ अश्वमाहिष्यवत् परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बन चला था। कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा को आदर्श मान लिया था धर्म्मभीरु सहज भावुक मानववर्ग ने, एवं कामनालक्षणा योगनिष्ठा को मूल बना लिया था असत्कर्म्मलिप्सु सहजनिष्ठ मानववर्गने। धर्म्मकर्म्मोभयसमन्वयात्मिका बुद्धियोग-निष्ठा यों महाभारतकाल में–**'एकं सांख्यञ्च योगञ्च'** सिद्धान्त को सर्वात्मना विस्मृत कर **'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति'** को सर्वात्मना चरितार्थ बना चुकी था।

यह सर्वथा स्वाभाविक है कि, अवश्य ही राष्ट्र के सामाजिक, एवं राजनैतिक वातावरण के साथ साथ धार्मिक–सांस्कृतिक–संघर्षमय वातावरण से भी मानव अपने आप को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। एवं वैसा मानव, जो सहजरूप से दिव्य–सात्त्विक–गुणों से जन्मतः समन्वित रहता हुआ धर्म्म-परायण है, वह तो अपनी सहज ऋजुता–कोमलता के कारण अवश्य ही ऐसे संघर्षात्मक–संक्रमणात्मक–युग में स्खलित–चलितप्रज्ञ बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। असन्निष्ठ, किंवा कुनिष्ठ मानवा-भास–मानव स्वार्थासक्त बना रहता हुआ जहाँ ऐसे संघर्षात्मक राष्ट्रभयसमाकुलित–अशान्त वातावरणों से स्वार्थलिप्सालाभ उठाने में कुशल बन जाता है, वहाँ सन्निष्ठ–सुकोमलमति–धर्म्मपरायण (धर्म्मभीरु) मानव इस प्रकार के संघर्षात्मक वातावरणों में सहयोगदान की अपेक्षा भिक्षावृत्ति का अनुगामी बन

जाना कहीं अधिक उत्तम पक्ष मान बैठता है, जैसा कि-**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** (गी० २।५।)– **'अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः, किन्तु महीकृते'** इत्यादि भावुकमानवश्रेष्ठोद्गारों से स्पष्ट है। यही महाभारतकालानुगता उस संक्रमणावस्था का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है, जिसके माध्यम से ही हमें महा-मायानुगत आत्मविमोहन–समाधान की चेष्टा करनी है।

(१०) तथाविध संक्रमणकाल, एवं सामाजिक मानव का विमोहन—

असन्निष्ठ असन्मानव जहाँ संक्रमणकालों को स्वार्थलिप्सा--साधन के लिए उपादेयकाल मानते हैं, वहाँ सन्निष्ठ सन्मानव ऐसी संघर्षावस्था में सहसा विकम्पित होता हुआ स्वार्थ–परमार्थ–दोनों को विस्मृत कर बैठता है। अतएव इस विमोहन का निमित्त हम कालदोष ही मान सकते हैं, जिसका बीज बनता है 'भावुकता' ही। यदि सन्मानव नैगमिक निष्ठा पर आरूढ़ रहता है, तो कदापि इसका विमोहन नहीं हो सकता। इस दृष्टिबिन्दु से एकमात्र 'भावुकता' को ही हम आत्मविमोहन का अनन्यकरण घोषित करेंगे, जिसका इस भावुक की भावुकतासंरक्षण के व्याज से इन शब्दों में अभिनय किया जा सकता है कि, सामाजिकानुबन्ध ही वह महामोहपाश है, जिसके माध्यम से महामाया जगदम्बा महामानव की सहज सद्बुद्धिनिष्ठा को सहसा आवृत कर लिया करती है। इस महामायानुबन्धी महामोहपाश से आत्मत्राण प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय शेष रह जाता है आस्थाश्रद्धाशील मानव के समीप कि, वह अपनी सहज भावुकता को समाजानुबन्धात्मक संघर्षभाव में अर्पित न कर अपनी इस भावुकता को भावुकता के रूप से ही उस **'महामाया–पीताम्बरा–भगवती** के पावन चरणों में ही अनन्यनिष्ठापूर्वक सहजरूप से अर्पण कर दे, जिस आगमीय पद्धति–प्रकार के माध्यम से ही पीताम्बरोपासक, अतएव पीताम्बरधरस्रग्वी अतिमानव नारायण (वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण) ने अन्ततोगत्त्वा अपने लक्ष्यच्युत–किंकर्त्तव्यविमूढ़–सखा को पीताम्बरा की शरण में न्यस्त करते हुए ही उसे विजयश्री की ध्रुवा नीति में सफलता प्रदान करने का महद्यश प्राप्त किया था *।

---

* ऐतिहासिक स्वाध्यायशील श्रद्धालुओं से यह परोक्ष नहीं है कि, महाभारतयुद्धप्रसङ्ग में अपने अनन्य सखा–सयुक् न्योक सखा--नरांश अर्जुन को युद्ध में विजयश्री का भोक्ता बनाने के लिए युद्ध से पूर्व ही पीताम्बराराधना में प्रवृत्त किया था। इसी उपासना के बल पर भगवती पीताम्बरा से अर्जुन ने लोक-संघर्ष--विजय का वर प्राप्त किया था, जिस पीताम्बरास्तोत्र का एवंविध सम्पूर्ण इतिवृत्त महाभारत–शान्ति-पर्व में जिस अध्याय से श्रीमद्भगवतगीता आरम्भ होती है, उस अध्याय के पूर्वाध्याय में ही स्पष्ट हुआ है। गीताभक्तों से हम आग्रह करेंगे कि, वे गीता के नवीन संस्करणों में उस अध्याय का भी इसलिए समावेश करने कर देने का निःसीम अनुग्रह करेंगे कि, वही अध्याय वस्तुतः भगवद्गीता का मूलाधार है, जिस मूल के आधार पर पुराणपुरुष के मुख से गीतोपसंहार में यह आर्षसूक्ति विनिःसृत हुई है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्म्मतिर्म्मम ॥

—गीता १८।७८।

यद्वा तद्वास्तु । आपातरमणीय भावुकतापरिपूर्ण सभी सामयिक प्रश्नाभासों का यथानुरूप लोक-संग्रहात्मक समाधान सम्भव बन ही जाय, इस भावुकतापूर्णा चिन्ता में कालयापन व्यर्थ है । अर्जुन महा-सत्त्व था, सन्निष्ठ था, तो उसमें भावुकता का उदय क्यों और कैसे हो गया ?, महामाया ने क्यों ऐसे श्रद्धालु आस्तिक ज्ञाननिष्ठ मानवश्रेष्ठ का आत्मविमोहन कर डाला ?, क्यों धीर धनुर्द्धर पार्थ सहसा इस प्रकार अनार्य्यजुष्टा कायरता का अनुगामी बन गया ?, इत्यादि भावुकतापूर्ण प्रश्नाभास के समाधान का उत्तरदायित्त्व वर्त्तमानयुग के नीरक्षीरविवेची भावुकतापरिपूर्ण आलोचकों--प्रत्याचलकों के मनोऽनुरञ्जन के लिए शेष छोड़ते हुए हमें तो उस घटना की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जो ऐति-हासिक घटना हमारे इस प्रस्तुत उद्‌बोधनात्मक सामयिक निबन्ध का मूलाधार प्रमाणित होने वाली है । हाँ, नरावतार जिस अर्जुन को, सर्वगुण–योग्यताशाली जिस पार्थ महाबाहु क्षत्रियश्रेष्ठ को निबन्धमूलाधार-भूता जिस आख्यान घटना का मुख्य पात्र बनाया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में अवश्य ही एक ऐसी विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है, जिसके समन्वय–समाधान के बिना निबन्धोपक्रम निर्म्मूल सा प्रतीत होने लगता है ।

(११)–निबन्धमाध्यम में महती विप्रतिपत्ति, एवं तत् समाधान—

युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव सर्वात्मना दुःखार्त्त, एवं दुर्योधनप्रमुख कौरव सर्वत्मना सुखी–समृद्ध क्यों और कैसे ?, यह है वह मूल प्रश्न, जिसका हिन्दू मानव की भावुकता के माध्यम से हमें निबन्ध में विश्लेषण करना है । इसके लिए हम महाभारत की ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य बना रहे हैं, एवं उस घटना का प्रधान लक्ष्य बनाया जा रहा है महाबाहु पार्थ धनुर्द्धर, किन्तु सहज भावुक 'अर्जुन' को । यही, इसी दशा में एक महती विप्रतिपत्ति, महती समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है, जिसका हम केवल अपनी भावुकता के माध्यम से ही इस प्रकार समाधान करने के लिए आतुर बनते जा रहे हैं । श्रूयताम् !

प्रकृतिसिद्ध–क्षात्रधर्म्मसमन्वित–सहजसिद्ध राज्यवैभव से वञ्चित होकर पाण्डुपुत्रों का सर्वथा दीन-हीन–दशा में अनाथवत् इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहने का प्रधान उत्तरदायित्त्व किस पर ? यह प्रश्न है । जिस पाण्डुपुत्र के भी साथ वह उत्तरदायित्व विशेषरूप से सम्बन्धित होगा, न्यायतः वही प्रस्तुत भावुकता–निबन्ध का मूलाधार माना जायगा । प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यवत् यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है कि, इस सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का सम्बन्ध निःशेषरूप से एकमात्र धर्म्मराज–धर्म्मनिष्ठ युधिष्ठिर के साथ ही सम्ब-न्धित है । अपनी धर्म्मासक्ति–धर्म्माग्रह–धर्म्माभिनिवेश के आवेश से भूतावेशवत् आमूलचूड़ सतत आविष्टमना बने रहते हुए युधिष्ठिर ही अपने भीमार्जुनादि अनुजों के समय समय पर आग्रहपूर्वक निरोध करते रहने पर भी दुष्टबुद्धि–असन्निष्ठ–दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों को बन्धुभावरूप से अपनाते रहने की भया-वह भ्रान्ति का अनुगमन करते रहे, करते ही गए । एवं अपनी इस भावुकतापूर्णा बन्धुजनस्नेहासक्ति

में आसक्तव्यासक्तमना बन्धुहितैषी युधिष्ठिर एकप्रकार से ही क्यों, निश्चितरूप से कौरवों की असन्निष्ठा-लक्षणा दुर्बुद्धि को ही परोक्षरूपेण प्रोत्साहित करते रहने वाले परोक्ष निमित्त बनते रहे, बनते ही गए। सर्वलोकवैभवापहारिणी द्यूत–क्रीड़ा जैसे निगमविरुद्ध–शास्त्रविरुद्ध–आमन्त्रण को भी एकमात्र अपने कुलज्येष्ठ–मानव पुत्रमोहान्ध–सर्वान्ध धृतराष्ट्र के अनुबन्ध से ही युधिष्ठिरने धर्म्मानुगत मानने की भयावह भ्रान्ति कर डाली। इस द्यूतकर्म्म में शकुनिप्रेरित कौरवों के द्वारा घटित सर्वस्वापहरण के प्रत्यक्ष निमित्त भी एकमात्र युधिष्ठिर ही बने। नितान्त जघन्या धर्म्मविरुद्ध इस अर्पण–परम्परा का यदि महाबली भीम, महाप्राण अर्जुन ने मध्ये मध्ये अवरोध करने की व्यग्रता अभिव्यक्त की भी, तो युधिष्ठिर के परोक्ष संकेत इन आज्ञावशवर्त्ती अनुजों को अपने गदास्त्र एवं गाण्डीवास्त्रों को अवतत करते हुए विवशता-पूर्वक अपने उचित भी आवेश को उपशान्त ही कर लेना पड़ा। इस प्रकार अथ से इति पर्य्यन्त एकमात्र युधिष्ठिर की धर्म्मानुगता, किंवा अनुचित बन्धुरागासाक्त्यनुगता भावुकता के निग्रहानुग्रह से ही पाण्डुपुत्रों को न्यायसिद्ध राज्यतन्त्र से विमुख बनते हुए अपने जीवन को कण्टकाकीर्ण बना लेना पड़ा। स्वयं द्रौपदी जैसी सलज्जा आर्य्यनारी तक को आपद्धर्म्मधिया इन्हीं सब प्रमाणित कारणपरम्पराओं के माध्यम से युधिष्ठिर की जैसी प्रतारणा करने का साहस करना पड़ा था, वह भी सर्वविदित है ही। ऐसी स्थिति में सर्वानिष्टजनक–निमित्तरूप नितान्त भावुक युधिष्ठिर को निबन्ध का उपक्रम न बना कर (अमुक अंशों में भावुक, किन्तु) समय समय पर निष्ठाकर्म्म की ही घोषणा करने वाले महावीर दृढप्रतिज्ञ अर्जुन जैसे नरावतार मानवश्रेष्ठ को 'भावुकता' का प्रतीक बनाते हुए निबन्धोपक्रम करना क्या एक महतीविप्रतिपत्ति नहीं है।

है, और अवश्य है। किन्तु एक भावुक मानव की दृष्टि में, जो प्रत्यक्षदृष्टि–श्रुति के आधार पर तत्काल ही प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर अपने भावुकतापूर्ण मानस–परिवर्त्तनों के साथ–साथ ही क्षण–क्षण में सिद्धान्त परिवर्त्तित करता रहता है। 'भावुकता' स्वयं एक वैसा दुरधिगम्य समस्यापूर्ण–विप्रत्तिपन्न जटिल तत्त्व है, जिसके यथावत् स्वरूपसमन्वय में बड़े से बड़ा नैष्ठिक भी सहसा कुण्ठित हो जाता है, जैसा कि निबन्धानुगत उदाहरणों के द्वारा आगे यथावसर स्पष्ट होने वाला है। बड़े आटोप के साथ विप्रतिपत्ति का स्वरूपविश्लेषण करते हुए हमने प्रातःस्मरणीय धर्म्मराज जिस युधिष्ठिर को नितान्त भावुक प्रमाणित करते हुए उन्हें ही एकमात्र सर्वानिष्ट के उत्तरदायी बनाने, एवं मानने का महत्पातक कर डाला, उन संस्मरणीय धर्म्मराज धर्म्म की सगुणमूर्त्ति युधिष्ठिर की चरमसीमानुगता धर्म्मनिष्ठालक्षणा धर्म्मभावुकता के अनुग्रह से ही शेष पाण्डुपुत्रों के यशःशरीर अद्यावधि अक्षुण्ण बने हुए हैं। धर्म्मनिष्ठात्मिका धर्म्मभावना के दृष्टिकोण से युधिष्ठिर न केवल महामानव ही थे, अपितु अतिमानव थे, आधिकारिक अवतारमानवसमतुलित धर्म्म के सगुण अवतार थे। वे अपनी इस धर्म्मानुगति में अनन्यनिष्ठा से प्रणत-भाव द्वारा आस्थाश्रद्धापूर्वक आत्मार्पण में तल्लीन थे। अर्जुन की भाँति—**'करिष्ये वचनं तव'** रूप से युधिष्ठिर धर्म्ममान्यता के सम्बन्ध में किसी भी अन्यप्रेरणा–अन्यशक्ति से प्रभावित होने के लिए स्वप्न में भी सहमत न थे। यही कारण था कि, गुरुद्रोणवध–प्रसङ्गावसर पर वासुदेवकृष्ण के महतो-

महीयान् प्रबलतम प्रयास–आग्रह–निग्रह के अनन्तर भी इस अतिमानव के पावन मुख से केवल वैखरी वाणीमात्र के रूप में ही अन्तर्भावों के सर्वथा विपरीत, सो भी पूर्ण आत्मदमन करते हुए दुःखसंविग्नमानस बनते हुए—**'अश्वत्थामा हतः—नरो वा, कुंजरो वा'** (अश्वत्थामा मारा गया, किन्तु विदित नहीं–वह इस नाम का हाथी मारा गया, अथवा तो नर) ये परिमित–सीमित अक्षरमात्र ही विनिर्गत हो सके थे।

भावुकता की चरमसीमात्मिका धर्म्मभावुकता ही 'निष्ठा' का उपक्रमस्थान मानी गई है, जैसा कि निबन्ध में यत्र–तत्र विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। अपनी आत्यन्तिक धर्म्मभावुकता, किंवा मनोऽनुगता धर्म्मभावना से ही आत्मबुद्ध्यनुगता सत्य–धर्म्मनिष्ठा से सत्य–धर्म्मनिष्ठ बन जाने वाले अतिमानव धर्म्मराज युधिष्ठिर इसी धर्म्मनिष्ठा के बल पर सदेह स्वर्गारोहण में समर्थ हुए थे, जबकि इनके अन्य अनुज, और प्रतारणा करने वाली द्रौपदी मध्ये मध्ये ही विराम ग्रहण कर चुके थे। धर्म्ममूर्त्ति यक्ष के सम्मुख भावावेशवश निधनावस्था को प्राप्त भीमादि चारों अनुजों को इसी धर्म्मनिष्ठा के प्रभाव से यक्ष को प्रश्नोत्तरविमर्शद्वारा तुष्ट करते हुए पुनरुज्जीवित किया था इसी धर्म्मभावुक अतिमानव ने। इसी धर्म्मनिष्ठा के आकर्षण से स्वयं मूर्त्तिमान् धर्म्म ने इस अतिमानव की महायात्रा में प्रच्छन्नरूप से सहयोग प्रदान करते हुए अपने आपको धन्य माना था। इसी सांस्कारिकी दृढ़तमा धर्म्मभावना के प्रभाव से स्वर्गारोहण करते समय इनके पावनतम आतिवाहिक शरीर से संलग्न वायुदेवता पवित्र हो गए थे, जिस पवित्र वायु के संस्पर्शमात्र से यामी यातनाएँ सहन करने वाले प्रेतलोकस्थ प्रेतभावापन्न इनके बन्धु क्षणमात्र के लिए शान्ति–स्वस्ति के भोक्ता बन गए थे ×। ऐसे धर्म्मनिष्ठ, अतएव नितान्तनिष्ठ, यावज्जीवन अनन्यरूप से इस निष्ठातन्त्र के उपासक बने रहने वाले लोकदृष्ट्या 'भावुक' भी प्रतीयमान युधिष्ठिर को, इस धर्म्ममूर्त्ति अतिमानव को 'भावुकता' जैसे लौकिक–निबन्ध का आधार, किंवा माध्यम बना कर क्या यह भावुक निबन्धा सदा के लिए अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बना लेता ?। नेतिहोवाच ! अब्रह्मण्यम् !! अब्रह्मण्यम् !!!

होंगे, और अवश्य ही होंगे अमुक परिगणित भावों की दृष्टि से बलशाली वायुपुत्र भीम भी अवश्य ही भावुक। किन्तु अवसर प्राप्त होने पर क्षणमात्र भी विलम्ब न करते हुए अपने विपक्षी पर

× धार्म्मिक सिद्धान्त है कि, युद्ध में मृत क्षत्रिय योद्धा स्वर्गगति का ही अधिकारी बनता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज बन जाता है कि, युद्ध में हम कर्ण–दुर्य्योधनादि युधिष्ठिर के बन्धुबान्धव नरकगामी कैसे बने ?, जहाँ युधिष्ठिर के शारीरिक वायु से उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। कर्म्मभोक्ता भूतात्मा अवश्य ही स्वर्गगति का अधिकारी बन जाता है। किन्तु 'श्मशा' नामक रुद्रदेवतानुबन्धी हंसात्मा, एवं तदभिन्न औपपातिक महानात्मा, दोनों एकात्मक बनते हुए कर्म्मानुसार हीन उत्तम लोकों के भोक्ता बने रहते हैं। यही प्रेतात्मा है, जिसकी दृष्टि से उक्त भाव अभिव्यक्त हुआ है। श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत **'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'** द्वितीय खण्ड में इन विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन द्रष्टव्य है।

अणुमात्र भी दया–करुणा प्रदर्शित न कर उसे सर्वात्मना निःशेष कर देने की जैसी निष्ठा सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव जैसी इस उग्रकर्म्मा–भीमकर्म्मा–क्रूरकर्म्मा पाण्डुपुत्र में सहज–निर्बाधरूप–से विद्यमान थी, उसका अन्य पाण्डुनन्दनों में अभाव ही था। युधिष्ठिर की क्षमाशीलता तो प्रसिद्ध है ही। अर्जुन भी वैसे अवसरों पर नितान्त भावुक ही बन जाया करते ते, जैसा कि कर्णार्जुन–युद्धप्रसङ्गावसर पर निःशस्त्र असहाय बने हुए प्रातःस्मरणीय कर्ण पर भावुकतावश प्रहार करने से अर्जुन सहसा तटस्थ बन गए थे, एवं अनन्तर निष्ठावतार भगवान् की प्रेरणा से कहीं अर्जुन का इस दिशा में उद्बोधन हो पाया था। यह भीम की भीमा निष्ठा का ही सुपरिणाम था कि, वर्षों से विगलितकेशा–वेणिबन्धनवंचिता–प्रतिक्रियानुगता द्रौपदी को दुःशासन के उष्णतम सद्योविनिःसृत रक्त–सिञ्चन से वेणीबन्धन का सौभाग्य प्राप्त हो सका था। शत्रुविमर्द्दनलक्षणा इस अनन्यनिष्ठा के समतुलन में वृकोदर भीम बड़े से बड़े अनिष्ट की भी उपेक्षा कर डालना अपना सहज धर्म्म मानते रहते थे। शत्रु के सम्मुख किसी भी परिस्थिति में अवनतशिरस्क बन जाना, किंवा उस पर दया–ममता अभिव्यक्त करते हुए क्षमा प्रदान कर देना, ऐसा कोई शब्द उनके लिए कोश में निर्म्मित ही नहीं हुआ था। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के द्वारा पाण्डवविनाशार्थ प्रक्षिप्त देवविद्यात्मक मन्त्राभिमन्त्रित ब्रह्मास्त्र के सम्मुख भी तो भीम ने तब तक रथ से अवतीर्ण होकर नतमस्तक बनना स्वीकार नहीं किया, जब तक कि स्वयं श्रीकृष्ण ने करग्रहणपूर्वक भीम को रथ से नीचे उतार कर बलवदादेश से उसके क्षात्रतेज को ब्रह्मास्त्रतेज के सम्मुख कृताञ्जलि नहीं बना डाला। द्रौपदीमानभङ्गकर्त्ता आततायी कीचक का उपहास में ही नामलेश कर देने वाले पाँचों पाण्डवों में से भीमातिरिक्त और किस पाण्डुनन्दन में ऐसा असम साहस था ?। और इस प्रकार की भूतबलानुगता शारीरिक निष्ठा का एकमात्र कारण था भीम की सुप्रसिद्धा वह 'आहारनिष्ठा,' जिसके अनुग्रह से इन्हें महायात्रा में मध्य में ही गिर जाना पड़ा था। युद्धकर्म्मनिष्ठासंरक्षिका भूतबलनिष्ठा की आधारभूता आहारनिष्ठा अन्य सभी पाण्डुपुत्रों की अपेक्षा भीम में अप्रतिम थी, फिर भले ही मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने इस निष्ठा को सत्त्वगुणविघातिका निन्द्या ही घोषित क्यों न किया हो। आहारनिष्ठा के अतिरिक्त बालवयोऽनुगता जलतलस्पर्शनिबन्धना सौम्यनागदेवताप्रदत्ता सौम्या बलशक्ति भी इस निष्ठा का मूलकारण बनी हुई थी, जिसके अनुग्रह से भीम 'दशसहस्रगजबलमितबलशाली' नाम से प्रसिद्ध थे। पूर्ण स्वस्थता–निराकुलता–के साथ साथ अपनी आहारनिष्ठा पर प्रयासपूर्वक आरूढ़ रहते हुए **'युद्धाय कृतनिश्चयः'** लक्षणा क्षात्रनिष्ठा का बिना किसी गीतादि–उपदेशाकर्षण के ही निर्व्याजरूपेण अनुगमन करने वाले, अन्यान्य व्यावहारिक–लौकिक–सामाजिक भावुकता–निष्ठापरम्पराओं से अपने आपको सर्वात्मना असंस्पृष्ट बनाए रखने वाले जेष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के अनुशासन–आदेश को नतमस्तक बन कर स्वीकार करते रहने वाले एवंविध लोकनिष्ठ स्ववीर्य्यगुप्त क्षत्रिय मानव को भी लौकिक भावुकता–निबन्ध का माध्यम नहीं बनाया जा सकता था, नहीं बनाया गया।

सर्वात्मना सौम्यभावापन्न माद्रीसुत नकुल, और सहदेव अवश्य ही निरतिशयरूपेण भावुक थे। किन्तु इनकी भावुकता लोकसंघर्ष से सर्वथा असंस्पृष्ट बनी रहती हुई वैसी काल्वालीकृता–पिब्दमाना–

श्लथा भावुकता थी, जैसी भावुकता मातृस्तनपान करने वाले एक अबोध शिशु में रहा करती है। सौम्य माद्रीसुत अपनी ज्येष्ठभ्रातृत्रयी की सर्वसमर्थ छत्रछाया में निरापद–निराकुलरूप से स्वस्थतापूर्वक अपने सहज आमोद–प्रमोद में तल्लीन थे। अशन पान, और स्वमूलप्राणनिबन्धन सहज अश्वप्रेम से आकर्षित नकुल–सहदेवयुग्म की निष्ठा अधिक से अधिक पाण्डवराज्य की अश्वशाला का पर्य्यवेक्षण निरीक्षण था। किसी भी पारलौकिकी, ऐहलौकिकी धर्म्म–समाज–राजनीतिनिष्ठाओं के उत्तरदायित्व का इन दोनों से कोई विशेष सम्पर्क न था। ज्येष्ठबन्धुत्रयी की आज्ञा का अनुगमन करते हुए, उनकी सुख-दुःखानुभूतियों के साथ साथ यथावसर यथायोग्यता वैसी स्थिति–परिस्थितियों को ही स्वानुगत बनाने वाले माद्रीसुत भी इस संघर्षपूर्ण भावुकता--निबन्ध के माध्यम नहीं बनाये जा सकते थे, नहीं बनाने चाहिये थे।

अब शेष रह गए थे केवल 'अर्जुन'। स्वाधिकारवंचित पाँचों पाण्डवों में से अपेक्षया महाबाहु अर्जुन के अतिरिक्त महाभारतयुग में अन्य कोई वैसा सर्वदृष्ट्या योग्य भावुक मानवश्रेष्ठ उपलब्ध न हो सका, जिसे हम निबन्ध का माध्यम बना लेते। महासत्त्व, महाप्राण, महाधनुर्द्धर, नरावतार, अतएव अवतार-गुणविभूषित, अतएव च सर्वगुणसम्पन्न, शास्त्रनिष्ठ, आस्थाश्रद्धापरायण महामानव 'अर्जुन' जैसे मानव-श्रेष्ठ को 'भावुकता' जैसे मानस भाव का प्रतीक मानते हुए हम अन्तरात्मना संक्षुब्ध हैं। यह भी सम्भव है कि स्वयं अपनी सहज--भावुकता के कारण समुत्पन्न दृष्टिदोष से ही हमारे लक्ष्य अर्जुन जैसे महामानव बन रहे हों। इस अपनी भावुकता का, अपने दृष्टिदोष का इसके अतिरिक्त हमारे समीप और कोई अन्य समाधान शेष नहीं है कि, मानव की प्रत्येक महती विप्रतिपत्ति--महती--समस्या का मूलाधार महाप्राण मानव ही बना करता है। सुप्रसिद्ध है कि, युद्धविजय की कामना से कुरुक्षेत्रभूमि को वीरप्राण-संस्काराधान से सुसंस्कृत बनाने के लिए उस युग के सर्वश्रेष्ठ अप्रतिम--साथ ही निर्दोष (अतएव भावुक) नरपुङ्गव भीमपुत्र बर्बरी का ही आलम्बन आवश्यक समझा गया था, अनुरूप माना गया था। इसी दृष्टि-बिन्दुमाध्यम से हम इस महती विप्रतिपत्ति के समाधान के लिए महामानव अर्जुन को ही निबन्धमाध्यम मानने की धृष्टता कर रहे हैं, जिसके लिए चान्द्रमण्डलस्थ अर्जुन का हंसात्मा हमें क्षमा प्रदान करेगा।

नरावतार अर्जुन जैसे सर्वगुणसम्पन्न महामानव समस्या उपस्थित करने वाले, एवं नारायणावतार वासुदेवकृष्ण जैसे अतिमानव समस्या का सफल समाधान करने वाले, इन दोनों लोकोत्तर गुरुशिष्यों की प्रश्नोत्तरपरम्परा से महतोमहीयान् बने हुए महाभारतयुगानुगत, महाभारत समर से पूर्व--एवं राज्याधिकार से वञ्चित पाण्डुपुत्रों के संघर्षात्मककाल में घटित नितान्तभावुकतापूर्ण वह आख्यान उपक्रान्त हो रहा है, जिसे अवधानपूर्वक--श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

(१२)–कौरवनिष्ठा का स्खलन, और भावुक अर्जुन से कुशलप्रश्न—

महाभारतयुग के सुप्रसिद्ध शिल्पी शुक्रशास्त्रपारङ्गत मयासुर के द्वारा विनिर्म्मित पाण्डुपुत्रों के त्रैलोक्याप्रतिम सभाभवन में द्रौपदी के नारीसुलभ सहजभावुकतापूर्ण नितान्त घातक उपहास से, द्रौपदी

की भावुकता का समर्थन कर डालने वाले तात्कालिक भावुकताक्रान्त स्त्रैणधर्म्मा आहारनिष्ठापरायण भीमादि द्वारा उपहाससमर्थन से धृतराष्ट्र के नीतिकुशल–सुयोग्य पुत्र अतिथिरूपेण समागत एकान्तनिष्ठ दुर्य्योधन के मानस पटल पर प्रतिक्रिया का जो विषाक्त बीज दैवदुर्विपाक से न्युप्त हो गया था, वही कालान्तर में भारतराष्ट्र की लोकसमृद्धि, लोकवैभव का सर्वस्व संहारक बना, यह ऐतिहासिक तथ्य सभी इतिवृत्तवेत्ता स्वीकार कर रहे हैं। सामान्य–सी भी भ्रान्ति से समुत्पन्ना प्रतिक्रिया कालपरिपाकानन्तर कैसा घातक स्वरूप धारण कर लेती है ?, यदि भावुक मानव प्रतिक्रिया के इस महादुष्परिणाम से अंशतः भी परिचित बना रहे, तो तात्कालिकी भावुकता से समुत्पन्ना अनर्थपरम्परा का निरोध शक्य बन सकता है। किन्तु ?

सर्वस्व घातक इस 'किन्तु ?' का समाधान यथावसर आगे चल कर स्वतएव सम्भव बन जायगा। अभी आख्यान–प्रसङ्ग के समन्वय को लक्ष्य बनाइए। द्रौपदी की भावुकता से समुत्पन्ना दुर्य्योधन की प्रतिक्रिया प्रज्वलित बनी भीम के उपहास से, एवं इस प्रज्वलित प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उस युग के कूटनीतिचतुरचाणक्य लोकनिष्ठ महातन्त्रायी शकुनिराज के द्वारा। इस घृताग्निसमन्वय से वह प्रतिक्रियाज्वाला निःसीम हो पड़ी, जिसके झञ्झावात–समन्विता घातक आक्रमण से भावुक पाण्डुपुत्र अपना आत्मत्राण न कर सके, न कर सके। नीति से, अनीति से, छल से, बल से, द्यूत से, प्रतारणात्मक आर्त्तिभाव प्रहार से, जैसे भी शक्य बन सका, शकुनिप्रमुख दुर्य्योधन के सुसंघटित–सर्वसाधन सुसम्पन्न–तन्त्र ने पाण्डवों का वह समृद्ध वैभव देखते देखते ही अपने अधिकार में कर लिया। और यों जिस त्रैलोक्यसुन्दर सभाभवन के जल–स्थल–व्यतिक्रमात्मक शिल्पकौशलों के माध्यम से पाण्डुपुत्रों नें दुर्य्योधन को प्रतिक्रियानुगामी बनाने की भयावह भ्रान्ति कर डाली थी, वही सभाभवन कालान्तर में कौरवनरेश दुर्य्योधन की यशःपताका से सुमण्डित बन कर अपने पताकाविकम्पनधर्म्म से पाण्डुपुत्रों को अधिकाधिक विकम्पित करने लगा, और साथ ही नैष्ठिक सुयोधन की यशोगाथा का विमलगान करने लगा।

दुर्य्योधन के नीतिकौशल–प्रभाव से पाण्डवों का स्वदेश में शान्ति–स्वस्तिपूर्वक जीवनयापन भी असम्भव बन गया। अमुक सन्धा के व्याजात्मक छल से इन्हें एक सुदीर्घकाल पर्य्यन्त वनवास, एवं अज्ञातवास का अनुगामी बना रहना पड़ा। यों अपनी भावुकता से प्रतारित ये राजपुत्र सम्पूर्ण राजवैभवों से वञ्चित रहते हुए कालान्तर में अपनी वैतालवृत्ति को अन्वर्थ बनाते हुए पुनस्तत्रैव स्वदेश में दीनहीन क्षतविक्षत–आर्त्तदशा में परिवर्त्तित हुए। पाण्डुपुत्रों के अन्यतम हितैषी वासुदेव श्रीकृष्ण को जब यह विदित हुआ कि, कालपुरुष से प्रतारित पाण्डुपुत्र पुनः इन्द्रप्रस्थ परावर्त्तित हो गए हैं, तो अपने सहज आत्मबन्धुभाव से आकर्षितमना बनते हुए द्वारिकाधीश इनकी कुशल–क्षेम–कामना–अभिव्यक्ति के लिए, सान्त्वनाप्रदान के लिए, एवं परोक्षनिष्ठारूप से इनकी भावुकता का उद्‌बोधन कराने के लिए सहसा एक दिन इन्द्रप्रस्थ पधार आए। पाण्डुपुत्रों ने यथासाधन पूर्णश्रद्धा से अपने इस आराध्यदेव का प्रणतभाव

से आतिथ्य किया। परस्पर नीवारपाकादिकडङ्गरीया लक्षणा कुशलक्षेमपरम्परा के आदर्श का सामयिक अनुगमन हुआ। रात्रौ विश्रामवेला में एकान्त में कृष्ण के अनन्य सखा अर्जुन अपनी विगत भुक्त एवं प्रक्रान्त करुणापूर्णा दयनीय स्थिति से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनते हुए श्रीकृष्णआवासशाला की ओर समसम्मुख हुए। अपने इस अन्यतम सखा का आलिङ्गन कर निःशेषरूप से आत्मविभोर बनते हुए, त्रैलोक्यमाधुरी का मानो उपहास–सा ही करने वाले अपने सहज मन्दस्मितभाव से निष्ठापूर्ण उद्घोषरव-पूर्वक सर्वप्रथम वासुदेव ने शान्ति–स्वस्त्ययनात्मक सहज प्रश्न किया कि—

मित्र ! कहो, कुशल तो है ?

(१३)–अर्जुन के द्वारा उपस्थिता समस्यापूर्णा भावुकतापरम्परा—

नितान्त भावुक अर्जुन, परिस्थित्यनुगत कालदोषमाध्यम से महामाया के द्वारा चलितप्रज्ञ बने हुए अर्जुन, अपनी इस कालदोषानुगता आगन्तुक भावुकता के अनुग्रह से भावाविष्ट बने रहने वाले अर्जुन अपने मान्य सखा के उक्त कुशलप्रश्न से सहसा आविष्ट हो पड़े। एवं आवेशपूर्णा वैखरी वाणी का अनुसरण करते हुए अर्जुन निम्नलिखित शब्दावली के माध्यम से अपनी भावुकता अभिव्यक्त करने लगे–

भगवन् ! शास्त्रानुशीलन के द्वारा, श्रौतस्मार्त्तकर्म्मानुष्ठान के द्वारा, वृद्धपरम्परा–आराधना के द्वारा साक्षात्, तथा परम्परया अवलोकित, एवं श्रुत है कि,—"**जो द्विजातिमानव निगमागमशास्त्र-विहित विधि–विधानों का अनुगमन करता हुआ अपनी आत्मबुद्धिमनःशरीरलक्षणा अध्यात्म-संस्था को आश्रमचतुष्टयीपूर्वक नियत वर्णधर्म्म के माध्यम से नियत कर्त्तव्यकर्म्म द्वारा नियमितरूप से संचालित रखता है, निश्चयेन धर्म्मात्मक इस शास्त्रीय कर्म्मानुष्ठान से अपनी अध्यात्मसंस्था को परिपूर्ण बनाता हुआ प्रजापतिसमतुलित वह मानवश्रेष्ठ ऐहलौकिक सुख-समृद्धि का भोक्ता बनता हुआ प्रेत्य पारलौकिक शान्ति–स्वस्ति का सफल अतिथि प्रमाणित हो जाता है**"।

आध्यात्मिक संस्था के स्वायम्भुव **भूतात्मा**, सौरी **बुद्धि**, चान्द्र **मन**, एवं पार्थिव **शरीर**, इन चारों पर्वों की गहन–गभीरतमा व्याख्या शास्त्रकारों ने कुछ भी की हो, उस शास्त्रीय दुरधिगम्या मीमांसा का प्रकृत में अवसर नहीं है। अभी तो सर्वथा लौकिक दृष्टि से ही इस मान्यता के आधार पर ही नम्र निवेदन किया जा रहा है कि, **'धर्म्म–पराक्रम–अनुशासन–दृढ़ता–'** मानव की इन चार पुरुषार्थ-वृत्तियों को, दूसरे शब्दों में चार कर्त्तव्य–कर्म्मभावों को क्रमशः अध्यात्मसंस्था के चारों **'आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर'** आध्यात्मिक पर्वों के लौकिक (एवं अमुक अंशपर्य्यन्त पारमार्थिक भी) स्वरूपसंरक्षक कहा और माना जा सकता है। सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य सत्यस्वरूप स्वायम्भुव आत्मा का स्वरूप-संरक्षक (मूलप्रतिष्ठा) है, तो पर पर आक्रमण कर उस पर को अपने सत्त्व से आक्रान्त करने वाला–

'पराक्रम'–भाव" सौरी बुद्धि का सहज उपोद्वलक है *। अनुशासन–नियमन––संयम–आज्ञावशवर्त्तित्व–आदि एक ही अनुशासनशीलता के विभिन्न स्वरूप हैं, जिन्हें चञ्चल सौम्य मन का अनुग्राहक माना गया है। स्नायु–मज्जा–शिरा–धमन्यादि की दृढ़ता ही दृढ़गात्रता है। यही वह वास्तविक दृढ़ता है, जिसके आधार पर शेष तीनों आध्यात्मिक पर्व सुव्यवस्थित बने रहते हैं। इसी आधार पर तो देवकीनन्दन ! **'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्'** सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। दृढ़निश्चय, दृढ़प्रतिज्ञा का निर्वाह–पालन–दृढ़गात्र–दृढ़ावयव–शरीर से ही तो शक्य बनता है। अतएव इस दृष्टि से इस दृढ़ता, साथ ही दृढ़प्रतिज्ञा का चतुर्थ शरीरपर्व के साथ सम्बन्ध माना जा सकता है।

निवेदन इस सम्बन्ध में यहाँ यही करना है कि, समष्टिरूप से नहीं, तो व्यष्टिरूप से अवश्य ही पाण्डुपुत्रों ने मानव की तथाकथिता पूर्णभावापन्ना अध्यात्मसंस्था को लक्ष्य बनाते हुए ही अब तक जीवन–यापन किया है। चारों ही आध्यात्मिक शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्म्मों का जागरूकता–पूर्वक अनुगनन करते हुए ही आपके इन आत्मीय बन्धुओं ने मानव की 'परिपूर्णता' को अन्वर्थ बनाए रखने का यथाशक्य प्रयास प्रक्रान्त रक्खा है। मानवोचित उन सभी सुव्यवस्थित कर्त्तव्यों का पाण्डुपुत्रोंनें समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा निर्व्याजरूप से अनुसरण करते हुए सर्वात्मना यह प्रमाणित कर दिया है कि,–**"पाण्डुपुत्र वास्तव में धर्म्मपथ पर, अभ्युदयनिःश्रेयसूसाधक शास्त्रीय पथ पर, न्यायपथ पर ही आरूढ हैं"**। यदुनन्दन ! परिस्थितिवश आकुल–व्याकुलमना बन जाने वाले अपने इस न्योक सखा के आवेश पर किसी अन्यथा कल्पना को स्थान नहीं मिलना चाहिये, यह विशेष प्रार्थना है। जैसी सहज अनुभूति हो रही है, प्रणतभाव से अपने आराध्य सखा के सम्मुख प्रस्तुत है। अनुभूति गतार्थ है इसी निवेदन से। अनुभूति का सर्वथा लौकिक विश्लेषण होना चाहिए अर्जुन !। क्या भमवन् वह भी अपेक्षित है ?। **यथाज्ञापयति देवः** !।

आराध्य वासुदेव ! अजातशत्रु धर्म्मराज युधिष्ठिर जैसे धर्म्मनिष्ठ–**धर्म्मात्मा** अतिमानव, क्षात्रनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बने हुए **'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'** शास्त्रादेश का तत्क्षण पालन करने वाले ज्येष्ठवर्ग के अनुशासनवर्त्ती महावीरांश भीम जैसे **पराक्रमी**, सर्वथा सौम्यमूर्त्ति–मनोमूर्त्ति आज्ञानुकारी माद्रीसुत नकुल सहदेव जैसे **अनुशासनानुगामी** व्यक्ति वर्त्तमानयुग में अन्यत्र कहां उपलब्ध होंगे ? अतिमान नहीं कर रहा भगवन् ! इस न्योकसखा की **दृढ़प्रतिज्ञा–दृढ़निष्ठा**–शास्त्रनिष्ठा भी आप से तो

---

* बुद्धिबल **'पराक्रम'** है, मनोबल **'वीर्य्य'** है, एवं शरीरबल **'बल'** है। लौकिक उदाहरण है–**'पुरुष–सिंह–गज'**। गज शरीरबलात्मक 'बल' का उदाहरण है, सिंह मनोबलात्मक 'वीर्य्य' का उदाहरण है, एवं पुरुष बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' का उदाहरण है। तीनों उत्तरोत्तर ज्यायान् हैं। अतएव बलशाली गज को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर देता है, एवं वीर्य्यशाली सिंह को पराक्रमशाली मानव पञ्जरबद्ध कर देता है।

परोक्ष नहीं है। ऐसे सुसमन्वित सुसंघटित शास्त्रनिष्ठ अध्यात्मनिष्ठ आत्मबुद्धिमनःशरीरपर्व–संरक्षक समुदाय का अन्यत्र मिल सकना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है।

भारतीय मानवधर्म्मशास्त्र की ऐसी घोषणा देखी–सुनी गई है कि, यदि मानव सुख–शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है, तो उसे अनन्यनिष्ठा से निर्व्याजबुद्धि से धर्म्मशील, पराक्रमी, अनुशासनानुशासित, एवं दृढ़प्रतिज्ञ बना रहना चाहिए। **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः'** के अनुसार धर्म्मानुशीलता–धर्म्माचरण से मानव जहाँ ऐहलौकिक ऐश्वर्यलक्षण अभ्युदयात्मक सुखोपभोग में समर्थ बन जाता है, वहाँ इसी धर्म्मानुष्ठान–प्रभाव से यह पारलौकिक निःश्रेयसात्मक शान्तानन्द–लाभ में समर्थ बन जाया करता है। शारीरिक बलात्मक 'बल', एवं मनोबलात्मक 'वीर्य्य', इन दोनों बलों से संयुक्त मानव बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' के प्रभाव से उस लौकिक आततायीवर्ग के दर्पदलन में समर्थ बना रहता है, जो दुष्टबुद्धि असन्निष्ठ आततायी मनुष्य धर्म्मशील मानव की सुख–शान्ति में विघ्न उपस्थित करने का जघन्य प्रयत्न किया करते हैं। पारिवारिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, जातीय, तथा राष्ट्रिय समसामयिक अनुशासनों से (राजसत्तानुशासन से) नम्रतापूर्वक अनुशासित रहने वाला मानव क्रमशः अपने परिवार–कुटुम्ब–समाज–जाति एवं राष्ट्र के लौकिक व्यवस्थातन्त्रों को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल होता हुआ इन तन्त्रों का सहयोग अपनी सुव्यवस्था के लिए सहजभाव से प्राप्त करता रहता है। सर्वोपरि अपनी दृढ़-प्रतिज्ञा से समन्वित दृढ़निश्चय के प्रभाव से पुरुषार्थसाधक प्रत्येक शास्त्रीय, तथा लौकिक कर्म्मानुष्ठान में निश्चयात्मिका सफलता प्राप्त करता हुआ मानव कभी किसी साधन–परिग्रह–सुविधा–प्राप्ति–से भी वञ्चित नहीं रहता, एवं किसी क्षेत्र में असफल भी नहीं बनता। इस प्रकार **"धरर्म-पराक्रम-अनुशासन-दृढप्रतिज्ञालक्षण दृढनिश्चय"** इन चारों शास्त्रीय आदेशों का अनुगमन करने वाला मानव सदा पूर्ण शान्त–सुखी–लोकवैभवसम्पन्न–असपत्न–बना रहता हुआ अपने मानव जीवन को सर्वात्मना कृतकृत्य बना लेता है, जिसके प्रतीक युधिष्ठिर–भीम माद्रीसुत, एवं आपका यह न्योक सखा (अर्जुन) माने जा सकते हैं। धर्म्मानुगत युधिष्ठिर, पराक्रमानुगत भीम, अनुशासनानुगत माद्रीसुत, एवं दृढ़प्रतिज्ञानुगत आपका यह स्नेही अर्जुन, पाँचों ही अन्तःकरण से मनसा--वाचा--कर्म्मणा तथोक्त शास्त्रादेश का अबतक अक्षरशः अनुगमन करते चले आरहे हैं। किन्तु ?......

किन्तु परिणाम इस शास्त्रादेशानुगति के आपके इन पाण्डवों को अबतक क्या क्या और कैसे कैसे भोगने पड़े हैं ?, और कौन जाने, अथवा तो आप ही जानें–भविष्य में इस धर्म्मासक्ति–शास्त्रासक्ति के और क्या क्या परिणाम–दुष्परिणाम कैसे कैसे हमें भोगने पड़ेंगे ?, यह एक महती समस्या आज आपके इस श्रद्धाशील उस अर्जुन को आकुल व्याकुल बना रही है। सर्वविध सुखशान्तिप्रवर्त्तक तथा-कथित शास्त्रीय आदेशों का ज्यों ज्यों हमनें आवेशपूर्वक अनुगमन किया, त्यों त्यों उत्तरोत्तर हम अधिकाधिक दुःखी–संत्रस्त बनते गए। सांसारिक सुसमृद्ध वैभव की कथा तो दूर रही, इस शास्त्रनिष्ठा के निःसीम अनुग्रह से हम तो अपने जन्मसिद्ध शरीरयात्रानिर्वाहक पैतृक दायाद भोग से भी मक्षिकावत्

बहिष्कृत कर दिए गए आततायीवर्ग के द्वारा। अनन्त कृतज्ञतापरम्परा समर्पित है सधन्यवाद इस आपकी शास्त्रनिष्ठा के प्रति, धर्म्माचरण के प्रति, जिसके लोकोत्तर अनुग्रह से आज हम वर्त्तमान उस स्थिति में उपस्थित हो गए हैं, जिस स्थिति के स्मरणमात्र से भी सहृदय मानव विकम्पित हो पड़ता है।

सुनने का अनुग्रह करेंगे भगवन्! इसी प्रक्रान्त प्रसङ्ग में पाण्डवों के कुशलक्षेमात्मक समाधान से ही सम्बन्धित एक दूसरे प्रत्यक्ष दृष्टिकोण का स्वरूपविश्लेषण ?। यदि हाँ, तो सुनिए! सज्जीभूत बन कर सुनिए! सम्भव है यह पावनगाथा आपके **'परित्राणाय साधूनाम्'** इस उद्घोष को बलप्रदान कर सके। पाण्डवों के ही वंशबन्धुगण दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों की आत्मगाथा, विमलगाथा से सम्भवतः वासुदेव अपरिचित न होंगे, जिन्होंने जगतीतल पर अवतीर्ण होने के अव्यवहितोत्तरक्षण से ही अपना अकाण्ड-ताण्डवलक्षण सृष्टिशान्तिविघातक ताण्डवनृत्य आरम्भ करते हुए संहारक रुद्र के ताण्डवनृत्य को भी स्मृतिगर्भ में विलीन कर दिया है। बालक्रीड़ाप्रसङ्ग जैसे सर्वथा शुद्ध–भावुक–रागद्वेषशून्य–पावन वातावरण से ही वह ताण्डव आरम्भ होगया था उन आततायी कौरवों का। बालक्रीडाप्रसङ्ग पर हमारे ज्येष्ठभ्राता भीम को सरोवर में निष्प्राण बना कर निमज्जित कर देने की कौरवबालकों की अश्रुतपूर्वा अदृष्टपूर्वा धर्म्मगाथा ? की पावनस्मृति ? सम्भवतः आप के स्मृतिपटल से अद्यावधि विलुप्त नहीं हुई होगी ?। विश्वमानव की सभ्यता–संस्कृति–आदर्श–धर्म्म–आदि को आमूलचूड़ विकम्पित कर देने वाली निगमविरुद्ध द्यूतक्रीड़ा के सुअवसर ? पर घटित विघटित की जाने वाली उन धर्म्मधुरीणों ? की धर्म्मानुगता ?, हाँ, विशुद्धधर्म्मानुगता सर्वथा सत्यनिष्ठ ? शकुनिराजसङ्केतालंकृता द्यूतपद्धति के उद्वेगकर इतिहास की पावनस्मृति भी सम्भवतः मेरे भगवान् अब तक विस्मृत न कर सके होंगे ?। सम्भवतः क्यों, निश्चय ही अपने वंशबन्धु पाण्डवों की शीतनिवृत्तिमात्र के लिए, इस करुणापूर्णा शुभ वासना को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए ही आयोजित 'लाक्षागृहदाह' की पावनगाथा भी आपने अपने अनन्यभक्त विदुर से सुन ही रक्खी होगी ?। परमपरार्द्धमित भी गणनाङ्क निःशेष बन रहे हैं मेरे वासुदेव कृष्ण! उन कौरवबन्धुओं की इस प्रकार की पावन–गाथा परम्परा का यशोगान करने के लिए। यही है उन नैष्ठिक दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों की धर्म्मशीलता–धर्म्मपरायणता का लोकोत्तर इतिहास, जिसे स्मृत्वा स्मृत्वा अवश्य ही भगवान् भी लोकमानववत् **'रोमहर्षश्च जायते'** वैखरी अभिव्यक्त किए बिना न रह सकेंगे, नहीं रह सकेंगे।

यह तो हुआ आत्मानुगता धर्म्मगाथा की तत्सम्बन्धिनी पावनगाथा का संक्षिप्त इतिवृत्त। दूसरी बुद्ध्यनुगता पराक्रमविभूति के भी शतशः सहस्रशः सफल उदाहरण उनके सम्बन्ध में उपस्थित किए जा सकते हैं। द्रुपदराज के गोवंश का स्तेयकर्म्म जैसे पावन ? कर्म्म के पराक्रममाध्यम से अपहरण करने के लिए निष्फल प्रयास करने के अतिरिक्त उनके पराक्रम का ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है ? यदि उस समय भावुक धर्म्मराज अनुग्रह न करते, तो विश्वविख्यात बन जाता कौरवों का वह पराक्रम, जिसके बल पर उन्होने गन्धर्व्वराज चित्ररथ के ऐकान्तिक उपवन–विहार में हस्तक्षेप करने की जघन्य

चेष्टा की थी। द्यूतशिरोमणि चाटुकार शकुनि के गुप्तमन्त्रणारूप प्रेरणाबल के आधार पर आयोजित द्यूतक्रीड़ा के छल से किसी के सहजसिद्ध धर्म्मसम्मत सत्त्वाधिकार के अपहरण करने का ही नाम यदि पराक्रम है, तो फिर योगमायासमावृत भगवान्! आसुरी माया की परिभाषा क्या की जायगी ?। असंख्य उदाहरणों में से उद्धृत ये कुछ एक उदाहरण ही कौरवों के पराक्रम के यशःपूर्ण इतिहास को अभिव्यक्त करने के लिए सम्भवतः आपकी दृष्टि में पर्य्याप्त बन जायँगे।

तीसरे मनोनिबन्धन 'अनुशासन', आदेशपालन का इतिहास तो हमारी अपेक्षा कौरवों के वे मातापिता ही सम्यग्रूपेण उपवर्णित कर सकेंगे, जिनके आदेशों का सुपुत्र कौरव अक्षरशः अनुगमन करते रहते थे। **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'** इत्यादि अनुशासनात्मक औपनिषद आदेशों का पदे-पदे उल्लंघन करने में पूर्ण कुशल दुर्य्योधन ने अपने वृद्ध अन्ध पिता धृतराष्ट्र के सामयिक उद्बोधन-सूत्रों (चेतावनी) का, आदेशोपदेशों का किस सीमापर्य्यन्त अनुगमन किया ?, अनुशासनसम्बन्धी ये सम्पूर्ण मनोभाव अन्तर्य्यामी भगवान् के लिए सम्भवतः परोक्ष न होंगे। क्षमा करेंगे भगवन् इस कालप्रतारित अर्जुन को, **'अतिथिदेवो भव'** इस श्रौत अनुशासन का सुफल ? तो स्वयं वासुदेव जैसे महामान्य अतिथि को भी .... । **'आचार्य देवो भव'** आदेश के उल्लंघनरूप महासत्कार से गुरु द्रोणाचार्य भी अनेक बार आत्मतुष्टि का अनुभव कर चुके होंगे ?। गुरुजनों की आदेशानुशासन-परम्परा को गजनिमीलिकान्याय से सर्वथा निराकृत करने वाले दुर्य्योधन की–**'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन माधव !'** घोषणा का रहस्यवेत्ता आपके अतिरिक्त और कौन होगा ?। हाँ, शरीरानुगता दृढनिश्चयात्मिका दृढ़निष्ठा अवश्य ही दुर्य्योधन की लोकोत्तर मानी जानी चाहिए, जिसके आधार पर उसका एकमात्र मूलमन्त्र था—**'शरीरं वा पातयामि, कार्य्यं वा साधयामि'** यह। क्या इस दुराग्रह-रूपा दृढ़निष्ठा का 'दृढ़प्रतिज्ञा' जैसे सत्त्वभाव से आप समतुलन करेंगे ?। कदापि नहीं, सर्वथा नहीं। तदित्थं, पाण्डवों की दिशा से सर्वथा विपरीत धर्म्म–पराक्रम–अनुशासन–दृढ़प्रतिज्ञा--चारों शास्त्रीय-निष्ठाओं--मर्य्यादाओं--आदेशोपदेशों--विधिविधानों का प्रत्यक्षरूप से पदे–पदे, स्थाने–स्थाने, क्षणे–क्षणे उल्लंघन करते रहने वाले दुर्य्योधनप्रमुख कौरव आज स्वच्छन्दरूप से साम्राज्य--सुखोपभोग के सफल उपभोक्ता प्रमाणित हो रहे हैं।

"शास्त्रनिष्ठ–आस्थाश्रद्धापूर्वक नैगमिक वर्णाश्रमनिबन्धन-स्वधर्म्मात्मक-नियत-कर्म्मनिष्ठ सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों की ऐकान्तिक दुःखानुगति, एवं शास्त्रविमुख–आस्थाश्रद्धाशून्य–उच्छृंखलकर्म्मरत स्वार्थलिप्सु आततायी सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों की आत्यन्तिक सुखानुगति" क्या यह वैषम्य विधि का विचित्र विमोहक सिद्धान्त नहीं है ?। ऐसे विचित्र, आस्तिक श्रद्धालु मानव का विमोहक, इसकी आस्था–श्रद्धा को निःशेषरूप से विगलित कर देने वाला वैषम्य क्या भगवान् से आज परोक्ष रह गया है ?। ऐसी स्थिति में, ऐसे विचित्र--विषम--विधिविधानों के समुपस्थित रहते हुए आज हमारे आत्मीय सखा मानो हमारा ही नहीं, अपितु शास्त्रनिष्ठा, धर्म्मनिष्ठा, निगमनिष्ठा, आचारनिष्ठा,आदर्श-

निष्ठा, परलोकनिष्ठा, आदि का उपहास–सा ही करते हुए अपने आर्त्तावस्थापन्न अश्रुपूर्णाकुलेक्षण इस न्योकसखा से प्रश्न कर रहे हैं कि,–**'मित्र ! सब कुशल तो है ?'** ।

भगवन् ! यही है आपकी आत्मबन्धुस्नेहमूला कुशलप्रश्नजिज्ञासा का संक्षिप्त, किन्तु नितान्त उद्वेगकर समाधान, जिसके गर्भ में आपके इस प्रिय सखा अर्जुन की ओर से परोक्षरूपेण निहित महती समस्या आज एक सर्वसमर्थ समाधानकर्त्ता अतिमानव के सम्मुख उपस्थित हो रही है । इस परोक्षसमस्या समुपस्थिति के साथ साथ ही अर्जुन आज स्वयं अपने अन्यतम हितैषी वासुदेव श्रीकृष्ण से धृष्टतापूर्वक यह प्रतिप्रश्न कर रहा है कि, भगवन् ! अपने आत्मबन्धु पाण्डवों की तथोपवर्णित, एवं लोकसंग्रहदृष्ट्या लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा भी कर्णाकर्णिपरम्परया श्रुत–उपश्रुत वर्त्तमान दीन–हीन–दुःखार्त्त दशा–दुर्दशा से निश्चयेन निरतिशयेन रूपेण अपने अन्तर्जगत् में क्षुब्धवत्–आर्त्तवत् बने रहते हुए मेरे अन्यतम स्नेही वासुदेव !

"आप कुशलक्षेमपूर्वक तो हैं ?"

(१४)–कृष्णार्जुनप्रश्नोत्तरपरम्परा—

अर्जुन की ओर से, महामायात्मक मोहपाशनिबन्धन परिस्थितिलक्षण कालदोष से भावुक बने हुए नितान्त क्षुब्ध–आर्त्त–अश्रुपूर्णाकुलेक्षण चलितप्रज्ञ अर्जुन की ओर से समुपस्थित समस्या के आधार पर समाधानदिशा के अमुक रहस्यपूर्ण (निष्ठापूर्ण) दृष्टिकोण को परोक्षरूपेण लक्ष्य बनाते हुए अन्तर्यामी वासुदेव कृष्ण अपने भावुक सखा की तात्कालिक भावुकता का लोकसंग्रहदृष्ट्या समर्थन करते हुए गम्भीर वाणी से उद्बोधन कराते हुए प्रहसन्निव कहने लगे, मित्र अर्जुन ! तुमने अपनी समस्या–महती समस्याओं–के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ भी उद्गार प्रकट किए, उसका अक्षर अक्षर यथार्थ है, सत्य है । अवश्य ही सहस्रकलोपेत सूर्य्यवत् पाण्डव सर्वगुणसम्पन्न ही हैं, एवं कौरव सर्वदोषसम्पन्न ही हैं । पाँचों पाण्डवों में से प्रत्येक अपने अपने गुण–योग्यता–शक्ति–वीर्य्य–पराक्रम–साहस–धृति–धर्म्म–परायणता–आदि आदि सद्विभूतियों के सम्बन्ध में आज सम्पूर्ण विश्व की मानवता के लिए आदर्श प्रमाणित हो रहे हैं । ठीक इसके विपरीत दुर्य्योधन की, तथा तत्सहयोगी दुःशासन–शकुनि–आदि असन्निष्ठ मानवों की अवगुण–अयोग्यता–भीरुता–अधर्म्माचरण–आदिलक्षणा आसुरी माया से आज समस्त विश्व की मानवता विकम्पित है । पाण्डवों तथा कौरवों के सम्बन्ध में समस्यारूप से समुपस्थित किया जाने वाला सम्पूर्ण तथ्य प्रामाणिक है, अतएव सर्वात्मना अनुमोदनीय है । इस सम्बन्ध में तुमने जो कुछ भी कहा, अक्षरशः यथार्थ है, अवधेय है । इस यथार्थता के साथ साथ ही तुम्हारा यह कथन भी सर्वात्मना सर्वसम्मत, अतएव सर्वथा मान्य ही माना जायगा कि, **"शास्त्रसिद्ध गुणविभूति के अनुगमन से जहाँ मानव अनुदिन श्वः श्वः अभ्युदय–निश्रेयस्स्वरूप सुख–शान्ति का भोक्ता बना रहता है, वहाँ शास्त्रविरुद्ध दोषपरम्परा के अनुगमन से मानव प्रतिदिन दुःखोपभोक्ता ही प्रमाणित होता रहता है"** । इसी गुण–दोषात्मक दृष्टिबिन्दु के माध्यम से तुमने आवेशपूर्वक जो यह

अभिव्यक्त किया कि,–"**यदि ऐसा है, तो सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव दुःखी क्यों ?, एवं सर्वदोषान्वित भी कौरव सुखी क्यों**" इस अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ही हमें तुम से आज कुछ कहना है तुम्हारी मान्यता का समादर करते हुए ही ।

हमें यह कहना पड़ेगा कि, तुम्हारी इत्थंभूता अभिव्यक्ति नितान्त भावुकतापूर्ण है । कारण स्पष्ट है इस तात्कालिक भावुकता का । अपनी भुक्त–वर्त्तमान संघर्षपरम्परा के निबिड़ निग्रहपाश से विमोहित तुम्हारी सहज धृति आज पलायित हो रही है । अतएव क्षणमात्र भी पूर्वापर के समन्वय–पर्य्यवेक्षणमूला धृति का अनुगमन तुम्हारे लिए अशक्य बन गया है । यदि धृतिलेश के माध्यम से भी तुम अपनी समस्या पर दृष्टिपात कर लेते, तो तुम स्वयं अपनी समस्या का सफल समाधान प्राप्त कर लेते । यदि तुम से ऐसा भी सम्भव न था, तो अपनी आभ्यन्तर धृति से तुम कुछ समय और कालपुरुष की तो प्रतीक्षा करते । कालपुरुष–प्रतीक्षा निकट-भविष्य में ही तुम्हारी सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान कर देती । तुम्हें कालान्तर में यह अनुभव हो जाता कि, सत्परिणाम सत् ही होता है, एवं असत् परिणाम असत् ही रहता है । आस्तां तावत् । जो कुछ हो पड़ा, उसकी भावुकतापूर्णा निरर्थक चर्वणा से अपने आपको उत्पीड़ित करते रहना अब निष्प्रयोजन है । अब तो तुमने आवेशपूर्वक परिस्थिति वैसी उत्पन्न कर दी है, सर्वथा लौकिक–भावुकता के आवेश से तुमने जो समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित कर दी है, सर्वथा लौकिक–निष्ठा के आधार पर ही हमें तुम्हारा तात्कालिक समाधान करना ही पड़ेगा ।

मानते हैं, सर्वात्मना अनुभव कर रहे हैं कि, पाण्डव सर्वगुणसम्पन्न हैं, एवं कौरव सर्वदोषसम्पन्न । किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही क्या हम तुम्हारी इस मान्यता का इस रूप से विरोध नहीं कर सकते कि, "सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों में एक वैसा महतो महीयान् महादोष आज अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उनमें समाविष्ट हो पड़ा है, जिस उस एक ही बलवत्तम महादोष ने सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को सन्त्रस्त बना डाला है, एवं जिस उस एक ही दोष से उनके सम्पूर्ण गुण भी दोषरूप में परिणत हो गए हैं" । अपने उस अज्ञात महादोष से ही पाण्डवों ने अपनी अथ से इतिपर्य्यन्त दुःख–सन्ताप–शोकानुशोकपरम्परा का जानबूझ कर आमन्त्रण किया है ।

ठीक इसके विपरीत, "सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों में एक वैसा महतो महीयान् महागुण अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उनका मूलाधार बन गया है, जिस उस एक ही बलवत्तम महागुण ने सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों को वैभवशाली बना दिया है, एवं जिस उस एक ही गुण से उनके सम्पूर्ण दोष भी गुणरूप में परिणत प्रतीत हो रहे हैं" । अपने उस सर्वथा ज्ञात महागुण से ही कौरवों ने अपनी अथ से इतिपर्य्यन्त सुख–समृद्धि–राज्यवैभव-परम्परा का सर्वथा अवधानपूर्वक अर्जन कर लिया है ।

अर्जुन ! सहज भावुक पार्थ ! अपने भावावेश के कारण तुम सहसा अभी ही हम से प्रश्न कर बैठोगे कि, वह कौन सा वैसा महादोष है, जिसने पाण्डवों के सम्पूर्ण गुणों को दोषरूप में परिणत कर

इन्हें **'आद्यन्त का दुःखी'** बना डाला ? । एवं वह ऐसा कौनसा महागुण है, जिसने कौरवों के सम्पूर्ण दोषों को गुणरूप में परिणत करते हुए उन्हें **'आद्यन्त का सुखी'** बना डाला ? । प्रश्न का समाधान अवश्य ही आरम्भ में तुझ भावुक अर्जुन को अमुक अंशों में अस्तव्यस्त-सा, अज्ञात-सा, अटपटा-सा समविषमसमस्या-निराकरण के स्थान में समस्यावृद्धि का ही कारण प्रतीत होगा। किन्तु यह निश्चित है कि, कालान्तर में धृतिपूर्वक पूर्वापरविचार-विवेकविमर्शपूर्वक जब भी प्रस्तुत समाधान के आध्यात्मिक मौलिक रहस्य की ओर तेरा ध्यान आकर्षित होगा, अवश्य ही इस समाधान से आत्मतुष्ट बनता हुआ तू लक्ष्यारूढ़ हो जायगा।

नैगमिक ब्राह्मणग्रन्थों में उपवर्णित सुप्रसिद्ध **'भावुकता'** ही पाण्डवों का वह सब से बड़ा लौकिक दोष माना जायगा, जिसने पाण्डवों की स्वाभाविक लोकनिष्ठा को आवृत-आच्छादित कर तद्द्वारा पाण्डवों की गुणविभूति को अन्तर्मुख बनाते हुए इन्हें आद्यन्त का दुःखी बना डाला। एवं नैगमिक ग्रन्थों में हीं उपवर्णित सुप्रसिद्ध **'निष्ठा'** ही कौरवों का वह सब से बड़ा लौकिक गुण माना जायगा, जिसने कौरवों की स्वाभाविक लोकभावुकता को आवृत कर तद्द्वारा कौरवों की दोषपरम्परा को अन्तर्मुख बनाते हुए उन्हें आद्यन्त का सुखी बना दिया। अर्जुन ! होगया न इस समाधान से तेरी समस्या का समाधान ?।

परिस्थिति की विषमता से आक्रान्तमना क्लान्त-श्रान्त-विभ्रान्त अर्जुन भगवान् की ओर से समुपस्थित समस्या-समाधान के आध्यात्मिक-तथ्य का तत्काल समन्वय करने में असमर्थ बनता हुआ अपने आवेश पर नियन्त्रण न कर सका, न कर सका। परिणामस्वरूप अपनी तात्कालिक चलितप्रज्ञा के आवेश से स्वयं ही भावुकता-निष्ठा-द्वन्द्व का लौकिक-बाह्य-आपातरमणीय समन्वय करने की भ्रान्ति से आविष्टमना अर्जुन सहसा इन उद्गारों का अनुगमन कर ही तो बैठा कि—

भगवन् ! आपकी दृष्टि में सम्भवतः 'भावुकता' का यही तात्पर्य्य होगा कि, **"भावुकता एक वैसा दोष है, जो मानव को दृढ़निश्चयी, दृढ़प्रतिज्ञ, कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बनने देता'**। दूसरे शब्दों में भावुक मानव स्वदृढ़निश्चय को, स्वप्रतिज्ञा को, अपने कर्त्तव्यकर्म्म को कार्य्यरूप में परिणत करने में क्योंकि असमर्थ-असफल रहता है, अतएव ऐसा भावुक मानव लोकवैभव-लोकसमृद्धि से बञ्चित बना रह जाता है। उधर आपकी दृष्टि में 'निष्ठा' का तात्पर्य्य भी इसके अतिरिक्त और क्या होगा कि, **"निष्ठा एक वैसा गुण है, जो मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ-कर्त्तव्यपरायण बनाए रहता है"**। दूसरे शब्दों में नैष्ठिक मानव अपने दृढ़ निश्चय को, अनन्य लक्ष्य को क्योंकि कालप्रतीक्षा किए बिना अविलम्ब सोत्साह कार्य्यरूप में परिणत कर लेता है, अतएव वह लोकवैभव-समृद्धि से समन्वित बन जाता है। निष्कर्षतः यदि आपकी दृष्टि में निष्ठा-भावुकता-शब्दों की यही परिभाषा है कि—

"दृढ़-निश्चयात्मक प्रतिज्ञापालन का प्रतिबन्धक-निरोधक दोष ही भावुकता है, एवं दृढ़-निश्चयात्मक प्रतिज्ञापालन-कर्त्तव्यपालन का समर्थक--उत्तेजक--गुण ही निष्ठा है"

तो भगवन् ! क्षमा करेंगे इस धृष्टता के लिए मुझे आप कि, पाण्डवों पर यह कलङ्क स्वप्न में भी नहीं लगाया जाना चाहिये, नहीं लगाया जा सकता। कौन कहता है कि, पाण्डव पूर्वलक्षणयुक्त भावुकता-दोष के अनुगामी हैं ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! कौन यह कहने का दुःसाहस कर सकता है कि, पाण्डव दृढनिश्चयी नहीं हैं, किंवा कर्त्तव्यपालक नहीं हैं ?। यह आरोप, यह दोषारोपण, भगवन् क्षमा करेंगे, आपकी ओर से हो रहा है। यदि दृढ़प्रतिज्ञ दृढ़निश्चयी आपके इस स्नेही अर्जुन के सम्मुख पाण्डवों के सम्बन्ध में दूसरा कोई इस प्रकार की आलोचना करने का उपक्रम करता, तो तत्क्षण उसे········।

यह कौन नहीं जानता कि, धर्म्मराज युधिष्ठिर ने धर्म्मसम्मता इस प्रतिज्ञापालन, इस कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति–पूर्ति के लिए ही हास-परिहासपूर्वक वनवासकष्टपरम्परा का सहन कर लिया। अतिशय विनम्र शब्दों में–जबकि प्रसङ्ग उपस्थित हो ही गया है, तो इस अनुवर्त्मा को भी सम्भवतः इस सम्बन्ध में यह निवेदन कर देने का अवसर दिया जा सकता है कि, एकमात्र दृढ़निश्चयलक्षण दृढ़निष्ठागुण के संरक्षण के लिए ही, किसी समय में किसी कारणानुबन्ध से परस्पर सन्धापूर्वक की गई प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए ही आततायी तस्कर के द्वारा अपहृत ब्राह्मण के गोधन के प्रसङ्ग में धर्म्मराज युधिष्ठिर के एकान्तकक्ष में निहित अपने गाण्डीव के आदान-माध्यम से इस स्नेही ने उपहासपूर्वक ही 'वननिवास' अङ्गीकृत कर लिया था। अपने इसी दृढ़निश्चय के आधार पर गुरुवर द्रोणाचार्य के प्रतिद्वन्द्वी द्रुपदराज का गर्व खर्व किया गया था। इसी अनन्यनिष्ठा के अनुग्रह से स्वयम्बर में मत्स्यवेध के द्वारा पाञ्चाली का वरण सम्भव बना, शस्त्रास्त्र-परीक्षणप्रसङ्ग में चटकग्रीवामात्र लक्ष्य बनी, गुरुद्रोण का मत्स्याक्रमण से त्राण हुआ। अलमतिपल्लवितेन। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, उदाहरणशतसहस्रपरम्पराओं के द्वारा आपके सम्मुख यह प्रमाणित करने की धृष्टता की जा सकती है कि, पाण्डवों का दृढ़निश्चय, प्रतिज्ञा-पालन, अनन्यकर्त्तव्यनिष्ठानुगति, जिसे आप 'निष्ठारूप' महागुण घोषित कर रहे हैं, वह तो पाण्डवों के लिए सर्वथा सहजभाव है।

ठीक इसके विपरीत जिन दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों को आप जिस निष्ठागुण से सुविभूषित ? घोषित करते हुए हमारे उद्बोधन का अनुग्रह अभिव्यक्त कर रहे हैं, उन दुष्टबुद्धि असन्मानवाधमों के सम्बन्ध में शतशः सहस्रशः वैसे उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनसे यह सर्व्वात्मना प्रमाणित हो जाता है कि, कौरववर्ग से अधिक लक्ष्यच्युत–प्रतिज्ञाविभञ्जक–असत्यपरायण–स्खलितवचन–धूर्त्त–वञ्चक–पर-प्रतारक मानववर्ग का अन्यत्र मिल सकना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। सुसंकृत–सुसभ्य–धर्म्मनिष्ठ वृद्ध ऋषि–मुनि–नीतिज्ञ मानवश्रेष्ठसुविभूषित कुरुकुल की राजसभा में आर्य्यनारी द्रुपदसुता पाञ्चाली के नारीसुलभ लज्जापहरण का निर्लज्ज उद्वेगकर जघन्य प्रयास, सर्वथा छल–कपटपूर्वक द्यूतकर्म्म में विजयलाभ, गुह्यमन्त्रणा द्वारा लाक्षागृहनिर्म्माण का निकृष्टतम आयोजन, द्रुपदराज के गोधन जैसे पावनतम धन के अपहरण की कुत्सित मनोवृत्ति, न्यायसिद्ध दायाद का धूर्त्ततामाध्यम से अपहरण, अपनी अल्पावस्था में ही अपने वंशजों को विषगर्त्तानुगत बनाने जैसा महाघातक कर्म्म, अपने प्रज्ञाचक्षु पिता का

पदे पदे तिरस्कार, आदि आदि उदाहरण क्या कौरवों के दृढ़निश्चयात्मक–प्रतिज्ञापालनात्मक–निष्ठारूप गुण के महत्त्वपूर्ण लोकप्रशस्त ? निदर्शन हैं ? । पुनः पुनः क्षमा याचना करता हुआ आपका यह भावुक ? अर्जुन इस सम्बन्ध में विवश बन कर यही आत्मनिवेदन करेगा कि, वासुदेव ने कौरवों, तथा पाण्डवों की प्रक्रान्त जटिल समस्या का 'भावुकता', तथा 'निष्ठा' नामक दो आकर्षक शब्दमात्रों के तथाकथित सम्भावित तात्पर्य्यों के आधार पर जो समस्यानिराकरण अर्जुन के सम्मुख रखने का निःसीम अनुग्रह किया, अर्जुन इससे सर्वात्मना तो क्या अंशतः भी सन्तुष्ट ही क्या नहीं है, अपितु विशेषरूप से उद्विग्न है । किसी भी दशा में स्वप्न में भी पाण्डव इस अभियोगपरम्परा के लाञ्छन के लक्ष्य बनने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं है, एवं कौरव त्रिकाल में भी कथमपि इस अभियोग परम्परा से अपना आत्मत्राण नहीं कर सकते ।

अर्जुन की, भावाविष्ट सौम्य अर्जुन की तुष्टिवञ्चिता तथोपवर्णिता रुष्टि के आवेशपूर्ण भावुक उद्गारों के प्रति प्रहसन्निव वासुदेव श्रीकृष्ण उपलालनभाव के माध्यम से अपने इस सौम्य सखा को सम्बोधित करते हुए कहने लगे कि, अर्जुन ! प्रतीत होता है हमारे समस्या–समाधान से तू क्षुब्ध–रुष्ट बन गया है । ठीक ही है, जानते थे हम इस परिणाम को पहिले से ही । यही तो भावुक मानव की भावुकता का प्रत्यक्ष स्वरूप है, जिसका निमित्त बन रहा है हमारा प्रिय सखा अर्जुन । भावुक मानव अपनी भावुकतापूर्णा मान्यता के विरुद्ध एक अक्षर भी सुनना नहीं चाहता । कठिन है ऐसे उस भावुक का मनोऽनुरञ्जन, जो स्वमान्यता के विरुद्ध कुछ भी सहन न करता हुआ बड़े ही भावावेशके साथ उस समाधान के खण्डन में प्रवृत्त हो जाता है । मण्डन इस भावुक का धर्म्म है भी कहाँ । केवल खण्डनपरायण, निषेधप्रिय भावुक मण्डनात्मिका विधि से तबतक अनुप्राणित नहीं किया जा सकता, जबतक कि वह स्वयं मण्डनात्मिका विधि का साक्षात्कार न कर ले । तदवधिपर्य्यन्त तो भावुक मानव सहसा आवेश में आते हुए यों हीं क्षणे-क्षणे पदे-पदे तुष्ट एवं रुष्ट होते रहते हैं । इसी आधार पर तो हमें यह कहना पड़ रहा है, बार बार कहना पड़ रहा है कि, इस तात्कालिक भावावेशलक्षणा मानसिक भावुकता ने ही सहज निष्ठाबुद्धि को अभिभूत करते हुए सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को आद्यन्त का दुःखी बना डाला है ।

निष्ठागुण का महतो महीयान् फल है–**'प्रत्यक्ष से कभी भी प्रभावित न होना'** । नैष्ठिक मानव प्रत्यक्ष से प्रभावित होना जानता ही नहीं । वह एक ओर जहाँ अपनी बड़ी से बड़ी स्तुति का, यशोवर्णन का, गरिमागाथाश्रवण का, कीर्तिउपवर्णन का सहजभाव से सर्वात्मना निगरण कर जाता है, वहाँ दूसरी ओर अपनी बड़ी से बड़ी निन्दा–अपयशख्यापन–लघिमागाथाश्रवण–अपकीर्त्तिउपवर्णन को भी उसी सहज भाव से अपने विपुलोदरमहिमागर्भ में निमज्जित कर लेता है । ऐसा यह नैष्ठिक महामानव, महामहिम–महाआशययुक्त–महासत्त्व मानव प्रत्यक्ष में घटित विघटित उत्तम–मध्यमाधम किसी भी प्रकार की श्रेष्ठ–कनिष्ठ–ही–स्थिति-परिस्थिति से यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं होता । न इसे अनुरूप स्थिति (अनुकूल परिस्थिति) चलितप्रज्ञ बना सकती, एवं नाहीं इसे प्रतिकूल स्थिति (विपरीत परिस्थिति) स्खलित

कर सकती। उभयथा सम्पूर्ण उच्चावच स्थिति-परिस्थितियों में–**'वृक्ष इव स्तब्धस्तिष्ठति'** को अन्वर्थ बनाता हुआ **'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति'** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार यह नैष्ठिक मानव लोकसंग्रहमात्र के लिए अपनी पारिवारिक–सामाजिक–एवं राष्ट्रिय उच्चावच अनुकूल–प्रतिकूल स्थिति-परिस्थितियों के अनुरूप ही अपने आप को प्रदर्शित करता हुआ जरीजागर्त्ति, सदा सर्वदा जागरूक बना रहता है।

कारण स्पष्ट है। निष्ठावान् मानव का अनन्य लक्ष्य बना रहता है **'स्व'** भाव। भावुक मानव जहाँ **'पर'** भावानुगत बना रहता हुआ परद्रष्टा रहता है, वहाँ नैष्ठिक मानव 'स्व' भावानुगत बनता हुआ 'स्वद्रष्टा' है। केवल अपने आपके दर्शन–पर्य्यवेक्षण का ही इसे ध्यान रहता है, जबकि परभावानुगत भावुक मानव सदा परदर्शन–पर्य्यवेक्षण–आलोचना–आदि में हीं अहोरात्र चिन्तानिमग्न बना रहता है। भावुक जहाँ अहोरात्र 'पर' तन्त्रचिन्तानिमग्न बना रहता हुआ पर उत्तरदायित्व से लक्ष्यच्युत रहता है, वहाँ नैष्ठिक को सदा अपने उत्तरदायित्वरूप 'स्व' तन्त्रसंरक्षण का ही ध्यान रहता है। वर्त्तमान-कालात्मिका 'स्थितिबिन्दु' ही इस नैष्ठिक की 'स्व' भावानुगता मूलप्रतिष्ठा है। स्वभावानुगत–वर्त्तमान-कालात्मक इस स्वरूपसंरक्षक स्थितिबिन्दुमात्र के संरक्षण में हीं अनन्य-से प्रयत्नशील बने रहने वाले नैष्ठिक मानव को अपनी वर्त्तमानकालानुगता 'स्थिति' (स्वरूपस्थिति) की रक्षा के लिए सतत जागरूक भाव से भूत, एवं भविष्यत्, दोनों पूर्वापर कालस्थितियों को सदा लक्ष्यभूमि बनाए रखना पड़ता है। अतीत, और आगामी (भविष्य) का परिणामवाद ही क्योंकि इसकी वर्तमान स्थिति का स्वरूप-संरक्षण करने की क्षमता रखता है, इसी रक्षासाधन के के बल पर इसकी वर्त्तमानस्थितिस्वरूप 'स्व' भाव की रक्षा विकास-पुष्टि–अभिवृद्धि अवलम्बित है। यही कारण है कि, त्रिकालनिष्ठ–भूतभवत्भविष्यत्–निष्ठ–वर्त्तमानकालानुगामी यह नैष्ठिक मानव भूत–भविष्यत्कालवञ्चिता पूर्वापरपरिस्थितिविगलिता, अतएव उभयाधारशून्या, अतएव च सर्वात्मना अप्रतिष्ठिता केवल वर्त्तमानकालानुगता तात्कालिकभाव-मात्रा प्रत्यक्षस्थिति के आवेशपूर्ण तात्कालिक प्रभाव से सदा अपने आपका सन्त्राण करता रहता है, सदा बचता रहता है अपने लक्षीभूत कर्म्मसिद्धि के लिए प्रत्यक्षानुगत वाच्यावाच्यवादपरम्पराओं से। संयुक्त रखता है यह नैष्ठिक अपने आपको अतीत भविष्यदनुगामी परिणामवाद के साथ, परिस्थितिवाद के साथ। परिस्थितिवादानुगामी नैष्ठिक की, ऐसे स्वद्रष्टा एकान्तनैष्ठिक महामानव की सफलता निश्चित है। इसलिए इसकी सफलता निश्चित है कि—,

इस 'स्व' (आत्मवृद्धि) तन्त्रमात्रैकनिष्ठ स्वनिष्ठ मानव के शब्दकोष में 'परार्थ–परमार्थ–परोपकार–परमोपकार' आदि भावुक शब्दों का प्रवेश सर्वात्मना निषिद्ध बन रहा है। कोई महत्त्व नहीं है इसकी दृष्टि में इस आपातरमणीय–प्रत्यक्ष–प्रभावोत्पादक–अतएव नितान्त भावुकतापरिपूर्ण–कर्णप्रियमात्र–मनः–शरीरविमोहक–परोपकारादि मोहक शब्दजाल का। हाँ, लोकानुगता भावुकता के स्वरूप–संरक्षण के लिए यह नैष्ठिक एक सफल अभिनेता की भाँति इन मोहक शब्दों का गतानुगतिकन्याय से अभिनय अवश्य

करता रहता है। इसका यह अभिनयकौशल उसी सीमापर्य्यन्त प्रक्रान्त बना रहता है, जिस सीमापर्य्यन्त इस कौशल से परम्परया प्रत्यक्ष, तथा परोक्षरूप से इसका 'स्वार्थसाधन' सम्भव बना रहता है। 'स्वार्थ' की परिपूर्णता के उत्तरक्षण में स्वार्थप्रतिबन्धक, किंवा स्वार्थविघातक परमार्थादि मोहजाल का अभिनय, अभिनयकौशलानुगता लोकसंग्राहिका मधुरवाणी–वेशभूषा आदि का बहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर देता है। कहना न होगा कि, भूतभविष्यदनुगामी परिणामवादी, प्रत्यक्ष से प्रभावित न होने वाला, परिस्थिति के अनुसार अपने आपको एक कुशल अभिनेता की भाँति लोकरुचिलक्षणा–परिवर्त्तनशीला–भावुकता के अनुरूप नवीन नवीन भाव–भङ्गियों में परिणत करते रहने की अभिनयकला में कुशल ऐसा मानव, नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ सदा लौकिक सुख–समृद्धि का सफल उपभोक्ता बना रहता है।

अर्जुन ! अवधानपूर्वक समस्या को लक्ष्य बनाते हुए ही तुझे हमारे समाधान–तथ्य को लक्ष्य बनाना चाहिए। तू निःसंशय बुद्धिमान् है, प्रज्ञाशील है, आस्थाश्रद्धापरायण है, निगमागमशास्त्रभक्त है। अतएव स्वयं तुझे ही इस समस्या–समाधान के अन्वेषण में प्रवृत्त होना है। हमने तो सूत्ररूप से संकेतमात्र कर दिया है। स्वयं तुझे ही अपने आप से ही धैर्य्यपूर्वक स्थितप्रज्ञ बन कर यह प्रश्न करना चाहिए कि, सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों ने क्या तथालक्षणा निष्ठा का अनुगमन किया है ?। क्या पाण्डवों ने कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने से अपने आपको बचाया है ?। क्या कभी तुम लोगों ने अतीत एवं भविष्यत् के परिणामों को लक्ष्य बनाते हुए अपने वर्त्तमान को लक्ष्यबिन्दु बनाने का कष्ट उठाया है !। क्या कभी तुमने भावुकता का संवरण करते हुए अपने आपको सुदीर्घकाल–पर्य्यन्त दृढ़प्रतिज्ञ रहने में सफलता प्राप्त की है ?। क्या पाण्डुनन्दनों ने कभी अपने निश्चित लक्ष्य–साधन के लिए अनन्यनिष्ठापूर्वक आत्मार्पण किया है ?। यदि इत्यादि प्रश्नों का समाधान निषेध रूप से ही तुम्हें प्राप्त हो, तो उस अवस्था में तो अवनतशिरस्क बन कर यह स्वीकार कर लेने में सम्भवतः तुम्हें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, वास्तव में सर्वगुणसुविभूषित भी पाण्डव भावुकता दोष से नित्य आक्रान्त हैं, अतएव आद्यन्त के दुःखी हैं। एवं सर्वदोष–संयुक्त भी कौरव निष्ठागुण–सुविभूषित हैं, अतएव आद्यन्त के सुखी हैं।

अपनी तात्कालिक भावुकता के आवेश को अभी तक उपशान्त करने में असमर्थ बने रहते हुए भावाविष्ट भावुक अर्जुन भगवान् के द्वारा परोक्ष–प्रत्यक्षरूप से समुपस्थित तथोक्त समाधान से सन्तुष्ट हो ही कैसे सकते थे। परिणामस्वरूप भगवद्द्वारा उपस्थित समाधान से सुशान्त–सन्तुष्ट होने के स्थान में अत्यधिक उग्र–आविष्ट बन गए भावुक अर्जुन महाभाग और इसी उद्वेगकर अमर्य्यादित आवेश को अभिव्यक्त करते हुए यह प्रतिप्रश्न कर ही तो बैठे आविष्ट प्रतिक्रियावादी अर्जुन कि, भगवन् ! मैंने अत्यन्त ही धैर्य्य से स्थिरप्रज्ञा के माध्यम से आपके कथनानुसार सभी प्रश्न अपने अन्तर्जगत् में मीमांस्य बना डाले। किन्तु मुझे तो इस प्रश्नपरम्परा में यत्किञ्चित् भी तो तथ्य प्रतीत नहीं हुआ। आप पूज्य हैं, आराध्य हैं, पाण्डवों के अन्यतम हितैषी हैं, एवं इस स्नेही के प्रति अनन्य करुणादृष्टि रखने वाले

अर्जुन के हैं उपास्य देव । इस नैसर्गिक मान्यता श्रद्धा के आकर्षण से नतमस्तक होकर आपके सुझाव को, पाण्डवों के प्रति आपकी ओर से उपस्थित अभियोगपरम्परा को स्वीकार कर लेता है यह अर्जुन । किन्तु भगवन्.....।

सावधान अर्जुन ! अब सीमा का अतिक्रमण हो रहा है । हमारी ऐसी धारणा थी कि, अभी सद्भाग्य से पाण्डवों में इतनी प्रज्ञा शेष है, जिसके आधार पर वे अपने हिताहित का धैर्य्यपूर्वक पूर्वापर विमर्श करने की क्षमता सम्भवतः रख रहे हैं । किन्तु आज हमने यह देख लिया, सर्वात्मना अनुभव कर लिया कि, दुःखपरम्परा के आघात-प्रत्याघातों नें पाण्डवों के स्थिरप्रज्ञाबल को, स्थितप्रज्ञता को, सद्-सद्विवेकशालिनी विवेकबुद्धि को सर्वथा अभिभूत बना दिया है । पूर्वापरविवेकसंस्कारशून्य-पशुसमानधर्म्मा यथाजात विमूढ़ इन्द्रियपरायण लोकमानव जिस प्रकार अपने बाह्य भौतिक विषयसंस्कारासक्तिलिप्त-विचिकित्स्य-इन्द्रिय मन के भावुकतापूर्ण प्रत्यक्षभाव के परितोष के लिए सर्वथा स्थूल-स्थूलतर-सुस्थूलतम बाह्य-भौतिक-प्रत्यक्षात्मक उदाहरणों के बिना सन्तुष्ट नहीं हो सकता, बुद्धिगम्या प्रज्ञासमन्विता परोक्ष विषयपरीक्षणप्रणाली जिस प्रकार इस लौकिक मानव का समाधान करने में तटस्थ बनी रहती है, दुर्दैववश आज वैसी ही दशा, किंवा दुर्दशा तुम पाण्डवों के मनोराज्य की हो रही है । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! पाण्डवों को आज एक बुद्धिशून्य यथाजात ग्रामीण विमूढ़ मानव की भाँति अपनी मन-स्तुष्टि के लिए प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्षात्मक भौतिक उदाहरणों की अपेक्षा हो रही है, यह जान कर आज हम स्तब्ध हो गए हैं । क्या पाण्डव यह चाहते हैं कि, हम उनके सम्मुख उन्हें सर्वथा विमूढ़ मानव मानते हुए लौकिक प्रत्यक्ष उदाहरणों के द्वारा हम उनका अनुरञ्जन करें ? । दुरधिगम्य असम्प्रज्ञात काल-प्रभाव से समुत्पन्न पाण्डुपुत्रों की, विशेषतः भावाविष्ट प्रतिक्रियाशील अर्जुन की इस आत्यन्तिक पतना-वस्था को कालपुरुष के उत्तरदायित्त्व पर ही अर्पित करते हुए उचित था कि, यह अप्रिय प्रसङ्ग यहीं निःशेष कर दिया जाता । किन्तु परिणामानुगता निष्ठा हमें इसके लिए प्रकृत्या विवश बना रही है कि, तुष्यद्दुर्जनन्यायेन एक बार, एवं अन्तिम बार उस प्रत्यक्षानुगता भौतिक-पद्धति के माध्यम से भी पाण्डु-पुत्रों की भावुकता का संरक्षण कर लेने का प्रयत्न और कर लिया जाय, जिस प्रत्यक्षपद्धति का सम्बन्ध प्रत्यक्षप्रभावानुगत यथाजात मानव के ही दृष्टिबिन्दु से माना गया है ।

(१५)-पाण्डुपुत्रों की भावुकता का प्रथमोदाहरण—

सुनो अर्जुन ! अवधानपूर्वक सुनो, समझो, और तदनन्तर जिस भी तथ्य का अनुगमन कर सको, करो । पाण्डवों की भावुकता से सम्बन्धित हमें वैसे कतिपय प्रत्यक्ष उदाहरणों की ओर ही तुम्हारा ध्यान आकर्षित कर देना है, जिनके माध्यम से तुम स्वयं अपने अभिनिवेश की सामयिकता की मीमांसा के द्वारा यह अनुभव कर सको कि, वास्तव में पाण्डुपुत्र सर्वथा भावुक हैं, वैसे ऐकान्तिक भावुक हैं, जिनको भावुकता ने हीं जिन्हें लौकिक--धार्म्मिक--सामाजिक--पारिवारिक--आदि सभी क्षेत्रों में आत्मविमुग्ध बनाया है । लक्ष्य बनाओ निम्नलिखित प्रथमोदाहरण को—

(१)—"द्यूतकर्म के लिए अपने से श्रेष्ठ वयोवृद्ध किसी कुलपुरुष की ओर से आग्रहात्मक--आदेशात्मक--आमन्त्रण--निमन्त्रण प्राप्त होने पर अवश्य ही आदिष्ट आमन्त्रित व्यक्ति को उसमें योगदान करना चाहिए" इस नैतिक लोकधर्म ? के संरक्षण के लिए धर्म्मशील युधिष्ठिर महात्मा विदुर के द्वारा प्रेषित कुलवृद्ध पुत्रमोहाविष्ट धृतराष्ट्र के द्युतकर्म्मरति--आमन्त्रण के प्रति भावुकतावश आकर्षित होते हुए इस जघन्य कर्म्म में बन्धुगण सहित समाविष्ट हो ही तो गए*। थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, शास्त्रविरुद्ध द्यूतकर्म्म की निकृष्ट व्यञ्जना, घातक परिणाम से सुपरिचित ÷ भी रहते हुए युधिष्ठिर धृतराष्ट्रप्रदत्त आदेश की मान्यतामात्र के माध्यम से लोकसंग्रहबुद्ध्या द्यूतकर्म्म में प्रवृत्त होते हुए इस लोकानुगता प्रत्यक्षदृष्टि से अवश्य ही लोकनिष्ठा के समर्थक प्रमाणित हो रहे हैं। किन्तु प्रत्यक्षानुगता

---

*"ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व।
सादृश्यतां भ्रातृभिः सार्द्धमेत्य सुहृत्–द्यूतं वर्त्ततामत्र चेति ॥"।
एवमुक्त्वा विदुरं धर्म्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम्।
प्रायात्–श्वो भूते सगणः सानुयात्रः सहस्त्रीभिर्द्रौपदीमादिकृत्वा ॥

—महाभारत सभापर्व ५७–५८ अ०।

युधिष्ठिर उवाच—

÷द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते बुध्यमानः।
किंवा भवान् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥

विदुर उवाच—

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वन् श्रेय इहाचरस्व ॥

(म० भा० स० ५८ अ०)।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।

—ऋक्संहिता १०।३४।१३।

द्यूतकर्म्म का मूल मानसिक दृष्टिकोण है, **"विशेष परिश्रम के बिना ही स्वल्प द्रव्य निक्षेप से बहुलाभ'**। इसी आकर्षण से तो भावुक मानव द्यूतकर्म्म में प्रवृत्त होता हुआ अपनी सर्वश्रेष्ठ 'मानव' उपाधि को **'कितव'** (जुआरी–जुआबाज) जैसी जघन्य निकृष्टतम उपाधि से आवृत कर लेता है। ऐसे कितव का उद्बोधन कराती हुई ही ऋक्श्रुति कह रही है कि, हे कितव ! तुम अक्षों (फाँसों) से द्यूत-

लोकनीति (किन्तु धर्म्मशून्या अनीति ही) के भावुकतापूर्ण प्रत्यक्ष वातावरण से प्रभावित होने वाले युधिष्ठिर यह विस्मृत कर बैठते हैं कि, भारतीय नीति के साथ (राजनीति, एवं समाजनीति के साथ) ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से आबद्ध धर्म्मनीति का यह प्रबलतम आग्रह है कि, अभ्युदय निःश्रेयसकामुक शास्त्रनिष्ठ मानव को, धार्मिक मानव को उसी लोकनीति का लोकसंग्रहदृष्ट्या समर्थन करना चाहिए, जो लोकनीति धर्म्मनीति को ही अपना मूलाधार बनाए रहती हो। यदि कहीं दोनों नीतियों में संघर्ष, किंवा प्रतिद्वन्द्विता का अवसर आ जाय, तो उस स्थिति में धर्म्मनीति का संग्रह करते हुए धर्म्मविरोधिनी–धर्म्मनिरपेक्षा लोकनीति की सर्वथा उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। लोकनीति से सम्बद्ध द्यूतकर्म्म प्रत्यक्ष में जब आम्नायविरुद्ध है, लोकशिष्टमान्यता से भी विरुद्ध है, **'अक्षैर्मा दीव्येत्'** रूप से जब विस्पष्ट शब्दों में द्यूतकर्म्म निषिद्ध घोषित हुआ है, तो ऐसी स्थिति में द्यूतकर्म्मामन्त्रण–निबन्धना, अतएव शास्त्रविरुद्धा ऐसी लोकनीति का लोकसंग्रहात्मिका लोकनिष्ठा का समर्थन करना क्या युधिष्ठिर जैसे धर्म्मनिष्ठ के लिए उचित था ?। युधिष्ठिर की इस धर्म्मविरुद्धा द्यूतकर्म्मनिष्ठा–उपनाम नितान्त भावुकता से जो अनर्थपरम्परा समुद्भूत हो पड़ी, उसका समर्थन हमारे दृढ़प्रतिज्ञ–दृढ़निष्ठ अर्जुन किस आधार पर कर सकेंगे ?।

नीति और धर्म्म, दोनों का निर्विरोध समसमन्वय ही यहाँ का लोकोत्तर वैशिष्ट्य रहा है। सीमातिक्रान्ता नीति दण्डित हुई है यहाँ धर्म के द्वारा, एवं उन्मर्य्याद धर्म्म का नियमन हुआ है यहाँ नीति के द्वारा। नीति का जहाँ केवल मनःशरीरानुगत लौकिक विश्वानुबन्धी आधिभौतिक अभ्युदय से सम्बन्ध है, वहाँ धर्म्म का आत्मबुद्धिसमन्वित अलौकिक विश्वेश्वरानुबन्धी आध्यात्मिक निःश्रेयस् से सम्बन्ध है। नीतिधर्म्मसमन्विता उभयरूपा नीति ही, किंवा धर्म्म ही अभ्युदयनिःश्रेयस्, दोनों का संसाधक बनता है। संघर्षावस्था में लोकमूला नीति इसलिए उपेक्षणीय बन जाती है कि, परलोकमूलक निःश्रेयससाधक धर्म्म

कर्म्म मत करो, अपितु अपनी इस द्यूतवासना–एक लगाना, और सौ पानारूपा वासना-को चरितार्थ करने के लिए कृषि कर्म्म का ही अनुगमन करो, जो कि कृषिरूप अन्नवित्त धातुद्रव्य (सुवर्णरजतादि) की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। (अधिक धातुवित्त की लालसा इसीलिए तो है तुम्हारी कि, तुम उस भोग्य सम्पत्ति से समन्वित बन सको, जिसके लोकात्मकरूप अन्न–गोपशु जाया आदि ही माने गए हैं। हम तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि) इस कृषिकर्म्म में गौ–जाया–अन्नादि सम्पूर्ण लोकविभूतियाँ निहित हैं। प्रेरणाप्रदाता सविता ने मुझे यही रहस्य बतलाया है कि, विश्व का सब से बड़ा कितव तो वह सविता है, जो कृषि के द्वारा कृषिकर्म्मात्मक मानव कितव की प्रतिस्पर्धा में सदा हारता ही रहता है। एक लगाओ, और सौ पाओ, एक अन्नबीज भूमि में न्युप्त करो, और बदले में सौ बालियाँ प्राप्त करो। तात्पर्य्य, कृषि–गोरक्षादि द्वारा शरीरयात्रा निर्वाह करना उत्तम, किन्तु अक्षों से द्यूतकर्म्म करना सर्वनाश का कारण।

अपने शाश्वतभाव से विशेष महत्त्व रखता है। अवश्य ही पूर्ण स्वस्थता के लिए दोनों पर्वों का (बुद्ध्यनुगत आत्मपर्व, एवं मनोऽनुगत शरीरपर्व, दोनों का) स्वरूपसंरक्षण अपेक्षित है। अतएव नीतियुक्त धर्म्म, किंवा धर्म्मयुक्ता नीति का अनुगमन ही उभयपर्वस्वस्थतासंसाधक बनता हुआ अनुगमनीय है। किन्तु दोनों में विशेष मूल्य क्योंकि आत्मपर्व का है। अतएव संघर्षावस्था में नीति उपेक्षणीय–त्याज्या ही घोषित हुई है। इस शास्त्रीय धर्म्मसम्मत दृष्टिकोण से युधिष्ठिर का यह कर्त्तव्य था कि, शिष्टजनानुगता आमन्त्रणात्मिका नीति, एवं श्रौत आदेशसिद्ध धर्म्म, दोनों की संघर्षावस्था में धर्म्मशून्य नीतिपथ की उपेक्षा कर महात्मा विदुर के–**'जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं-श्रेय इहाचरस्व'** इस परोक्ष संकेत के अनुसार न्यायसिद्ध धर्मपथ का अनुगमन ही अपने लिए अनिवार्य्य घोषित कर देते। और यों परिणामानुगता इस धर्म्मनिष्ठा–वास्तविक धर्म्मनिष्ठा के अनुग्रह से न तो युधिष्ठिर को लोकनिन्दा का अनुगमन करना पड़ता, एवं न अपने सर्वनाश के आमन्त्रण के लिए ही विवश बनना पड़ता। इसी प्रथमोदाहरण के सम्बन्ध में कुछ और भी सामयिक स्पष्टीकरण। सुन सकोगे तुम इसे ?

'अभ्युपगमवाद' के आश्रय से थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, युधिष्ठिर की मुख्य प्रतिष्ठाभूमि क्योंकि राजधर्म्म था, अतएव तदनुगत नीतिमार्ग की प्रधानता ही इनका सहज लक्ष्य बना रहना चाहिए था। धर्म्म का जहाँ युधिष्ठिर के केवल व्यक्तितन्त्र से सम्बन्ध था, वहाँ नीति का सम्पूर्ण राष्ट्रतन्त्र से सम्बन्ध था। द्यूत–आमन्त्रण की अस्वीकृति से उस युग के राष्ट्र के मुख्य कर्णधार ज्येष्ठ–वृद्धपुरुष धृतराष्ट्र की अप्रसन्नता स्वाभाविक बन जाती। इस अप्रसन्नता के दुष्परिणामस्वरूप अवश्य ही पारिवारिक-कौटुम्बिक–सामाजिक–तन्त्रदोषपरम्परा के द्वारा राष्ट्रतन्त्र–राष्ट्रनीति के विकम्पित हो जाने का भय स्वाभाविक बन जाता। इस भयपरम्परा से समष्टि के अनिष्ट की आशङ्का सहज बन जाती, जो व्यष्टि (वैय्यक्तिक) के अनिष्ट की अपेक्षा उसी प्रकार विशेष महत्त्व रखती है, जैसे कि नीति और धर्म्म, दोनों में धर्म्म विशेष महत्व रखने वाला प्रमाणित किया गया है। इसी तारतम्य का विमर्श करते हुए व्यापक हित के माध्यम से यदि युधिष्ठिर द्यूतानुगमन कर लेते हैं, तो यह इनका कौनसा अपराध है ?।

अपराध है, और अक्षम्य अपराध है। इसलिए कि विदुरमाध्यम से होने वाले इस द्यूतकर्म्म-आमन्त्रण का राष्ट्रनीति से कोई सम्बन्ध नही है। एवं नाहीं राजनीति के मूलप्रवर्त्तक शिष्ट आचार्यों की ओर से कहीं भी इस निन्द्यकर्म्म का किसी भी रूप से समर्थन हुआ है। यह तो असत्यपथ माध्यम द्वारा उपलालित दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन के बलवत्तर आग्रह–दुराग्रह से सम्बन्धित पुत्रमोहान्धकाराभिनिविष्ट धृतराष्ट्र की व्यक्तिगता–व्यष्टिरूपा पुत्रैषणा से समन्वित सर्वनाशक आमन्त्रण है, जिसकी सर्वनाशकता विदुर को आमन्त्रण देते हुए स्वयं धृतराष्ट्र ने स्वीकार की है। सुनो ! स्वयं दुर्य्योधन एवं धृतराष्ट्र शकुनि के ही प्रश्नोत्तर के द्वारा द्यूतकर्म्म की व्यक्तिगत भावना का स्वरूप–विश्लेषण—

दुर्य्योधन उवाच—नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्य्यं संशयो मे भविष्यति।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शिष्ये वा निहतो युधि ॥

एतादृशस्य किं मे ह्यजीवितेन विशांपते !
वर्द्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥
शकुनिरुवाच—यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यते, तां हरिष्यामि 'द्यूतेन' जयतांवर ! ॥
दुर्य्योधन उवाच—अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्त्तु मक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र ! संग्रन्थनं कलहस्यातियाति ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथञ्चित् सृजेदसीन्निशितान् सायकांश्च ॥
—महाभारत सभापर्व ५५ अ०

स्वयं युधिष्ठिर ने–'द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते०' इत्यादि रूप से द्यूतको निन्द्य ही अनुभूत किया भी है। यह सब कुछ जानते हुए भी युधिष्ठिर का इस व्यक्तिस्वार्थमूलक आमन्त्रण को स्वीकार कर लेना इससे अधिक और कुछ भी महत्त्व नहीं रखता कि, युधिष्ठिर सहज भावुक थे, कोमलप्रज्ञ थे, मन्द-प्रज्ञ थे। अतएव तात्कालिक प्रत्यक्ष वातावरण के प्रभाव से ये अपने आपको बचाने में नितान्त असमर्थ थे। और यही इनका इनकी धर्म्मनिष्ठा के साथ आमूलचूड़ आबद्ध रहने वाला सर्वस्वघातक भावुकता-निबन्धन 'भीरुता' दोष था, जिसके कारण इन्हें यदि **'धर्म्मभीरु'** भी कह दिया जाय, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी। धर्म्मनिष्ठ होना एक पक्ष है, धर्म्मभीरु होना अन्य पक्ष है। दोनों दृष्टिकोणों में अहोरात्र का अन्तर है। धर्म्मनिष्ठा का आधार सर्वत्र 'निष्ठा' है, एवं धर्म्मभीरुता का आधार सर्वत्र भावुकता है। एक ओर धर्म्मनिष्ठा के आधार पर जहाँ युधिष्ठिर द्यूतकार्य की सर्वस्वघातकता का अनुभव करते हुए इसे निन्द्य घोषित कर रहे हैं, वहाँ वे ही युधिष्ठिर धर्म्मभीरुता के अनुग्रह से षड्यन्त्रमूला सर्वथा छलपूर्णा **'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'** के असामयिक नैतिक सिद्धान्त के अनुवर्त्मा बन जाते हैं। यही तो है भावुकतामूला प्रत्यक्षानुगति का, किंवा प्रत्यक्षमूला भावुकतानुगति का ज्वलन्त उदाहरण।

शकुनि और दुर्योधन के सम्मिलित षड्यन्त्र से प्रभावित प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र का एकान्तनिष्ठ अतिमानव महात्मा विदुर के प्रति भ्रातामन्त्रणमाध्यम के लिए बलवदनुशासन परद्रष्टा युधिष्ठिर का **'श्रेय इहाचरस्व'** विदुर के इस परोक्ष निरोध के अनन्तर भी द्यूत के लिए बड़े ही समारम्भ से विनिर्मित * सभामण्डप में बन्धुगण सहित प्रवेश, तत्र द्यूतावेशवश सर्वस्व का समर्पण, और अन्ततोगत्वा

---

* सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्य्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ॥
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतामेतद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥
कालेनाल्पेनान्यनिष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥
—म० स० ५७ अ० ।

सर्वथा दोषविरहिता वरप्रसूता आर्य्यनारी पाञ्चाली तक का इस जघन्य द्यूतकर्म्म में नितान्त भावुकतापूर्ण उत्सर्ग। कभी इतिहास इस अपराधपरम्परा के लिए भावुक युधिष्ठिर को क्षमाप्रदान नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। अवश्य ही यावच्चन्द्रदिवाकरौ यह घटना, किंवा निःसीम दुर्घटना मानवता के लिए कलङ्क ही प्रमाणित बनी रहेगी। यह भी स्पष्टतम है कि, इस शक्ति-अवमानरूप महत्पाप से निकट-भविष्य में ही भारतवर्ष का समस्त राष्ट्रवैभव युद्धाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में आहुत हो जायगा। फिर भले ही अर्जुन ! तुम पाण्डवों की कल्पित दृढ़निष्ठा का कल्पित यशोगान ही क्यों न सतत करते रहो। क्यों अर्जुन ! पाण्डवों की भावुकता के सम्बन्ध में यह प्रत्यक्ष प्रथमोदाहरण अनुरूप प्रतीत हुआ न तुम्हें ?।

—१—

१६-पाण्डुपुत्रों की भावुकता का द्वितीयोदाहरण

(२)—द्वितीय प्रासङ्गिक उदाहरण का उपक्रम हमें इस रूप से करना पड़ेगा कि, मानवता-शान्त मानवता-में विघ्न उपस्थित करने वाला घातक-क्रूरकर्म्मा-दुष्टबुद्धि-परपीड़क मानव शास्त्रों में किंवा **'आततायी'** माना गया है। ऐसे आततायी के सम्बन्ध में शास्त्रने यह निश्चित निर्णय अभिव्यक्त है कि, "यदि कभी आततायी सम्मुख आ पड़े, तो अणुमात्र भी विचार किए विना अविलम्ब तत्क्षण उसे निःशेष कर देना चाहिए, भले ही वह कोई ही क्यों न हो" ÷। **"तस्य पुण्यप्रदो वधः-मन्युस्तं मन्युमृच्छति"** इत्यादि के अनुसार जिस एक दुष्ट आततायी के मार देने से अनेक सुजनों का संरक्षण सम्भव बन जाता हो, वैसे दुष्ट को तो इस लिए मार ही डालना चाहिए कि, उसका पाप ही उस की मृत्यु का कारण बनता है। इस प्रकार एवंविध आततायी के लिए 'क्षमाप्रदान' जैसा कोई भी आदेश शास्त्र में हमें अद्यावधि कुत्रापि उपलब्ध नहीं हुआ है। अपितु सर्वत्र इसे निर्म्मूल बना देने वाले विधि-विधान ही उपश्रुत हुए हैं। घटना को घटित हुए शताब्दियाँ सहस्राब्दियाँ व्यतीत नहीं हुई। कल परसों की ही तो घटना है। क्या तुम्हें स्मरण नहीं अर्जुन उस घटना का ?।

अपनी द्वादशवार्षिकी वनयात्रा के प्रसङ्ग में द्वैतवन में अपने अस्थायी निवास गृहादि निर्म्मित करते हुए समीपवर्त्तिनी पर्वत-कन्दराओं में निवास करने वाले वेदवेत्ता तपस्वियों की आराधना करते हुए जब तुमलोग किसी समय यहाँ विचरण कर रहे थे। द्वैतवन निवासी एक ब्राह्मण सहसा इन्द्रप्रस्थ पहुँचता है, तुम पाण्डवों की वन्य दुर्दशा से धृतराष्ट्र का उद्बोधन कराने के लिए। श्रीभ्रष्ट-राज्यभ्रष्ट

÷ **गुरुं वा बालं वा वृद्धं वा अपि वेदान्तपारगम्।**
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

बने हुए पाण्डवों की असह्य–अश्रुतपूर्व दुःखगाथाओं का धृतराष्ट्र के सम्मुख उपवर्णन करने लगता है। तत्रोपस्थित कर्ण–दुर्य्योधन को इस प्रसङ्ग से तुम्हारे निवास का पता लग जाता है। अविलम्ब एक नवीन योजना सम्पन्न बन जाती है। ये कौरव इस नीच कार्य के लिए सन्नद्ध हो पड़ते हैं कि, "इस दीन–हीन–असमर्थ दशा से सन्त्रस्त पाण्डवों की आत्मनोवेदना को सुसमृद्ध करने के लिए अपना सुसमृद्ध ऐश्वर्य्य प्रदर्शित किया जाय, और यदि अवसर मिले तो पाण्डवों को वहीं नामशेषावस्था में भी परिणत कर दिया जाय।" धृतराष्ट्र के सम्मुख **'घोषयात्रा'** को निमित्त घोषित करते हुए कौरवगण शस्त्रास्त्र-सैन्य से सुसज्जित होकर द्वैतवन पहुँच ही तो जाते हैं। वहाँ सहसा कौरवों के दुर्भाग्य से, साथ ही तुम्हारे सौभाग्य से द्वैतवन के सुशान्त एकान्त वातावरण में वनविहार के लिए समागत चित्ररथप्रमुख गन्धर्वपरिवार के साथ कौरवोंका संघर्ष हो पड़ता है। इस संघर्ष में कौरव गन्धर्वों से पराजित हो जाते हैं। महापराक्रमी गन्धर्वराज चित्ररथ के द्वारा कौरवप्रमुख दुर्य्योधनदुःशासनादि बन्दी बना कर पाशबद्ध कर दिए जाते हैं। इस आकस्मिक आपत्ति से सन्त्राण प्राप्त करने में असमर्थ दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन, किन्तु अवसर–वादी नैष्ठिक सुयोधन, आततायी धार्त्तराष्ट्र तुम्हारे ज्येष्ठभ्राता धर्म्मराज युधिष्ठिर की शरण में पहुँच जाता है। परिणाम क्या होता है ?, यह तुम जानते ही हो।

भावुक युधिष्ठिर के भावनामय अन्तःकरण में इस आततायी के प्रति असामयिक शास्त्रविरुद्ध बन्धुप्रेम उमड़ पड़ता है। 'हमारे वंशज इस समय कष्ट में हैं' इस तात्कालिक प्रत्यक्ष स्थिति के साथ साथ क्या यह मीमांसा कर लेना सामयिक न था कि, अतीत में इन वंशबन्धुओं ने हमारा कैसा इष्ट साधन किया है ?, एवं वर्त्तमान में भी किस महती कृपावृष्टि के लिए ये ससैन्य द्वैतवन में पधारे हैं ?, तथा भविष्य में इन असन्नैष्ठिकों के द्वारा पाण्डवों के प्रति कौन सा अनुग्रहस्रोत प्रवाहित होने वाला है ?। जबकि अतीत, और वर्त्तमान, दोनों ही काल इन वंशबन्धुओं के सम्बन्ध में कटु अनुभव अभिव्यक्त कर रहे हैं, तो भविष्यत्काल किस परिणाम का सर्जन करेगा ?, प्रश्न भी स्वतः ही समाहित हो जाता है। फिर यह कैसी बन्धुप्रेमाभिव्यक्ति ? , आततायी का यह कैसा व्यामोहक आपातरणीय संरक्षण ?। अब निकट भविष्य में ही सुफल भोग करना तुम लोग इस बन्धु प्रेम का। क्या यही है तुम्हारी निष्ठा का उदाहरण ? स्मरण है तुम्हें अर्जुन ! उस अवस्था में नैष्ठिक पराक्रमी भीम ने क्या उद्‌गार प्रकट किये थे ?, जिन सामयिक उद्बोधन सूत्रों की 'शरणागतिरूप व्याजधर्म्म' के माध्यम से भावुक युधिष्ठिर ने उपेक्षा कर दी थी। भीमने कहा था—

महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥

—म० वनपर्व २४२ अ०, १५ श्लो०।

(१७)–पाण्डुपुत्रों की भावुकता का तृतीयोदाहरण—

स्थालीपुलाकन्यायेन पर्य्याप्त है दो ही उदाहरण पाण्डवों की भावुकता के उद्बोधन के लिए,

यदि इन से पाण्डवों का उद्बोधन सम्भव बन सके, तो। किन्तु·········। 'किन्तु' इसलिए कि, पाण्डवों की भावुकता का उद्बोधन न हो सका, न हो सका। युधिष्ठिरादि अन्य पाण्डुपुत्रों की कथा तो छोड़िये। सम्भव है उनका उद्बोधन किसी ने कराया ही न हो। अतएव वे अपनी भावुकता को ही निष्ठा मानने की भ्रान्ति करते हुए सदा अनर्थ-परम्परा का ही सर्जन करते रहे हों। किन्तु भगवान् के सम्मुख बड़े आवेश के साथ महता समारम्भेण अपनी निष्ठा का यशोगान करने वाले प्रज्ञावादी उस भावुक अर्जुन का तो सदा के लिए उद्बोधन हो जाना चाहिए था, जिसे युद्धारम्भ में भगवान् ने राजर्षि-विद्यारहस्यविश्लेषणपूर्वक गीता के रूप में 'बुद्धियोगनिष्ठा' का अनुगामी बना दिया था, एवं तत्फल-स्वरूप उपदेशान्त में–'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !**' रूप से अर्जुन ने स्वयं अपने मुखसे अपनी उद्बोधननिष्ठा को अभिव्यक्त कर दिया था। किन्तु·········

अर्जुन की इस निष्ठा के वास्तविक तथ्य से सभी महाभारतेतिहासग्रन्थप्रेमी सुपरिचित हैं। तभी तो हमने इस भावुकतानिबन्ध का माध्यम पाँचों पाण्डवों में से भावुकमूर्द्धन्य–भावुकशिरोमणि अर्जुन को ही माना है। गीतोपदेशश्रवणानन्तर '**करिष्ये वचनं तव**' इस दृढ़ निष्ठा प्रतिज्ञा पर आरूढ़ अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। एवं आगे चल कर पुनः अर्जुन अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश से आविष्ट बन जाते हैं, जिस इस अर्जुन की सनातन भावुकता के असंख्य उदाहरणों में से केवल एक रोचक निदर्शन इस भावुक-निबन्धा की ओर से पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

युधिष्ठिर की द्यूतकर्म्मनिबन्धना महती भावुकता के अनुग्रह से कौरवपाण्डवों में युद्ध प्रक्रान्त हो गया है। प्रथम सेनानी भारत के सौभाग्यसूर्य्य अतिमानव भीष्मपितामह अस्त हो गए हैं। तदनन्तर सेनानी बनने वाले गुरुवर द्रोणाचार्य्य भी आज अपने प्रिय शिष्यों से मानों गुरु दक्षिणा के रूप में ही शराबिद्ध होते हुए कीनाशनिकेतनातिथि बनते हुए–'**उभाभ्यां च समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि**' घोषणा को स्मृति–गर्भ में विलीन कर गए हैं। प्रातःस्मरणीय महामानव सूर्य्यपुत्र अङ्गराज कर्ण आज सेनापति-पद को समलङ्कृत कर रहे हैं। अतुलित पराक्रमशाली कर्ण के सुतीक्ष्ण–अमोघ–अजस्रशरवर्षण से आज पाण्डवसेना '**कर्णशराभितप्तः**' रूपेण अग्निज्वालावत् दग्ध होती जा रही है, जली जा रही है। सेना के साथ साथ सभी सेनाप्रमुख रथी–महारथी योद्धा, यहाँ तक कि स्वयं पाण्डव भी इस प्रक्रान्त कर्ण–शरवर्षण से आज उद्विग्न हैं, संक्षुब्ध हैं, सन्त्रस्त हैं, भविष्य के भयानक परिणाम से सशङ्कित हैं, आतङ्कित हैं।

युद्ध के प्रधान उत्तरदायी युधिष्ठिर के सम्मुख जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, तो बड़े से बड़े भय से भी अपना धैर्य्य अक्षुण्ण बनाए रखने में सुप्रसिद्ध धर्म्मराज भी सहसा विकम्पित हो पड़ते हैं। धैर्य्य विगलित हो जाता है, धर्म्मनिष्ठा अभिभूत बन जाती है। कर्णाक्रमणजनित पराभवाशङ्कातङ्कितमानस युधिष्ठिर सहसा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। एवं विमोहनजनित इस सम्पूर्ण आक्रोश का केन्द्र बन जाता है अनुज अर्जुन का वह 'गाण्डीवधनुष' जिस के अव्यर्थ प्रहार पर युधिष्ठिर को बहुत बड़ा आत्मविश्वास था। गाण्डीव के साथ ही साथ गाण्डीवधन्वा वह अर्जुन भी लक्ष्य बन गए युधिष्ठिर के, जिन्होंने प्रत्यक्ष

एवं परोक्ष में अनेक बार अपने गाण्डीव की अव्यर्थता की उदात्त घोषणाएँ कीं थीं। आविष्टमना धैर्य्यच्युत युधिष्ठिर को इस समय सम्भवतः यह स्मरण न रहा कि, अर्जुन ने यह भीष्म प्रतिज्ञा भी सुरक्षित बना रक्खी है कि,–"यदि कभी भी कोई भी भ्रान्ति से भी मुझे मेरे प्रिय गाण्डीव धनुष को उतार फेंकने का सङ्केतमात्र भी कर बैठेगा, तो तत्काल उस का शिरच्छेद कर दिया जायगा"।

दुर्भाग्यवश आज महाभारतसमरप्राङ्गण में एक वैसा ही विषम प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा। एक ओर नितान्त भावुक धर्म्मभीरु युधिष्ठिर, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक भावुक कर्म्मभीरु अर्जुन। एक भावुक ने भावुकता के आवेश में आ कर दूसरे सहज भावुक की अप्रत्याशित निर्म्मम आलोचना आरम्भ कर ही तो डाली, जिस आलोचना का विराम हुआ इन शब्दों में कि—"अर्जुन! क्या यही है तेरा, और तेरे गाण्डीव-धनुष का अप्रतिम पराक्रम?। तुझे आज से अपना यह गाण्डीव धनुष उतार फैंक देना चाहिए। धिक्कार है तेरे गाण्डीव को, धिक्कार है तेरे बाहुपराक्रम को, धिक्कार है तेरे असंख्य अव्यर्थ बाणों को, धिक्कार है तेरी रथध्वजा को, धिक्कार है अग्निप्रदत्त सबल रथ को"।

युधिष्ठिर की तथोक्ता आक्रोशपरिपूर्णा परुषवाक्प्रहारपरम्परा से सर्वात्मना आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः समुत्तेजित, सन्तप्त, संक्षुब्ध भावुक अर्जुन की अमुक कालनिबन्धना भावुकतापूर्णा तथाकथिता प्रतिज्ञा सहसा अग्निसोमसंयोगवत्, किंवा घृताग्निसमन्वयवत् ज्वालावत् प्रस्फुटित हो ही तो पड़ी। तत्काल-**"असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम्–"** रूप से हाथ में तलवार उठा ली गई भरतकुलश्रेष्ठ स्व-ज्येष्ठबन्धु धर्म्मनिष्ठ युधिष्ठिर के आमूलचूड़ अनिष्ट के लिए भावाविष्ट क्रोधाविष्ट अर्जुन के द्वारा। सर्वत्र हाहाकारनिनाद तुमुलित हो पड़ा। महद्भाग्य था यह चान्द्रलोकस्थ पाण्डुराज का कि, इस सर्वविनाशात्मक भीषण वातावरण के समय भगवान् यदुनन्दन यहीं समुपस्थित थे। नहीं, तो कौन जाने क्या महान् अनर्थ घटित हो जाता। चित्तज्ञ (मनोविज्ञानवेत्ता) श्रीकृष्ण ने अविलम्ब इस सम्पूर्ण स्थिति–भयानक परिस्थिति-के भावी भयावह दुष्परिणाम को लक्ष्य बना डाला। एवं अपनी सहजनिष्ठा के माध्यम से, निष्ठानुगता सहज मन्दस्मितसमन्विता गम्भीरवाणी से सर्वप्रथम भावुक अर्जुन का उद्बोधन उपक्रान्त कर दिया। वासुदेव कृष्ण उद्बोधन कराने में प्राणपण से संलग्न थे, और उधर अर्जुन घूर्णित–आरक्त-भैरव नेत्रों से युधिष्ठिर का मानो अपनी क्रोधाविष्टदृष्टि से सशरीर निगरण कर जाने के लिए ही सन्नद्ध बन रहे थे। बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है इस विषमावस्था में भी, जिस के द्वारा पाण्डवों की **मनःशरीरानुगता भावुकतामूला कर्म्मभीरुता, एवं आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठामूला धर्म्मभीरुता** का स्वयं भगवान् कृष्ण के पावन मुखपद्म से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अतएव तत्प्रसङ्ग के कुछ एक अंश मूलरूप से यहाँ भी उद्धृत करने का लोभसंवरण करने में हम अपनी सहज भावुकता के आकर्षण से असमर्थ बनते जा रहे हैं—श्रूयताम्!

संजय उवाच—

श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यं क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजाः ॥
धनञ्जयं वाक्यमुवाच चेदं युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—विप्रद्रुता तात ! चमूस्त्वदीया तिरस्कृता चाद्य यथा न साधु ॥
भीतो भीमं त्यज्यचायास्तथा त्वं यन्नाशकः कर्णमथो निहन्तुम् ॥ २ ॥

२—स्नेहस्त्वया पार्थ ! कृतः पृथाया गर्भं समाविश्य यथा न साधु ॥
त्यक्त्वा रणे यदपायाः स भीमं यन्नाशकः सूतपुत्रं निहन्तुम् ॥ ३ ॥

३—यत्तद्वाक्यं द्वैतवने त्वयोक्तं कर्णं हन्तास्म्येकरथेन सत्यम् ॥
त्यक्त्वा तं वै कथमद्यापयातः कर्णाद् भीतो भीमसेनं विहाय ॥ ४ ॥

४—इदं यदि द्वैतवनेऽप्यवक्ष्यः कर्णं योद्धुं न प्रशक्ष्ये नृपेति ॥
वयं ततः प्राप्तकालं च सर्वे कृत्यान्युपैष्याम तथैव पार्थ ॥ ५ ॥

५—मयि प्रतिश्रुत्य वधं हि तस्य न वै कृतं तच्च तथैव वीर ॥
आनीय नः शत्रुमध्यं स कस्मात् समुत्क्षिप्य स्थण्डिले प्रत्यपिष्टाः ॥ ६ ॥

६—अप्याशिष्म वयमर्जुन त्वयि यियासवो बहुकल्याणमिष्टम् ॥
तन्नः सर्वं विफलं राजपुत्र ! फलार्थिनां विफल इवातिपुष्पः ॥ ७ ॥

७—प्रच्छादितं बडिशमिनामिषेण संच्छादितं गरलमिवाशनेन ॥
अनर्थकं मे दर्शितवानसि त्वं राज्यार्थिनो राज्यरूपं विनाशम् ॥ ८ ॥

८—त्रयोदशे माहि समाः सदा वयं त्वामन्वजीविष्म धनञ्जयाशया ॥
काले वर्षं देवमिवोप्तबीजं तन्नः सर्वान्नरके त्वं न्यमज्जः ॥ ९ ॥

९—यत्तत् पृथां वागुवाचान्तरिक्षे सप्ताहजाते त्वयि मन्दबुद्धौ ॥
जातः पुत्रो वासवविक्रमोऽयं सर्वान् शूरान् शात्रवान् जेष्यतीति ॥१०॥

१०—अयं जेता खाण्डवे देवसंघान् सर्वाणि भूतान्यपि चोत्तमौजाः ॥
अयं जेता मद्रकलिङ्गकेकयानयं कुरूत्राजमध्ये निहन्ता ॥११॥

११—अस्मात्परो नो भविता धनुर्द्धरो नैनं भूतं किञ्चन जातु जेता ॥
इच्छन्नयं सर्वभूतानि कुर्य्याद्वशे वशी सर्वसमाप्तविद्यः ॥१२॥

१२—कान्त्या शशाङ्कस्य जवेन वायोः स्थैर्य्येण मेरोः क्षमया पृथिव्याः ॥
सूर्य्यस्य भासा धनदस्य लक्ष्म्या शौर्य्येण शक्रस्य बलेन विष्णोः ॥१३॥

१३ - तुल्यो महात्मा तव कुन्तिपुत्रो जातोऽदितेर्विष्णुरिवारिहन्ता ॥
स्वेषां जयाय द्विषतां वधाय ख्यातोऽमितौजाः कुलतन्तुकर्त्ता ॥१४॥
१४—इत्यन्तरिक्षे शतशृङ्गमूर्ध्नि तपस्विनां शृण्वतां वागुवाच ॥
एवंविधं तच्च नाभूत्तथा च देवापि नूनमनृतं वदन्ति ॥१५॥
१५—तथापरेषां ऋषिसत्तमानां श्रुत्वा गिरः पूजयतां सदा त्वाम् ॥
न संनतिं प्रैमि सुयोधनस्य त्वां जानाम्याधिरथेर्भयार्त्तम् ॥१६॥
१६—पूर्वं यदुक्तं हि सुयोधनेन न फाल्गुनः प्रमुखे स्थास्यतीति ॥
कर्णस्य युद्धे हि महाबलस्य मौर्ख्यात्तु तन्नावबुद्धं मयासीत् ॥१७॥
१७—तेनाद्य तप्स्ये भृशमप्रमेयं यच्छत्रुवर्गे नरकं प्रविष्टः ॥
तदैव वाच्योऽस्मि न तु त्वयाऽहं न योत्स्येऽहं सूतपुत्रं कथञ्चित् ॥१८॥
१८—ततो नाहं सृञ्जयान् केकयांश्च समानयेयं सुहृदो रणाय ॥
एवं गते किञ्च मयाद्य शक्यं कार्य्यं कर्त्तुं विग्रहे सूतजस्य ॥१९॥
१९—तथैव राज्ञश्च सुयोधनस्य ये वाऽपि मां योद्धुकामाः समेताः ॥
धिगस्तु मज्जीवितमद्य कृष्ण ! योऽहं वशं सूतपुत्रस्य यातः ॥२०॥
२०—मध्ये कुरूणां सुहृदां च मध्ये ये चाप्यन्ये योद्धुकामाः समेताः ॥
यदि स्म जीवेत् स भवेत्–निहन्ता महारथानां प्रवरो रथोत्तमः ॥
तवाभिमन्युस्तनयोऽद्य पार्थ ! न चास्मि गन्ता समरे पराभवम् ॥२१॥
२१—अथापि जीवेत् समरे घटोत्कचस्तथापि नाहं समरे पराङ्मुखः ॥
मम ह्यभाग्यानि पुरा कृतानि पापानि नूनं बलवन्ति युद्धे ॥२२॥
२२—तृणं च कृत्वा समरे भवन्तं ततोऽहमेवं निकृतो दुरात्मना ॥
वैकर्त्तनेनैव तथा कृतोऽहं यथा ह्यशक्तः क्रियते ह्यबान्धवः ॥२३॥
२३—आपद्गतं कश्चन यो विमोचेत् स बान्धवः स्नेहयुक्तं सुहृच्च ॥
एवं पुराणा मुनयो वदन्ति धर्म्मः सदा सद्भिरनुष्ठितश्च ॥२४॥
२४—त्वष्टा कृतं वाहमकूजनाक्षं शुभं समास्थाय कपिध्वजं तम् ॥
खड्गं गृहीत्वा हेमपट्टानुबद्धं धनुश्चेदं गाण्डिवं तालमात्रम् ॥२५॥

२५—स केशवेनोह्यमानः कथं त्वं कर्णाद् भीतो व्यपयातोऽसि पार्थ ॥
धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य ॥२६॥

२६—तदा हनिष्यत् केशवः कर्णमुग्रं मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः ॥
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तश्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय ॥२७॥

२७—प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वानरेन्द्रः ॥
अस्मान्नैवं पुत्रदारैर्विहीनान् सुखाद् भ्रष्टान् राज्यनाशाच्च भूयः ॥२८॥

२८—धिग् गाण्डीवं, धिक् च ते बाहुवीर्यं, असंख्येयान् बाणगणांश्च धिक् ते ॥
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य, कृशानुदत्तं च रथञ्च धिक् ते ॥२९॥

—महाभारत कर्णपर्व ६८ अ० ।

संजय उवाच—

युधिष्ठेरणैवमुक्तः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ॥
असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ॥३०॥
तस्य कोपं समुद्वीक्ष्य 'चित्तज्ञः' केशवस्तदा ॥
उवाच किमिदं पार्थ ! गृहीतः 'खड्ग' इत्यपि ॥३१॥

कृष्ण उवाच—

१—न हि प्रपश्यामि योद्धव्यं त्वया किञ्चिद्धनञ्जय ! ॥
ते ग्रस्ता धार्त्तराष्ट्रा हि भीमसेनेन धीमता ॥३२॥

२—अपयातोऽसि कौन्तेय ! राजा द्रष्टव्य इत्यपि ॥
स राजा भवता दृष्टः कुशली च युधिष्ठिरः ॥३३॥

३—स दृष्ट्वा नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम् ॥
हर्षकाले च सम्प्राप्ते किमिदं 'मोहकारितम्' ॥३४॥

४—न तं पश्यामि कौन्तेय ! यस्ते वध्यो भविष्यति ॥
प्रहर्त्तुमिच्छसे कस्मान् किंवा ते 'चित्तविभ्रमः' ॥३५॥

५—कस्माद् भवान् महाखड्गं परिगृह्णाति 'सत्वरः' ॥
तत्–त्वां पृच्छामि कौन्तेय ! किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥३६॥

६—परामृशसि यत् क्रुद्धः खड्गमद्भुतविक्रम ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तस्तु कृष्णेन प्रेक्षमाणो युधिष्ठिरम् ॥३७॥
अर्जुनः प्राह गोविन्दं क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ॥

अर्जुन उवाच—

१—'अन्यस्मै देहि गाण्डीव'मिति मां योऽभिचोदयेत् ॥३८॥
२—'भिन्द्यामहं तस्य शिर' इत्युपांशु व्रतं मम ॥
तदुक्तं मम चानेन राज्ञामितपराक्रम ! ॥३९॥
३—समक्षं तव गोविन्द ! न तत् क्षन्तुमिहोत्सहे ॥
तस्मादेनं वधिष्यामि राजानं 'धर्म्मभीरुकम्' ॥४०॥
४—'प्रतिज्ञां पालयिष्यामि' हत्वैनं नरसत्तमम् ॥
एतदर्थं मया खड्गो गृहीतो यदुनन्दन ! ॥४१॥
५—सोऽहं युधिष्ठिरं हत्वा सत्यस्यानृण्यतां गतः ॥
विशोको विज्वरश्चापि भविष्यामि जनार्दन ! ॥४२॥
६—किंवा त्वं मन्यसे प्राप्तमस्मिन् काल उपस्थिते ॥
त्वमस्य जगतस्तात ! वेत्थ सर्वं गतागतम् ॥४३॥
७—तत्तथा प्रकरिष्यामि यथा मां वक्ष्यते भवान् ॥

संजय उवाच—

"धिग्—धिग्"इत्येव गोविन्दः पार्थमुक्त्वाऽब्रवीत् पुनः ॥४४॥

कृष्ण उवाच—

१—इदानीं पार्थ जानामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ॥
कालेन पुरुषव्याघ्र ! संरम्भं यद्भवानगात् ॥४५॥
२—न हि धर्म्मविभागज्ञः कुर्य्यादेवं धनञ्जय ! ॥
यथा त्वं पाण्डवाद्येह धर्म्मभीरुरपण्डितः ॥४४॥
३—आकार्य्याणां क्रियाणाञ्च संयोगं यः करोति वै ॥
कार्य्याणामक्रियाणाञ्च स पार्थ ! पुरुषाधमः ॥४५॥
४—अनुसृत्य तु ये धर्म्मं कथयेयुरुपस्थिताः ॥
समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥४६॥

५—अनिश्चयज्ञो हि नरः कार्य्याकार्य्यविनिश्चये ॥
अवशो मुह्यते पार्थ ! यथा त्वं 'मूढ' एव तु ॥४७॥
६—न हि कार्य्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथञ्चन ॥
श्रुतेन ज्ञायते सर्व्वं तच्च त्वं नावबुद्ध्यसे ॥४८॥
७—अविज्ञानाद् भवान्यच्च धर्म्मं रक्षति धर्म्मवित् ॥
प्राणिनां त्वं वधं पार्थ ! धार्म्मिको नावबुद्ध्यसे ॥४९॥
८—प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ॥
"अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथञ्चन ॥५०॥
९—स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्म्मकोविदम् ॥
हन्याद्भवान्नरश्रेष्ठ ! प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ॥५१॥
१०—अयुध्यमानस्य वधस्तथाऽशत्रोश्च मानद ! ॥
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥५२॥
११—कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च ॥
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥५३॥
१२—त्वया चैवं व्रतं पार्थ ! "बालेनेव" कृतं पुरा ॥
तस्माद्धर्म्मसंयुक्तं "मौर्ख्यात्" कर्म्म व्यवस्यसि ॥५४॥
१३—स गुरुं पार्थ ! कस्मात् त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि ॥
असम्प्रधार्य्य धर्म्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ॥५५॥
१४—इदं धर्म्मरहस्यञ्च तव वक्ष्यामि पाण्डव ! ॥
यद् ब्रूयात्तव भीष्मो हि पाण्डवो वा युधिष्ठिरः ॥५६॥
१५—विदुरो वा तथा क्षत्ता कुन्ती वापि यशस्विनी ॥
तत्ते वक्ष्यामि तत्त्वेन निबोधैतद्धनञ्जय ! ॥५७॥

कृष्णप्रतिपादिता धर्म्मस्वरूपव्याख्या

१६—सत्यस्य वदिता साधुर्न सत्याद्विद्यते परम् ॥
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥५८॥

१७—भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥
"यत्रानृतं भवेत् सत्यं, सत्यं चाप्यनृतं भवेत्" ॥५६॥

१८—विवाहकाले, रतिसम्प्रयोगे, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे ॥
विप्रस्य चार्थे–ह्यनृतं वदेत, पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥६०॥

१९—सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥
तत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥
तादृशं पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ॥६१॥

२०—भवेत् सत्यमवक्तव्यं न वक्तव्यमनुष्ठितम् ॥
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्म्मवित् ॥६२॥

२१—"किमाश्चर्य्यं कृतप्रज्ञ पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥६३॥

२२—किमाश्चर्य्यं पुनर्म्मूढो धर्म्मकामो ह्यपण्डितः ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पापमापगास्विव कौशिकः ॥६४॥

अर्जुन उवाच—

२३—आचक्ष्व भगवन्नेतद्यथा विन्दाम्यहं तथा ॥
बलाकस्यानुसम्बद्धं नदीनां कौशिकस्य च ॥६५॥

वासुदेव उवाच—

२४—पुरा व्याधोऽभवत् कश्चित्–'बलाको' नाम भारत !"॥
यात्रार्थं पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति, न कामतः ॥६६॥

२५—वृद्धौ च मातापितरौ बिभर्त्यन्यांश्च संश्रितान् ॥
स्वधर्म्मनिरतो नित्यं सत्यवागनसूयकः ॥६७॥

२६—स कदाचित्–मृगलिप्सुर्नाभ्यविन्दत् मृगं क्वचित् ॥
अपः पिबन्तं ददृशे श्वापदं घ्राणचक्षुषम् ॥६८॥

२७—अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्त्वं तेन हतं तदा ॥
अन्धे हते ततो व्योम्नः पुष्पवर्षं पपात च ॥६९॥

२८—अप्सरोगीतवादित्रैर्नादितं च मनोरमम् ॥
विमानमगमत्–स्वर्गात्–मृगव्याधनिनीषया ॥७०॥
२९—तद्भूतं सर्वभूतानामभावाय किलार्जुन ! ॥
तपस्तप्त्वा वरं प्राप्तं कृतमन्धं स्वयंभुवा ॥७१॥
३०—तद्धत्वा सर्वभूतानामभावकृतनिश्चयम् ॥
ततो बलाकः स्वरगादेवं धर्म्मः सुदुर्विदः ॥७२॥
३१—कौशिकोऽप्यभवद् विप्रस्तपस्वी नो बहुश्रुतः ॥
नदीनां सङ्गमे ग्रामाददूरात् स किलावसत् ॥७३॥
३२—'सत्यं मया सदा वाच्य' मिति तस्याभवद् व्रतम् ॥
'सत्यवादी'ति विख्यातः स तदासीद्धनञ्जय ! ॥७४॥
३३—अथ दस्युभयात् केचित्तदा तद्वनमाविशन् ॥
तत्रापि दस्यवः क्रुद्धास्तान् मार्गन्त यत्नतः ॥७५॥
३४—अथ कौशिकमभ्येत्य प्राहुस्ते सत्यवादिनम् ॥
कतमेन पथा याता भगवन् ! बहवो जनाः ॥७६॥
३५—सत्येन पृष्टः प्रब्रूहि यदि तान् वेत्थ, शंस नः ॥
स पृष्टः कौशिकः सत्यं वचनं तानुवाच ह ॥७७॥
३६—"बहुवृक्षलतागुल्ममेतद्वनमुपाश्रिताः" ॥
इति तान् ख्यापयामास तेभ्यस्तत्त्वं स कौशिकः ॥७८॥
३७—"ततस्ते तान् समासाद्य क्रूरा जघ्नु"रिति श्रुतिः ॥
तेनाधर्म्मेण महता वाग्दुरुक्तेन कौशिकः ॥७९॥
३८—गतः स कष्टं नरकं सूक्ष्मधर्म्मेष्वकोविदः ॥
"यथा चाल्पश्रुतो मूढ़ो धर्म्माणामविभागवित्" ॥८०॥
३९—वृद्धानपृष्ट्वा सन्देहं महत्–श्वभ्रमिवार्हति ॥
तत्र ते लक्षणोद्देशः कश्चिदेवं भविष्यति ॥८१॥
४०—"दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति ॥
'श्रुतेर्धर्म्म' इति ह्येके वदन्ति बहवो जनाः ॥८२॥

४१—तत्ते न प्रत्यसूयामि न च सर्व्वं विधीयते ॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्म्मप्रवचनं कृतम् ॥८३॥

४२—"यत् स्यादहिंसासंयुक्तं, स धर्म्म" इति निश्चयः ॥
"अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्म्मप्रवचनं कृतम्" ॥८४॥

४३—"धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः ॥
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म्म" इति निश्चयः ॥८५॥

४४—ये न्यायेन जिहीर्षन्तो धर्म्ममिच्छन्ति कर्हिचित् ॥
अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथञ्चन ॥८६॥

४५—"अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजतः ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम्" ॥८७॥

४६—यः कार्य्येभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानोपपादयेत् ॥
न तत् फलमवाप्नोति एवमाहुर्म्मनीषिणः ॥८८॥

४७—प्राणात्यये, विवाहे वा, सर्वज्ञातिवधात्यये ॥
नर्म्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥८९॥

४८—अधर्म्मं नात्र पश्यन्ति धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिनः ॥
यस्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि ॥९०॥

४९—"श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ॥
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन ॥९१॥

५०—पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीड़येत् ॥
"तस्माद्धर्म्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग्भवेत्" ॥९२॥

५१—एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि ॥
"यथाधर्म्मं यथाबुद्धि मयाद्य वै हितार्थिना" ॥९३॥

५२—एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ ! यदि वध्यो युधिष्ठिरः ? ॥

अर्जुन उवाच—

यथा ब्रूयान् महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान् महामतिः ॥९४॥

१—हितं चैव यथास्माकं तथैतद्वचनं तव ॥
भवान् 'मातृसमो'ऽस्माकं तथा 'पितृसमो'ऽपि च ॥९५॥

२—गतिश्च परमा कृष्ण ! त्वमेव च परायणम् ॥
न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित् ॥९६॥

३—तस्माद्भवान् परं धर्म्मं वेद सर्व्वं यथायथम् ॥
"अवध्यं पाण्डवं मन्ये धर्म्मराजं युधिष्ठिरम्" ॥९७॥

४—अस्मिंस्तु मम संकल्पे ब्रूहि किञ्चिदनुग्रहम् ॥
इदं वा परमत्रैव शृणु हृत्स्थं विवक्षितम् ॥९८॥

५—जानासि दाशार्ह ! मम व्रतं त्वं यो मां ब्रूयात् कश्चन मानुषेषु ॥
"अन्यस्मै त्वं गाण्डीवं देहि पार्थ" त्वत्तोऽस्त्रैर्वा वीर्य्यतो वा विशिष्टः ॥९९॥

६—हन्यामहं केशव ! तं प्रसह्य भीमो हन्यात्—तूबरकेति चोक्तः ॥
तन्मे राजा प्रोक्तवांस्ते समक्षं 'धनुर्देही'त्यसकृद् वृष्णिवीर ! ॥१००॥

७—तं हन्यां चेत् केशव ! 'जीवलोके' स्थाता नाहं कालमप्यल्पमात्रम् ॥
ध्यात्वा नूनं ह्येनसा चापि मुक्तो वधं राज्ञो भ्रष्टवीर्य्यो विचेताः ॥१०१॥

८—"यथा 'प्रतिज्ञा मम' लोकबुद्धौ भवेत् सत्या" धर्म्मभृतां वरिष्ठ !
यथा जीवेत् पाण्डवोऽहं च कृष्ण ! तथा बुद्धिं दातुमप्यर्हसि त्वम् ॥१०२॥

वासुदेव उवाच—

१—राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन संख्ये निशितैर्बाणसंघैः ॥
यश्चानिशं सूतपुत्रेण वीर ! शरैर्भृशं ताडितो युध्यमानः ॥१०३॥

२—अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ॥
'अकोपितो ह्येष यदि स्म संख्ये कर्णं न हन्यादिति'चाब्रवीत् सः ॥१०४॥

३—जानाति तं पाण्डव एष चापि पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः ॥
ततस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन राज्ञा समक्षं परुषाणि पार्थ ! ॥१०५॥

४—नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्ये कर्णे द्यूतं ह्यद्यरणे निबद्धम् ॥
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्म्मपुत्रे ॥१०६॥

५—"ततो वधं नार्हति धर्म्मपुत्रस्त्वया प्रतिज्ञार्जुन ! पालनीया ॥
जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि तन्मे निबोधेह तवानुरूपम्" ॥१०७॥
६—"यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके ॥
यदावमानं लभते महान्तं तदा 'जीवन्मृत' इत्युच्यते सः" ॥१०८॥
७—सम्मानितः पार्थिवोऽयं सदैव त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम् ॥
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरैस्तस्यापमानं 'कलया प्रयुङ्क्ष्व' ॥१०९॥
८—'त्व' मित्यत्र 'भवन्तं' हि ब्रूहि पार्थ ! युधिष्ठिरम् ॥
"त्व'मित्युक्तो हि निहितो गुरुर्भवति भारत !" ॥११०॥
९—एवमाचर कौन्तेय ! धर्म्मराजे युधिष्ठिरे ॥
अधर्म्मयुक्तं संयोगं कुरुष्वैनं कुरुद्वह ! ॥१११॥
१०—अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः ॥
अविचार्य्यैव कार्य्यैषा श्रेयस्कामैर्नरैः सदा ॥११२॥
११—अवधेन वधः प्रोक्तो यद्गुरु'स्त्व'मिति प्रभुः ॥
तद् ब्रूहि त्वं यन्मयोक्तं धर्म्मराजस्य धर्म्मवित् ॥११३॥
१२ वधं ह्ययं पाण्डव ! धर्म्मराजस्त्वत्तोऽयुक्तं वेत्स्यते चैवमेषः ॥
ततोऽस्य पादावभिपाद्य पश्चात् समं ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थ ! ॥११४॥
१३—भ्राता प्राज्ञस्तव कोपं न जातु कुर्य्याद् राजा धर्म्ममवेक्ष्य चापि ॥
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ ! हृष्टः कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम् ॥११५॥

सूत उवाच—

इत्येवमुक्तस्तु जनार्द्दनेन पार्थः प्रशस्याथ सुहृद्वचस्तत् ॥
ततोऽब्रवीदर्जुनो धर्म्मराजमनुक्तपूर्वं परुषं प्रसह्य ॥११६॥

अर्जुन उवाच—

१—मा 'त्वं' राजन् ! व्याहर व्याहरस्व यस्तिष्ठति क्रोशमात्रे रणाद्वै ॥
भीमस्तु मामर्हति गर्हणाय यो युध्यते सर्वलोकप्रवीरैः ॥११७॥
२—काले हि शत्रून् परिपीड्य संख्ये हत्वा च शूरान् पृथिवीपतींस्तान् ॥
रथप्रधानोत्तमनागमुख्यान् सादिप्रवेकानमितांश्च वीरान् ॥११८॥

३—यः कुञ्जराणामधिकं सहस्रं हत्वा नदंस्तुमुलं सिंहनादम् ॥
काम्बोजानामयुतं पार्वतीयान् मृगान् सिंहो विनिहत्येव चाजौ ॥११९॥
४—सुदुष्करं कर्म्म करोति वीरः कर्त्तुं यथा नार्हसि 'त्वं' कदाचित् ॥
रथादवप्लुत्य गदां परामृशंस्तया निहंत्यश्वरथद्विपाञ्रणे ॥१२०॥
५—वरासिना वाजिरथाश्वकुञ्जरांस्तथा रथाङ्गैर्धनुषादहत्यरीन् ॥
प्रगृह्य पद्भ्यामहितान्निहन्ति पुनस्तुदोर्भ्यां शतमन्युविक्रमः ॥१२१॥
६—महाबलो वैश्रवणान्तकोपमः प्रसह्य हन्ता द्विषतामनीकिनीम् ॥
स भीमसेनोऽर्हति गर्हणां मे 'न त्वं नित्यं रक्ष्यसे यः सहृद्भिः' ॥१२२॥
७—महारथान्नागवरान् हयांश्च पदातिमुख्यानपि च प्रमथ्य ॥
एको भीमो धार्त्तराष्ट्रेषु मग्नः स मामुपालब्धुमरिन्दमोऽर्हति ॥१२३॥
८—कलिङ्गवङ्गाङ्गनिषादमागधान् सदा मदान्नीलबलाहकोपमान् ॥
निहन्ति यः शत्रुगणाननेकान् स मामुपालब्धुमरिन्दमोऽर्हति ॥१२४॥
९—स युक्तमास्थाय रथं हि काले धनुर्विधुन्वन् शरपूर्णमुष्टिः ॥
सृजत्यसौ शरवर्षाणि वीरो महाहवे मेघ इवाम्बुधाराः ॥१२५॥
१०—शतान्यष्टौ वारणानामवश्यं विशाति तैः कुम्भकराग्रहस्तैः ॥
भीमेनाजौ निहितान्यद्य बाणैः स मां क्रूरं वक्तुमर्हत्यरिघ्नः ॥१२६॥
११—'बलं तु वाचि द्विजसत्तमानां, क्षात्रं बुधा बाहुबलं वदन्ति ॥
त्वं वाग्बलो भारत ! निष्ठुरश्च त्वमेव मां वेत्थ यथाऽबलोऽहम" ॥१२७॥
१२—यते ह नित्यं तव कर्त्तुमिष्टं दारैः सुतैर्जीवितेनात्मना च ॥
एवं यन्मां वाग्विशिखेन हन्सि त्वत्तः सुखं न वयं विद्म किञ्चित् ॥१२८॥
१३—मां मावमंस्था 'द्रौपदीतल्पसंस्थो' महारथान् प्रतिहन्मि त्वदर्थे ॥
'तेनाभिशंकी' भारत ! निष्ठुरोऽसि त्वत्तः सुखं नाभिजानामि किञ्चित् ॥१२९॥
१४— प्रोक्तः स्वयं सत्यसन्धेन मृत्युस्तव प्रियार्थं 'नरदेव !' युद्धे ॥
वीरः शिखण्डी द्रौपदोऽसौ महात्मा मयाभिगुप्तेन हतश्च तेन ॥१३०॥
१५—न चाभिनन्दामि तवाधिराज्यं यतस्त्वमक्षेष्वहिताय सक्तः ॥
स्वयं कृत्वा पापमनार्य्यजुष्टमस्माभिर्वा तर्त्तुमिच्छस्यरींस्त्वम् ॥१३१॥

१६—"अक्षेषु दोषा बहवो विधर्म्माः श्रुतास्त्वया सहदेवोऽब्रवीद्यान् ॥
तान्नैषि त्वं त्यक्तुमसाधुजुष्टांस्तेन स्म सर्वे निरयं प्रपन्नाः ॥१३२॥
१७—सुखं त्वत्तो नाभिजानीम किंचिद्यतस्त्वमक्षैर्देवितुं सम्प्रवृत्तः ॥
स्वयं कृत्वा व्यसनं पाण्डव ! त्वमस्मांस्तीव्राः श्रावयस्यद्य वाचः ॥१३३॥
१८—शेतेऽस्माभिर्निहता शत्रुसेना छिन्नैर्गात्रैर्भूमितले नदन्ती ॥
त्वया हि तत्कर्म्म कृतं नृशंसं यस्माद्दोषः कौरवाणां वधश्च ॥१३४॥
१९—हता उदीच्या निहताः प्रतीच्या नष्टाः प्राच्या दाक्षिणात्या विशस्ताः ॥
कृतं कर्म्माप्रतिरूपं महद्भिस्तेषां योधैरस्मदीयैश्च युद्धे ॥१३५॥
२०—त्वं देविता त्वत्कृते राज्यनाशस्त्वत्सम्भवं नो व्यसनं नरेन्द्र ! ॥
मास्मान् क्रूरैर्वाक्प्रतोदैस्तुदंस्त्वं भूयो राजन् कोपयेस्त्वल्पभाग्यः ॥१३६॥

संजय उवाच—

*—"एता वाचः परुषाः सव्यसाची स्थिरप्रज्ञः श्रावयित्वा तु रूक्षाः ॥
बभूवासौ विमना 'धर्म्मभीरुः' कृत्वा प्राज्ञः पातकं किंचिदेवम्" ॥१३७॥
*—तदानुतेपे सुरराजपुत्रो विनिःश्वसंश्चासिमथोद्बबर्ह ॥
तमाह कृष्णः—

कृष्ण उवाच

१—किमिदं पुनर्भवान् विशोकमाकाशनिभं करोत्यसिम् ॥१३८॥
२—"ब्रवीहि मां पुनरुत्तरं वचस्तथा प्रवक्ष्याम्यहमर्थसिद्धये" ॥

संजय उवाच—

इत्येवमुक्तः पुरुषोत्तमेन सुदुःखितः केशवमर्जुनोऽब्रवीत् ॥१३९॥

अर्जुन उवाच—

१—"अहं हनिष्ये स्वशरीरमेव प्रसह्य येनाहितमाचरं वै" ॥

संजय उवाच—

*—निशम्य तत् पार्थवचोऽब्रवीदिदं धनञ्जयं धर्म्मभृतां वरिष्ठः ॥१४०॥

कृष्ण उवाच—

१—राजानमेनं 'त्व'मितीदमुक्त्वा किं कश्मलं प्राविश पार्थ ! घोरम् ॥
त्वं चात्मानं हन्तुमिच्छस्यरिघ्न ! नेदं सद्भिः सेवितं वै किरीटिन् ॥१४१॥

२—धर्म्मात्मानं भ्रातरं ज्येष्ठमद्य खड्गेन चैनं यदि हन्या नृवीर ! ॥
धर्म्माद्भीतस्तत्कथं नाम ते स्यात् किंचोत्तरं वा करिष्यस्त्वमेव ॥१४२॥
३—सूक्ष्मो धर्म्मो दुर्विदश्चापि पार्थ ! विशेषतोऽज्ञैः प्रोच्यमानं निबोध ॥
हत्वात्मानमात्मना प्राप्नुयास्त्वं वधाद् भ्रातुर्नरकं चातिघोरम् ॥१४३॥
४—"ब्रवीहि वा चाद्य गुणानिहात्मनस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ!"॥

संजय उवाच—

*—'तथास्तु कृष्णे'त्यभिनंद्य तद्वचो धनञ्जयः प्राह धनुर्विताम्य ॥
युधिष्ठिरं धर्म्मभृतां वरिष्ठं शृणुष्व राजन्निति शक्रसूनुः ॥१४४॥

अर्जुन उवाच—

१—न मादृशोऽन्यो नरदेव ! विद्यते धनुर्द्धरो देवमृते पिनाकिनम् ॥१४५॥
२—अहं हि तेनानुमतो महात्मा क्षणेन हन्यां सचराचरं जगत् ॥
मया हि राजन् ! सदिगीश्वरा दिशो विजित्य सर्वा भवतः कृता वशे ॥१४६॥
३—स राजसूयश्च समाप्तदक्षिणः सभा च दिव्या भवतो ममौजसा ॥
पाणौ पृषत्का निशिता ममैव धनुश्च सज्यं विततं सबाणम् ॥१४७॥
४—पादौ च मे सरथौ सध्वजौ च न मादृशं युद्धगतं जयन्ति ॥
हता उदीच्या निहताः प्रतीच्याः प्राच्या निरस्ता दाक्षिणात्या विशस्ताः॥ १४८॥
५—संशप्तकानां किञ्चिदेवास्ति शिष्टं सर्वस्य सैन्यस्य हतं मयार्द्धम् ॥
शेते मया निहता भारतीया चमू राजन् देवचमूप्रकाशा ॥१४९॥
६—ये चास्त्रज्ञास्तानहं हन्मि चास्त्रैस्तस्माल्लोकानेष करोमि भस्म ॥
जैत्रं रथं भीममास्थाय कृष्णाया वः शीघ्रं सूतपुत्रं निहन्तुम् ॥१५०॥
७—राजा भवत्वद्य सुनिर्वृतोऽयं कर्णं रणे नाशयितास्मि बाणैः ॥

संजय उवाच—

(इत्येवमुक्त्वा पुनराह पार्थो युधिष्ठिरं धर्म्मभृतां वरिष्ठम्) ॥१५१॥
८—अद्यापुत्रा सूतमाता भवित्री कुन्ती वाथो वामयातेन वापि ॥
सत्यं वदाम्यद्य न कर्णमाजौ शरैरहत्वा कवचं विमोक्ष्ये ॥१५२॥

संजय उवाच—

*—इत्येवमुक्त्वा पुनरेव पार्थो युधिष्ठिरं धर्म्मभृतां वरिष्ठम् ॥
विमुच्य शस्त्राणि धनुर्विसृज्य कोशे च खड्गं विनिधाय तूर्णम् ॥१५३॥

स व्रीड़या नम्रशिराः किरीटी युधिष्ठिरं प्राञ्जलिरभ्युवाच ॥

अर्जुन उवाच—

१—प्रसीद राजन् ! क्षमयन्मयोक्तं काले भवान् वेत्स्यति तन्नमस्ते ॥१५४॥

संजय उवाच—

*—प्रसाद्य राजानममित्रसाहं स्थितोऽब्रवीच्चैव पुनःप्रवीरः ॥

नेदं चिरात् क्षिप्रमिदं भविष्यत् प्रावर्त्तते साध्वभियामि चैनम् ॥१५५॥

१—याम्येष भीमं समरात् प्रमोक्तुं सर्वात्मना सूतपुत्रञ्च हन्तुम् ॥

तव प्रियार्थं मम जीवितं हि ब्रवीमि सत्यं तदवेहि राजन् ॥१५६॥

संजय उवाच—

*—इति प्रयास्यन्नुपगृह्य पादौ समुत्थितो दीप्ततेजाः किरीटी ॥

एतच्छ्रुत्वा पाण्डवो धर्म्मराजो भ्रातुर्वाक्यं परुषं फाल्गुनस्य ॥१५७॥

*—उत्थाय तस्माच्छयनादुवाच पार्थं ततो दुःखपरीतचेताः ॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—कृतं मया पार्थ ! यथा न साधु येन प्राप्तं व्यसनं वः सुघोरम् ॥१५८॥

२—"तस्माच्छिरश्छिन्धि ममेदमद्य कुलान्तकस्याधमपूरुषस्य ॥

पापस्य पापव्यसनान्वितस्य विमूढबुद्धेरलसस्य भीरोः ॥१५९॥

३—वृद्धावमन्तुः पुरुषस्य चैव किन्ते च्चिरं मे ह्यनुसृत्य रूक्षम् ॥

गच्छाम्यहं वनमेवाद्य पापः सुखं भवान् वर्त्ततां मद्विहीनः ॥१६०॥

४—योग्यो राजा भीमसेनो महात्मा क्लीबस्य वा मम किं राज्यकृत्यम् ॥

न चापि शक्तः परुषाणि सोढुं पुनस्तवेमानि रुषान्वितस्य ॥१६१॥

५—भीमोऽस्तु राजा मम जीवितेन न कार्य्यमद्यावमतस्य वीर ! ॥

संजय उवाच—

*—इत्येवमुक्त्वा सहसोत्पपात राजा ततस्तच्छयनं विहाय ॥१६२॥

*—इयेष निर्गन्तुमथो वनाय, तं वासुदेवः प्रणतोऽभ्युवाच—

वासुदेव उवाच—

१—राजन् ! विदितमेतद्वै यथा गाण्डीवधन्वनः ॥

प्रतिज्ञा सत्यसन्धस्य गाण्डीवं प्रति विश्रुता ॥

ब्रूयाद्य एवं गाण्डीवमन्यस्मै देयमित्युत ॥१६३॥

२—वध्योऽस्य स पुमाँल्लोके त्वया चोक्तोऽयमीदृशम् ॥
ततः सत्यां प्रतिज्ञां तां पार्थेन प्रतिरक्षिता ॥१६४॥
३—यच्छन्दादवमानोऽयं कृतस्तव महीपते ! ॥
"गुरूणामवमानो हि 'वध' इत्यभिधीयते" ॥१६५॥
४—तस्मात् त्वं वै महाबाहो ! मम, पार्थस्य, चोभयोः ॥
व्यतिक्रममिमं राजन् ! सत्यसंरक्षणं प्रति ॥१६६॥
५—"शरणं त्वां महाराज ! प्रपन्नौ स्व उभावपि
क्षन्तुमर्हसि मे राजन् ! प्रणतस्याभियाचतः" ॥१६७॥
६—राधेयस्याद्य पापस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि हतं विद्ध्यद्य सूतजम् ॥१६८॥
यस्येच्छसि वधं तस्य गतमप्यस्य जीवितम् ॥

संजय उवाच—

*—इति कृष्णवचः श्रुत्वा धर्म्मराजो युधिष्ठिरः ॥१६९॥
स सम्भ्रमं 'हृषीकेश'मुत्थाप्य प्रणतं तदा ॥
कृताञ्जलिस्ततो वाक्यमुवाचानन्तरं वचः ॥१७०॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—एवमेव यथात्थ त्वमस्त्येषोऽतिक्रमो मम ॥
अनुनीतोऽस्मि गोविन्द ! तारितश्चास्मि माधव ॥१७१॥
२—मोचिता व्यसनाद् घोराद् वयमद्य त्वयाऽच्युत ! ॥
भवन्तं नाथमासाद्य ह्यावां व्यसनसागरात् ॥१७२॥
३—"घोरादद्य समुत्तीर्णावुभावज्ञानमोहितौ ॥
त्वद्बुद्धिप्लवमासाद्य दुःखशोकार्णवाद्वयम् ॥१७३॥
४—समुत्तीर्णाः सहामात्याः सनाथाः स्म त्वयाऽच्युत ! ॥१७४॥

संजय उवाच—

*—धर्म्मराजस्य तच्छ्रुत्वा प्रीतियुक्तं वचस्ततः ॥
पार्थं प्रोवाच धर्म्मात्मा गोविन्दो यदुनन्दनः ॥१७५॥

इतिस्म कृष्णवचनात् प्रत्युच्चार्य्य युधिष्ठिरम् ॥
बभूव विमनाः पार्थः किञ्चित् कृत्वेव पातकम् ॥१७६॥
तदाऽब्रवीद् वासुदेवः प्रहसन्निव पाण्डवम् ॥

वासुदेव उवाच—

१—कथं नाम भवेदेतद्यदि त्वं पार्थ ! धर्म्मजम् ॥१७७॥
२—असिना तीक्ष्णधारेण हत्वा धर्म्मे व्यवस्थितम् ॥
त्वमित्युक्त्वाथ राजानमेवं कश्मलमाविशः ॥१७८॥
३—हत्वा तु नृपतिं पार्थ ! आकरिष्यः किमुत्तरम् ॥
एवं हि दुर्विदो धर्म्मो मन्दप्रज्ञैर्विशेषतः ॥१७९॥
४—स भवान् 'धर्म्मभीरुत्वात्' ध्रुवमैष्यन्महत्तमः ॥
नरकं घोररूपञ्च भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वै वधात् ॥१८०॥
५—स त्वं धर्म्मभृतां श्रेष्ठं राजानं धर्म्मसंहितम् ॥
प्रसादय कुरुश्रेष्ठमेतदत्र मतं मम ॥१८१॥
६—प्रसाद्य भक्त्या राजानं प्रीते चैव युधिष्ठिरे ॥
प्रयावस्त्वरितौ योद्धुं सूतपुत्रं रथं प्रति ॥१८२॥
७—"हत्वा तु समरे कर्णं त्वमद्य निशितैः शरैः
विपुलां प्रीतिमाधत्स्व धर्म्मपुत्रस्य मानद !" ॥१८३॥
८—एतदत्र महाबाहो ! प्राप्तकालं मतं मम ॥
एवंकृते कृतञ्चैव तव कार्य्यं भविष्यति ॥१८४॥

संजय उवाच—

*—ततोऽर्जुनो महाराज ! 'लज्जया' वै समन्वितः ॥
धर्म्मराजस्य चरणौ प्रपद्य शिरसा नतः ॥१८५॥
उवाच भरतश्रेष्ठं प्रसीदेति पुनः पुनः ॥

अर्जुन उवाच—

१—क्षमस्व राजन् ! यत् प्रोक्तं 'धर्म्मकामेन भीरुणा' ॥१८६॥

संजय उवाच—

❀—"दृष्ट्वा तु पतितं पद्भ्यां धर्म्मराजो युधिष्ठिरः ॥
धनञ्जयममित्रघ्नं रुदन्तं भरतर्षभ ! ॥१८७॥
उत्थाप्य भ्रातरं राजा धर्म्मराजो धनञ्जयम् ॥
समाश्लिष्य च सस्नेहं प्ररुरोद महीपतिः ॥१८८॥
रुदित्वा सुचिरं कालं भ्रातरौ सुमहाद्युती ॥
कृतशौचौ महाराज ! प्रीतिमन्तौ बभूवतुः ॥१८९॥
तत आश्लिष्य तं प्रेम्णा मूर्ध्नि चाघ्राय पाण्डवः ॥
प्रीत्या परमया युक्तो विस्मयंश्च पुनः पुनः ॥
अब्रवीत्तं महेष्वासं धर्म्मराजो धनञ्जयम ॥१९०॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—कर्णेन मे महाबाहो ! सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥
कवचं च ध्वजं चैव धनुः शक्तिर्हयाः शराः ॥१९१॥
२—शरैः कृत्ता महेष्वास ! यतमानस्य संयुगे ॥
सोऽहं ज्ञात्वा रणे तस्य कर्म्म दृष्ट्वा च फाल्गुन ! ॥१९२॥
३—व्यवसीदामि दुःखेन न च मे जीवितं प्रियम् ॥
न चेदद्य हि तं वीरं निहनिष्यसि संयुगे ॥१९३॥
४—प्राणानेव परित्यक्षे जीवितार्थो हि को मम ॥

संजय उवाच—

*—एवमुक्तः प्रत्युवाच 'विजयो' भरतर्षभ ! ॥१९४॥

अर्जुन उवाच—

१—सत्येन ते शपे राजन् ! प्रसादेन तथैव च ॥
भीमेन च नरश्रेष्ठ ! यमाभ्याञ्च महीपते ! ॥१९५॥
२— यथाद्य समरे कर्णं हनिष्यामि हतोऽपि वा ॥
महीतले पतिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥१९६॥

संजय उवाच—

*—एवमाभाष्य राजानमब्रवीन्माधवं वचः ॥

अर्जुन उवाच—

१—अद्य कर्णं रणे कृष्ण ! सूदयिष्ये न संशयः ॥१९७॥

तव बुद्ध्या हि, भद्रं ते, वधस्तस्य दुरात्मनः ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं केशवो राजसत्तम ! ॥१९८॥

केशव उवाच—

१—शक्तोऽसि भरतश्रेष्ठ ! हन्तुं कर्णं महाबलम् ॥

एष चापि हि मे कामो नित्यमेव महारथ ! ॥१९९॥

कथं भवान् रणे कर्णं निहन्यात्……… ॥

संजय उवाच—

*—…………………………इति सत्तम ! ॥

भूयश्चोवाच मतिमान् माधवो धर्म्मनन्दनम् ॥२००॥

माधव उवाच—

१—युधिष्ठिरेमं बीभत्सुं त्वं सान्त्वयितुमर्हसि ॥

अनुज्ञातुं च कर्णस्य वधायाद्य दुरात्मनः ॥२०१॥

२—श्रुत्वा ह्यहमयं चैव त्वां कर्णशरपीड़ितम् ॥

प्रवृत्तिं ज्ञातुमायाताविहावां पाण्डुनन्दन ! ॥२०२॥

३—दिष्ट्यासि राजन्नहतो दिष्ट्या न ग्रहणं गतः ॥

परिसान्त्वय बीभत्सुं जयमाशाधि चानघ ! ॥२०३॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—एह्येहि पार्थ ! बीभत्सो ! मां परिष्वज पाण्डव ॥

वक्तव्यमुक्तोऽस्मि हितं त्वया क्षान्तं च तन्मया ॥२०४॥

२—अहं त्वामनुजानामि जहि कर्णं धनञ्जय ! ॥

मन्युं च मा कृथाः पार्थ ! यन्मयोक्तोऽसि दारुणम् ॥२०५॥

संजय उवाच—

*—ततो धनञ्जयो राजन् ! शिरसा प्रणतस्तदा ।

पादौ जग्राह पाणिभ्यां भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मारिष ॥२०६॥

तमुत्थाप्य ततो राजा परिष्वज्य च पीड़ितम् ॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय चैवेनमिदं पुनरुवाच ह ॥२०७॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—धनञ्जय ! महाबाहो ! मानितोऽस्मि दृढं त्वया ॥
माहात्म्यं विजयं चैवं भूयः प्राप्नुहि शाश्वतम् ॥२०८॥

अर्जुन उवाच--

१—अद्य तं पापकर्म्माणं सानुबन्धं रणे शरैः ॥
नयाम्यन्तं समासाद्य राधेयं बलगर्वितम् ॥२०९॥

२—येन त्वं पीड़ितो बाणैर्दृढमायम्य कार्मुकम् ॥
तस्माद्य कर्म्मणः कर्णः फलमाप्स्यति दारुणम् ॥२१०॥

३—अद्य त्वामनुपश्यामि कर्णं हत्वा महीपते ! ॥
सभाजयितुमाक्रन्दादिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥२११॥

४—नाहत्वा विनिवर्त्तिष्ये कर्णमद्य रणाजिरात् ॥
इति सत्येन ते पादौ स्पृशामि जगतोपते ! ॥२१२॥

संजय उवाच--

इति ब्रुवाणं सुमनाः किरीटिनं युधिष्ठिरः प्राह वचो बृहत्तरम् ॥
यशोऽक्षयं जीवितमीप्सितं ते जयं सदा वीर्य्यमरिक्षयं तदा ॥२१३॥
प्रयाहि वृद्धिश्च दिशन्तु देवता 'यथाहमिच्छामि तवास्तु तत्तथा' ॥
प्रयाहि शीघ्रं जहि कर्णमाहवे पुरन्दरो वृत्रमिवात्मवृद्धये ॥२१४॥
इतिश्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अर्जुनप्रतिज्ञायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ।

--महाभारत कर्णपर्व ६८,६९,७०,७१ अध्यायाः



कर्णपर्व के ६८ (अड़सठ वें) अध्याय से आरम्भ कर ७१ (इकहत्तर) अध्याय पर्य्यन्त चार अध्यायोंमें पुराणपुरुष (भगवान् व्यास) की ओर से महावीर कर्ण के माध्यम से पाण्डवों की जिस भावुकता का, जिस धर्म्मभीरुता एवं कर्म्मभीरुता का स्वयं पाण्डवों के ही मुख से, तथा वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा रोचक, रोमहर्षजनक, उद्वेगकर, विक्षोभकर, आश्चर्य्यकर जो स्वरूपविश्लेषण हुआ है, उसका भावुकतास्वरूपविश्लेषक प्रस्तुत निबन्ध के आख्यानपरिच्छेद में समावेश करना प्रासङ्गिक ही माना जायगा। भावुक मानव किस प्रकार किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनता हुआ धर्म्म–लोक–समाजादि निष्ठाओं से पराङ्मुख हो जाता है ?, ऐसे भावुक मानवों का समूह किस प्रकार सर्वथा भावुक स्त्रीवर्ग की भाँति, अबोध सौम्य भावुक बालकों की भाँति क्षण क्षण में कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी आक्रोश अभि–व्यक्त करता है, कभी निन्दा करता है, कभी स्तुति करता है, कभी हर्षोन्मत्त बन जाता है, तो कभी दुःखार्णव-निमज्जन का अनुभव करने लगता है ?, इत्यादि भावुकानुबन्धिनी प्रत्यक्ष समस्या का स्वरूपविश्लेषण इस अध्यायचतुष्टयी में हुआ है, उसकी उपयोगिता के महत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए अत्र उस का समावेश होना ही चाहिए था, अनिवार्य्यरूप से होना चाहिए था। पुराणपुरुष की सहजभाषा गभीरार्थसमन्विता होती हुई भी प्राञ्जल है। अतएव भारतीय संस्कृतिनिष्ठ मानवों को अत्र उद्धृत पूर्व सन्दर्भ के सुसमन्वय में कोई कठिनाई न होगी, ऐसी हमारी आत्मधारणा है। फिर पुराणपुरुष के आर्ष शब्दों की रहस्यपूर्णा व्यञ्जना–भावगरिमा का 'हिन्दी' जैसी प्राकृत–लौकिक–असंस्कृत–भाषा के उच्छिष्ट शब्दों के माध्यम से यथावत् तो क्या, अंशतः भी समन्वय नहीं किया जा सकता। यह सब कुछ यथार्थ होते हुए भी, जानते हुए भी प्रकान्त युगधर्म्मानुगता भाषा–हिन्दीभाषा–राष्ट्रभाषा–भावुकतान्तःकरण बने हुए भावुक मानवों के भावुकतापूर्ण परितोष के लिए भी भावुकभाषा में भी संक्षेप से उपात्त महाभारतसन्दर्भ की लोकदिशा का स्पष्टीकरण करा देना इस भावुक निबन्धा ने सामयिक, एवं लोकसंग्राहक मान लिया है।

स्पष्टीकरण से पहिले यह 'आमुख' हृदयङ्गम कर लेना चाहिए कि, पाण्डवों में सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठ धर्म्मराज युधिष्ठिर की सहज भावुकता ही इस सन्दर्भ का मूलाधार है। युधिष्ठिर आरम्भ से ही सौम्य–वृत्तिपरायण रहे हैं। किसी भी धार्मिक राजनैतिक एवं सामाजिक–पारिवारिक संघर्ष का नामश्रवण भी सदा से ही इनकी मनोवृत्ति के सर्वथा विरुद्ध रहा है। "**जाने दो, क्षमा कर दो, व्यर्थ कलह में प्रवृत्त होना उचित नहीं दूसरों को सुखी होने दो, अपन कष्ट को ही आनन्द मान लेंगे**" इस प्रकार ब्राह्मणवर्णोचिता क्षमाशीलता ही युधिष्ठिर का मुख्य लक्ष्य–बिन्दु रहा है। इसी क्षमाशीलता से अनुचित लाभ उठाते हुए दुष्टबुद्धि कौरवों के द्वारा समय समय पर इन्हें भी निःसीम रूप से उत्पीड़ित होना पड़ा है, एवं इनके साथ साथ सम्पूर्ण पाण्डवपरिवार को भी दुःखपरम्पराओं से आर्त्त बना रहना पड़ा है ! युधिष्ठिर ने स्वयं भी सहर्ष इन आर्त्तिपरम्पराओं का इच्छापूर्वक अनुगमन किया है, एवं अपने आज्ञावशवर्त्ती पारिवारिक व्यक्तियों को भी उनकी इच्छा के विरुद्ध अनुगमन करते रहने के लिए विवश बनाया है। सब कुछ सहा है युधिष्ठिर ने, किन्तु प्रतिक्रिया से सम्बन्धित संघर्ष से सदा अपने आपको अक्षत बनाए रखने का ही परमपुरुषार्थ ? अभिव्यक्त किया है। सम्भवतः इसीलिए स्वार्थनिष्ठ

परप्रतारक नैष्ठिकों ने युधिष्ठिर की भावुकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, इनकी इस भावुकता से अपना स्वार्थसाधन करने की दूषित भावना से ही इन्हें 'अजातशत्रु' जैसी भावुकतापूर्ण उपाधि से सुविभूषित किया है। ऐसा है धर्म्मराज युधिष्ठिर का सहज-स्वरूप-चित्रण, जिसे आमुख मान कर ही हमें महाभारतसन्दर्भ का समन्वय करना है।

महता प्रयासेन भगवान् कृष्ण ने जैसे तैसे युधिष्ठिरप्रमुख भावुक–संघर्षशून्य-अनुकूलताप्रेमी पाण्डवों को क्षात्रधर्म्मोचित मानवधर्म्म के संस्थापन जैसे महान् उद्देश्य से युद्ध के लिए अभिमुख किया। ठीक युद्धारम्भप्रसङ्ग पर भावुकता के महान् प्रतीक अर्जुन में पुनः पूर्वाभ्यस्त सहजभावुकता समुद्भूत हो पड़ी, जिसके उपशम के लिए श्रीमद्भगवद्गीतोपवर्णिता अव्ययेश्वरनिबन्धना उस बुद्धियोगनिष्ठा को अव्यया-वतार वासुदेव को उसी प्रकार पुनः लक्ष्य बनाना पड़ा, जिस निष्ठा का अन्यशरीरावच्छिन्न इसी अव्य–येश्वर के द्वारा पुरा देवयुग में सर्वप्रथम मानवप्रजासम्राट् विवस्वान् मनु के प्रति उपदेश हुआ था। बुद्धि-योगनिष्ठा के द्वारा अज्ञानजनित आत्मस्वरूपविमोहन पलायित हुआ। फलस्वरूप अर्जुन संकल्पित क्षात्र–निष्ठा (युद्ध) में अभिप्रवृत्त हुए। आगे चल कर अनेकवार भीष्म–द्रोण–आदि युद्धप्रसङ्गों में पाण्डवों में पुनः पुनः भावुकता जागरूक होती रही, एवं परमनैष्ठिक भगवान् अपने सामयिक निष्ठासूत्रों से पाण्डवों का उद्बोधन कराते रहे। आज एक वैसा ही, उससे भी कहीं भयङ्कर अवसर उपस्थित हो पड़ा युधिष्ठिर की सहजभावुकता के अनुग्रह से, जिसके सर्जक बनें महावीर अमितौजा अङ्गराज कर्ण।

भीष्म और द्रोण के सेनापत्यकाल में भी युधिष्ठिर युद्ध में प्रवृत्त रहे थे। किन्तु उन दोनों अवसरों पर युधिष्ठिर वैय्यक्तिकरूप से विशेष उत्पीड़ित इसलिए नहीं हुए थे कि, भीष्म और द्रोण अन्नदासाकर्षण से कौरवसेना का आधिपत्य वहन करते हुए भी धर्म्मशील पाण्डवों के प्रति सहजरूप से अपना वात्सल्यप्रेम सुरक्षित रखते थे। दैवदुर्विपाक से दोनों ही महारथी क्षात्रगति को प्राप्त हो गए। अब सेनापति बनाए गए वे कर्ण, जिनका आरम्भ से ही पाण्डवों के प्रति सहज वैर प्रक्रान्त था, एवं जो अङ्गराजोपाधिप्रदाता दुर्य्योधन के हित में अपनी अनन्य निर्व्याज निष्ठा रखते थे। इनके अन्तःकरण में पाण्डवों के प्रति अणुमात्र भी स्नेह–दया–करुणा–ममताभाव न थे। अर्जुन को छोड़ कर शेष चारों पाण्डवों के वधकर्म्म से तटस्थ बन जाने वाले मातृभक्त कर्ण ने इन चारों के प्राण अवश्य नहीं लिए। किन्तु प्राणान्त–कष्ट के अनुग्रह में कर्ण ने कुछ भी शेष नहीं रहने दिया। जो भी पाण्डुपुत्र कर्ण के सम्मुख आ पड़ा, कर्णशरवर्षणानुग्रह से वही त्राहि त्राहि उद्घोष कर पड़ा। और यहाँ आकर युधिष्ठिर की सहज भावुकता उत्पीड़ित हो पड़ी। कर्णप्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरों के आघात से युधिष्ठिर आकुल–व्याकुल हो पड़े। पाण्डवसेना के देखते देखते कर्ण ने अपने अमोघ शरवर्षण से युधिष्ठिर के कवच-रथ-ध्वजा-धनुष–शक्ति–रथाश्व–तूणीर–सब कुछ काट फेंके, जैसा स्वयं युधिष्ठिर ने अपने मुख से स्वीकार किया है। निरस्त्र–हतवीर्य्य–युधिष्ठिर को कर्ण उसी क्षण यमराज का भी अतिथि बना सकते थे। किन्तु धर्म्मप्रतिज्ञा की दृष्टि से अनन्यनिष्ठ प्रातःस्मरणीय कर्ण माता कुन्ती के साथ की गई प्रतिज्ञा का स्मरण कर वधकर्म्म से पराङ्मुख बन गए।

आकस्मिक संघर्ष सहज सौम्यभावुक मानव की भावुकता को चरमसीमानुगामी बनाता हुआ प्रतिक्रियासर्जनपूर्वक निष्ठा का जनक बन जाया करता है। सहज भावुक युधिष्ठिर के सम्बन्ध में भी यही लोकसूत्र अन्वर्थ बना। भावुकता सर्वात्मना पलायित हो गई, निष्ठा का उदय हो पड़ा। सदा के सुशान्त युधिष्ठिर कर्णशराभितप्त बन कर अपने आपको भूल गए। आक्रोश जागरूक हो पड़ा। और सर्वत्र क्षमाप्रदानशील युधिष्ठिर यों कर्णानुग्रह से चरमसीमा के प्रतिक्रियावादी बन बैठे। इस प्रतिक्रिया ने कर्ण का तो तत्काल कुछ अनिष्ट किया नहीं, लक्ष्य बना इस प्रतिक्रिया का अर्जुन का 'गाण्डीवधनुष। इसलिए कि कर्ण के धनुष ने ही तो इन्हें सन्तप्त किया था। सहसा इन्हें अपने अर्जुन का वह गाण्डीवधनु: संस्मृत हो पड़ा, जिस की अप्रतिम शरवर्षणशक्ति का यशोगान युधिष्ठिर कई बार अर्जुन के मुख से सुन चुके थे। **'कर्ण का अवश्यमेव येन केनाप्युपायेन विनाश होना ही चाहिए'** एक ओर युधिष्ठिर में जहाँ यह क्षात्रनिष्ठा उदित हुई, वहाँ दूसरी ओर निष्ठात्रलाक्रमण से सहसा बहिर्भूतप्राया भावुकता का लक्ष्य बना गाण्डीव, और तद्धारी अर्जुन। सम्पूर्ण विवेक खो बैठे इस दिशा में युधिष्ठिर। पुरोऽवस्थित महामान्य वासुदेव कृष्ण की उपस्थिति भी युधिष्ठिर को संयत न रख सकी। और यों—कर्णमूलाधारजनिता प्रतिक्रिया के अनुग्रह से महाभारत का प्रतिज्ञात रोचक सन्दर्भ इस रूप से उपक्रान्त हो ही तो पड़ा कि—

सञ्जय उवाच—"श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यम्"।

(१)—व्यासप्रदत्त **'परोक्षदृष्टिसंयम'** रूपा देवविद्या के प्रभाव से कौरवराजभवन में समासीन धृतराष्ट्र को युद्धेतिवृत्त सुनाने के लिए नियत सञ्जय धृतराष्ट्र से कहने लगे—राजन्! (धृतराष्ट्र!)–युद्ध-प्रसङ्ग में महारथी कर्ण के लोकप्रसिद्ध उदार–उदात्त–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक–बल) सुन सुन कर युधिष्ठिर क्रोधाविष्ट बन गए। स्वयं भी कर्ण के सुतीक्ष्ण बाणों के निर्म्मम प्रहाररूप रसास्वादन ? से सन्तप्त उत्तप्त–विक्षिप्त–से बने हुए प्रतिक्रियानुगामी क्रोधनिष्ठ युधिष्ठिर अर्जुन के सुप्रसिद्ध गाण्डीव धनुष को, एवं तद्धारक महारथी अर्जुन को लक्ष्य बनाते हुए आक्रोशपूर्वक इस प्रकार परुषवाक्प्रहार (धिक्कारयुक्ता वाणी का प्रहार) करने लगे कि—

(२) अर्जुन! गाण्डीवधारी अर्जुन! पृथापुत्र पार्थ! आज तुम्हारा सैन्यबल गलित–स्खलितवीर्य्य बन गया, कर्ण ने सहसा क्षणमात्र में तुम्हारी महती सेना का तिरस्कार कर डाला। क्या यह ठीक हुआ?। तुम कर्ण से भयत्रस्त बन कर भीम को असहाय छोड़ कर यहाँ आकर छिप गए। तुम युद्ध में कर्ण को मार न सके। (३)—अर्जुन! आज तुमने अपनी 'पार्थ' उपाधि को कलङ्कित करते हुए अपनी उस मातृकुक्षि (माता की कोख) को लज्जित ही कर दिया, जिस कुक्षि से उत्पन्न होकर भी भीम को असहाय छोड़ कर तुम युद्ध से पराङ्मुख तो हो गए, किन्तु सूतपुत्र को मार न सके॥ (४) तुमने द्वैतवननिवास प्रसङ्ग में जो यह सत्य प्रतिज्ञा की थी कि, मैं युद्ध में एकाकी ही कर्ण का वध कर डालूँगा। कहाँ गई तुम्हारी वह प्रतिज्ञा?। देख रहा हूँ, प्रतिज्ञा का विस्मरण कर आज तुम डर कर भीम को असहायावस्था

में छोड़ कर पीठ दीखा कर (स्त्रियों की भाँति) घर में आ घुसे हो ॥ (५)—उसी द्वैतवन में तुमने यह भी तो घोषणा की थी कि यदि हम लोग युद्ध में कर्ण को मारने में असमर्थ रहे, तो हम सब जीते-जी जल मरेंगे । होगई न तुम्हारी वह घोषणा भी आज सर्वथा निरर्थक ॥ (६)—अर्जुन ! तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ धनुर्द्धर महावीर की विद्यमानता में हमने अपने मनोराज्य में अनेक महत्वाकांक्षाओं को स्थान दे रक्खा था । हमारी कल्पना थी कि, अर्जुन के द्वारा हमारे सम्पूर्ण इष्ट संसिद्ध होंगे । किन्तु राजपुत्र ! देख रहे हैं, हमारी वे सब फलाशाएँ अपुष्प–निष्फल वृक्षवत् सर्वथा विफल प्रमाणित हो गई हैं ॥ (७)—अर्जुन ! पूरे १२ वर्ष ज्ञातवनवास–कष्टपरम्परा, एक वर्ष अज्ञातवास-कष्ट, इस प्रकार तेरह वर्ष हमने इस आशा से अपना जीवन सुरक्षित रक्खा कि, किसी दिन अर्जुन इन सब के प्रवर्त्तक आततायी कर्ण–दुर्य्योधनादि से प्रतिशोध लेगा । किन्तु जिस प्रकार समय पर होने वाली वर्षा में देवद्वारा भूगर्भ में न्युप्त बीज मूर्ख–मानव द्वारा नष्ट कर दिया जाता है । तथैव तुमने देवद्वारा प्राप्त कर्णवधप्रसङ्गरूप बीज को अपनी उपेक्षा से विस्मृत करते हुए आज हमें जीते-जी नरक में निमज्जित कर दिया ।

(८)—अर्जुन ! आज हमें यह मान लेना पड़ा कि, तुम्हारी उत्पत्ति के समय **'आकाश के देवताओं' ने** जो भविष्यवाणी की थी, वह क्योंकि सर्वथा निष्फल प्रमाणित हो गई । अतएव देवता भी आज से हमारी दृष्टि में 'अनृतभाषी' प्रमाणित हो गए । जब तुम केवल सात ही दिन के थे, उस समय यह भविष्यवाणी की थी देवमानवों ने कि—तुम्हारे वंश में उत्पन्न यह बालक इन्द्रसदृश पराक्रमी होगा । अपने सम्पूर्ण प्रतिद्वन्द्वी महारथियों को युद्ध में परास्त करेगा ॥ (९)—खाण्डव वन में यह देवताओं को भी पराभूत कर देगा । सम्पूर्ण प्राणियों–देवमानवों–के समतुलन में यह अप्रतिम ओजस्वी प्रमाणित होगा । अपने शौर्य्य में सुप्रसिद्ध मद्र–कलिङ्ग–केकय वीरों को यह क्षणमात्र में निस्तेज कर देगा । यह कौरवों का सर्वनाशक प्रमाणित होगा ॥ (१०)—पृथिवी में इस से बढ़ कर कोई दूसरा धनुर्द्धर न होगा । संसार में कोई इसे पराजित न कर सकेगा । यह इच्छामात्र से तत्क्षण सब को अपना वशवर्त्ती बना सकेगा । इस क्षात्रधर्म्म के साथ साथ यह सम्पूर्ण विद्याओं का भी परपारगामी विद्वान् प्रमाणित होगा । (११)—यह अपनी शारीरिक कान्ति से चन्द्रमा के समान आकर्षक होगा, प्राणगत्यपेक्षया वायु–समान होगा, स्थिरता में मेरु की समता करेगा, क्षमा में पृथिवी की समता करेगा, यश में सूर्य्य माना जायगा, लक्ष्मी में कुबेर कहलाएगा, शौर्य्य में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध होगा, एवं बल में विष्णु की प्रतिस्पर्द्धा करेगा ॥ (१२)—विष्णु के समान शत्रुहन्ता (असुरहन्ता) तुम्हारे कुल में उत्पन्न यह कुन्तिपुत्र (अर्जुन) महामहिमशाली (महात्मा) प्रमाणित होगा । अपनों की विजय का निमित्त बनेगा, एवं द्वेष करने वालों के लिए प्रचण्ड 'वधिक' प्रमाणित होगा, इसका ओज अमित–निःसीम होगा । कुलतन्तुवितानसंरक्षक वंशवर्द्धक होगा ॥ (१३)—इस प्रकार 'शतशृङ्ग' नाम से प्रसिद्ध हिमपर्वतशिखा पर तपश्चर्य्या में निमग्न तपस्वी देवमानवों ने जो भविष्यवाणी की थी, वह सर्वात्मना मिथ्या प्रमाणित होती हुई **'देवा अपि नूनं मृषा वदन्ति'** आज यह व्यक्त कर रही है । (१४)–इसी प्रकार जब आगे चलकर अन्य भारतीय महर्षियों तक ने तुम्हारे सम्बन्ध में जो उदात्त भविष्यवाणियाँ अभिव्यक्त

कीं थीं, जिन महापुरुषों तक द्वारा तू सम्मानित होता था, उस तेरे लोकोत्तर महत्त्व के आधार पर मैंने दुष्टबुद्धि दुर्योधन को उपेक्षणीय मान लिया था, एवं सर्वात्मना अपने आपको भविष्य के लिए इन भविष्य की आशाओं के माध्यम से निरापद अनुभूत कर लिया था ॥

(१५)—किसी समय जब दुर्योधन ने यह कहा था कि, "अर्जुन (फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न, अतएव 'फाल्गुन'–निर्वीर्य्यनक्षत्रप्राणात्मक अर्जुन) महाबली कर्ण के साथ खड़ा भी न रह सकेगा" उस समय मैंने यह केवल दुर्योधन की मूर्खता ही समझी थी। मैंने उस समय यह न समझा था कि, वास्तव में तू दुर्योधन की पूर्ववाणी को यों चरितार्थ कर देगा ॥ (१६)—उसी अन्धविश्वास–मिथ्या अनुमान के कारण आज मैं जला जा रहा हूँ। आज शत्रुवर्ग के सम्मुख कर्णद्वारा पराभूत होता हुआ मैं जीवित ही नरकगति (अधोगति) को प्राप्त हो गया हूँ। अरे अर्जुन ! (कायर अर्जुन) ! तुझे आरम्भ में ही मुझे यह कह देना चाहिए था कि, मैं कर्ण के साथ युद्ध करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। एकमात्र तेरे बल पर ही मैं कर्ण के सम्मुख चला गया, और ऐसी दुर्दशा करा बैठा। क्या विदित था, और किसे विदित था कि, तू समय पर यों धोखा दे जायगा) ॥ (१७)—(यदि तेरी यह कापुरुषता तू पहिले ही व्यक्त कर देता, तो) मैं क्यों तो अपने मित्रराजा सृंजयों को आमन्त्रित करता, क्यों केकयराज को कष्ट देता। क्यों इनका उपकारभार वहन करता। अब मैं कब इस ऋण से उऋण बनूँगा। अथवा तो ऐसी विषमावस्था में मैं कर्ण के सम्मुख जाता ही क्यों ॥

(१८)—यही नहीं, (यदि तेरी कापुरुषता का मुझे यत्किञ्चित् भी आभास पूर्व में हो जाता, तो) न तो मैं दुर्योधन के सम्मुख ही (युद्धकामना से) उपस्थित होता, न अन्य शत्रुसेना की ही प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बनता। सुन रहे हैं आप भी कृष्ण ! (देख रहे हैं आप भी अपने सखा की कायरता !)। अब मेरे इस जीवित रहने को ही धिक्कार है, जिसने आज युद्ध में अपने आपको कर्ण के वश में कर दिया ॥ (१९)—न केवल कर्ण की दृष्टि में ही, अपितु समस्त उन कौरवों की दृष्टि में (शत्रुसेना की दृष्टि में), मित्रसेना की दृष्टि में, अन्यान्य भी जो भी ज्ञात–अज्ञात–शत्रुमित्र यहाँ युद्धकामना से उपस्थित हुए हैं, उन सब की दृष्टि में मेरा जीवन सर्वथा धिक्कृत, अतएव निरर्थक बन गया है ॥ (हा धिक्) यदि आज महारथियों में श्रेष्ठ कोई मेरा आत्मबन्धु जीवित होता, तो अवश्य ही कर्ण का निहन्ता बनता। अर्जुन ! यदि आज तेरा पुत्र अभिमन्यु जीवित रहता, तो किस की सामर्थ्य थी कि, वह मुझे इस प्रकार पराभूत कर देता ॥ (२०)—यदि भीमपुत्र घटोत्कच भी आज जीवित रहता, तो मैं इस प्रकार युद्ध में कर्ण के सम्मुख पराङ्मुख न बन जाता। आज मैंने यह मान लिया है कि, एकमात्र मेरी भाग्यहीनता से मेरे पूर्वजन्म के पाप बलवान् हो पड़े हैं ॥ (२१)—तभी तो अर्जुन तुझे तृण के समान बहिर्भूत कर के उस दुरात्मा कर्ण ने इस प्रकार मेरे मर्म्मस्थलों को स्थान-स्थान से क्षत-विक्षत कर दिया है। मुझे अपने सुतीक्ष्ण बाणों से कर्ण ने आज उस निर्दयता से स्थान स्थान से काट दिया है, जैसे बन्धुबान्धव-शून्य एक असहाय को कोई आततायी निर्म्मता से काट देता है ॥

(२२)—"अपने आत्मीय बन्धु को विपत्ति में दुष्ट–शत्रु–आततायी के निर्मम आक्रमण से जो बचाता है, वही बान्धव है, वही स्नेहशील मित्र है ॥ इस प्रकार की बन्धु–सुहृद्व्याख्या, इस प्रकार का बन्धु–मित्रधर्म्म पुरातन मुनियों ने घोषित किया है, जो बन्धुधर्म्म इसी रूप से परम्परया श्रेष्ठ मानवकुलों में सदा से चला आता रहा है । (जो भी बन्धु, किंवा स्नेही इस धर्म्माम्नाय की उपेक्षा करता है, क्या उसे बन्धु माना जाय ?, नहीं, कदापि नहीं ॥ (२३)—देवरथकार त्वष्टा के द्वारा विनिर्म्मित अक्षयुक्त–मारुतिध्वजयुक्त सुदृढ़ रथ, सुतीक्ष्ण खड्ग, सुवर्णपट्टबद्ध धनुष, तालपरिमाणयुक्त गाण्डीवधनुष, ऐसे लोकोत्तर युद्धसाधन परिग्रहों से युक्त भी अर्जुन ॥ (२४)—स्वयं कृष्ण द्वारा रथ से युद्ध में इतस्ततः अनुधावन करनेवाला अप्रतिम शक्तिशाली भी अर्जुन कर्ण से डर कर कैसे युद्धभूमि से पराङ्मुख बन गया ?, सच–मुच यह महा आश्चर्य्य है । अर्जुन ! अब इस स्थिति में तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि, अपना गाण्डीव धनुष कृष्ण को ही समर्पित कर दे । तू तो केवल कृष्ण का अनुगामी (सारथी) बन जा ॥ (२५) मुझे विश्वास है, कृष्ण अवश्य ही उग्रकर्म्मा कर्ण का वध कर डालेंगे, उसी प्रकार से, जैसे कि वज्रधारी इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला था (तात्पर्य्य इस युधिष्ठिर के आक्रोशवचन का यही है कि, अर्जुन तो डर गया था, किन्तु कृष्ण कहाँ चले गए थे उस समय । क्यों नहीं उन्होंने इस कायर अर्जुन के हाथ से गाण्डीव छीन कर, अथवा तो अपने सुप्रसिद्ध सुदर्शनचक्र से कर्ण का वध कर डाला ? । दोनों लोकोत्तर वीरों के रहते कर्ण बचा रहे, यह कम आश्चर्य्य है क्या ?) (२६) अर्जुन ! अन्ततोगत्वा मुझे आज यह कहना ही पड़ता है कि, यदि राधेय कर्ण को मारने में तू असमर्थ है, तो—

आज से तुझे अपना गाण्डीव धनुष दूसरों को दे देना चाहिए । मेरी धारणा से तो वानरेन्द्र (वायुपुत्र) महापराक्रमी भीम ही इस गाण्डीव का पात्र है, जो तुझसे कहीं अधिक अस्त्र–शस्त्र प्रयोग में निपुण है ! क्यों न गाण्डीव भी उसे ही दे दिया जाय ? । गाण्डीव जैसे धनुष को धारण करते हुए तुझे अब कोई अधिकार नहीं है कि, अपनी उदासीनता-उपेक्षा (किंवा कायरता) से हमारे परिवार को, तथा राज्य को सङ्कट में डालते हुए तुम हमें सुखभ्रष्ट कर दो ॥ (२७)–धिक्कार है आज तुम्हारे इस गाण्डीवधनुष को । धिक्कार है तुम्हारे उन सशक्त हाथों को, जिन्होंने गाण्डीव को उठा रक्खा है । धिक्कार है तुम्हारे उस तूणीर को, जिसमें असंख्य सुतीक्ष्ण बाण समाविष्ट हैं । धिक्कार है तुम्हारी उस रथध्वजा को, जिसमें अप्रतिम बल के प्रतीक भगवान् मारुति का बिम्ब खचित है । धिक्कार है तुम्हारे सबल सुदृढ रथ को, जो खाण्डववनदाह के अवसर पर साक्षात् अग्निदेव ने तुम्हें दिया था ।

(२८)—इस स्थिति के द्रष्टा, एवं धृतराष्ट्र के प्रति उपवर्णयिता सञ्जय धृतराष्ट्र से कहने लगे कि, श्वेत अश्वों से सुसज्जित–सुशोभित अग्निप्रदत्त रथ में आरूढ़ धवलकीर्त्ति अर्जुन की जब इस प्रकार

युधिष्ठिर ने भावावेश में आकर परुषवाणी से मार्मिक शब्दों में उद्वेगजननी कटु–भर्त्सना कर डाली, तो भरतकुलश्रेष्ठ युधिष्ठिर के वध के लिए क्रोधाविष्ट बन जाने वाले अर्जुन ने सहसा तलवार उठा ही तो ली ॥ (२६)—भावुक–भावाविष्ट अर्जुन के इस तात्कालिक आवेशपूर्ण कर्म्म को लक्ष्य बनाने के साथ ही मनोविज्ञानवेत्ता (चितज्ञ) वासुदेव कृष्णने अर्जुन के मनोभाव पहिचान लिए, एवं अर्जुन की इस अनार्य्यजुष्टा भावुकता के उपशम के लिए वासुदेव कहने लगे कि, हे पार्थ ! समझ में नहीं आरहा हमारे कि, इस असमय में तुमने खड्ग क्यों उठा लिया ? ॥ (३०)—देख रहे हैं हम, कौरवसेना के प्रायः सभी प्रमुख महारथी तुम्हारे गाण्डीव से मारे जा चुके हैं। इस समय यहाँ, और क्या युद्धभूमि में भी अब कोई वैसा वीर शेष रहा प्रतीत नहीं हो रहा, जिसके साथ तुम्हें अभी युद्ध करना हो ! दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्र के अधिकांश पुत्र भी बुद्धिनिष्ठ भीम की गदा से चूर्णशिरष्क बन ही चुके हैं ॥ (३१)—अर्जुन ! आज तो वैसा शुभ समय अतिसन्निहित बनता जा रहा कि, निकट भविष्य में हीं धर्म्मराज युधिष्ठिर राज्यपदासीन हों, तुम उन्हें राज्यारूढ़ देखो, वे तुम्हें अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखें ॥ (३२)—इस प्रकार सर्वथा प्रसन्न–हर्षनिमग्न होने के ऐसे हर्षप्रद महामाङ्गलिक सुअवसर पर तुम यह खड्गोत्तानरूप महाअमाङ्गलिक, मोहात्मक कर्म्म करने के लिए जो सन्नद्ध प्रतीत हो रहे हो, क्या उत्तर दे सकोगे अपनी इस भावुकता का ? (३३)—अर्जुन ! हम तो पुनः तुमसे यही कहेंगे कि, अब तुम्हारे लिए इस समय कोई भी तो वध्य नहीं है। हम समझ न सके कि, किसे मारने के लिए तुम खड्गोत्तान किए सज्जीभूत बन रहे हो ? कहीं तुम्हारा चित्त तो विभ्रान्त (डाँवाडोल) नहीं हो गया है ? ॥ (३४)—क्या अविलम्ब यह स्पष्ट करने का कष्ट करोगे कि, किस लिए किस के लिए यहाँ–अपने हितैषी परिजनों के मध्य में–तुमने वेगपूर्वक (सपाटे से) यह अरिहन्ता खड्ग वितत कर लिया (तलवार तान ली) ?। सुन रहे हो अर्जुन ! हम तुम से प्रश्न कर रहे हैं, तुम्हें बतलाना ही पड़ेगा हमें कि, आज तुम यह क्या करने जा रहे हो, क्या करने का निश्चय कर डाला है तुमने, जो यों घूर्णितनेत्र बनकर क्रोधाविष्ट बनते हुए इस प्रकार इतस्ततः परिभ्रमणरूप से खड्ग को बारम्बार संभाल रहे हो, लक्ष्य बनाते जा रहे हो ? ॥

(३५)—सञ्जय कहने लगे कि, हे कुरुराज धृतराष्ट्र ! वासुदेव कृष्ण के द्वारा सर्वथा परोक्षरूप से-मानो भगवान् इस खड्गधारणप्रसङ्ग से अपरिचित ही हों, इस तटस्थ दृष्टि से–अर्जुन के सम्मुख प्रश्न–परम्परा उपस्थित हो जाने पर क्रोधाविष्ट विषधर कृष्णसर्पवत् ऊर्ध्वाधःश्वासपरम्परा का अनुगमन करते हुए घूर्णित नेत्रों से युधिष्ठिर का मानों सशरीर ही निगरण करने का भाव अभिव्यक्त करते हुए क्रोधाविष्ट अर्जुन कृष्ण से कहने लगे कि—

(३६)—भगवन् ! सम्भवतः आपको यह विदित न होगा कि–मैंने किसी समय उपांशुरूपसे–अपने मन हीं मन में–यह यह व्रतग्रहण (प्रतिज्ञाग्रहण) कर लिया था कि,–"जो भी मुझ से जान में अथवा अनजान में कभी भी किसी भी अवस्था में यह कहने का दुःसाहस कर बैठेगा कि–'तू तेरा गाण्डीव धनुष उतार फैंक ॥ (३७)—तो तत्काल बिना पूर्वापरविमर्शविवेक के मैं उसका मस्तक ही काट डालूँगा"।

आज यहाँ वैसी ही दुःसह दुर्घटना घटित हो पड़ी है केशव ! । (आपके सम्मुख ही तो) युधिष्ठिर ने मुझे मेरे गाण्डीव परित्याग करने का व्रतविरोधी आदेश देने की महाभयावह भ्रान्ति कर डाली है मधुसूदन ! ॥ (३८)—मेरे अनन्य हितैषी गोविन्द ! आपके सम्मुख इस आवेशपूर्ण स्थिति में खड़ा हुआ मैं आज आप से यह स्पष्ट आवेदन करने की धृष्टता करूँगा ही कि, किसी भी दशा में यह अर्जुन, सत्य-प्रतिज्ञ दृढनिश्चयी अर्जुन इस प्रकार परुष वाक्प्रहार करने वाले युधिष्ठिर के इस अक्षम्य अपराध को सहन करने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं है । अवश्य ही आज मैं इस **"धर्म्मभीरु"** राजा का इस उत्तानित सुतीक्ष्ण खड्ग से वध करूँगा, अवश्य करूँगा ॥ (३९)—भगवन् ! इस धर्म्मभीरु आततायी युधिष्ठिर का **'आततायिनमायान्तं हन्यादेव-अविचारयन्'** इस धार्मिक आदेश के संरक्षण के लिए अवश्य ही खड्ग से शिरश्छेद करूँगा, एवं इस वधकर्म्म से अपनी तथा-प्रतिज्ञात उपांशुप्रतिज्ञा अवश्य ही आज पूर्ण करूँगा । अलम् ! आलप्यालं यदुनन्दन ! बस एकमात्र यही कारण है मेरे सहसा खड्गोत्तान का ॥ (४०)—हे जनार्दन ! निकट भविष्य में ही—आपके सम्मुख ही—निष्पन्न होने वाले आततायी युधिष्ठिर के शिरश्छेद कर्म्म से आज वास्तव में यह अर्जुन प्रतिज्ञापालनात्मक सत्यधर्म्म के ऋणानुबध से उन्मुक्त हो जायगा । इस वधकर्म्म से ही मैं शोकरहित—परितापरहित बन सकूंगा भगवन् ! नान्यः पन्था विद्यतेऽय—नाय जनार्दन ! ॥

(४१)—अथवा तो भगवन् ! दुर्दैववशवश समुपस्थित, अघटितघटनात्मक, ऐसे घोर घोरतम विषम अवसर पर आपकी धारणा से क्या होना चाहिए ? क्या करना चाहिए इस अर्जुन को ? (क्योंकि इससे पूर्व भी अमुकामुक **'विषमे समुपस्थिते'** आप ही के आदेश—पालन से अर्जुन लक्ष्यारूढ़ बना था) । गोविन्द ! आप ही अतीत और भविष्यत् के परिणामों के सम्यक्प्रकारेण जानने वाले हैं । (यह अर्जुन तो केवल वर्त्त-मान के आधार पर ही निर्णय करना जानता है) ॥ (४२)—अन्तिम निर्णय इस विषमावसर पर अर्जुन का यही है कि, मेरे गोविन्द भूत्—भवत्—भविष्यत् के शुभाशुभ परिणामों के माध्यम से जो भी आप निर्णय करेंगे, वही अर्जुन को बिना किसी तर्क-वितर्क के सर्वात्मना मान्य होगा, एवं तदनुसार ही अर्जुन करेगा ॥

सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार अर्जुन के तथाविध भयानक दृढ़ निश्चय—आपात-रमणीय संकल्प को सुन कर, साथ ही अर्जुन की प्रणिपातरूपा जिज्ञासा को देख—सुनकर भगवान् कृष्ण ने सर्वथा रूक्षभाव से पहिले तो—"धिक्कार है अर्जुन तुझे, बार बार धिक्कार है तुझे" इस प्रकार अर्जुन की भर्त्सना की, एवं तदनन्तर वास्तविक स्थिति से अर्जुन का उद्बोध कराने के लिए साधूनां परित्राणाय आविर्भूत पूर्णेश्वर अर्जुन से यों कहने लगे कि ॥—

(४३)—पार्थ ! आज मुझे यह विदित हुआ कि,—**'न वृद्धा सेवितास्त्वया' (वृद्ध पुरुषों के सहवास से तू आज तक वंचित ही रहा)** फलतः धर्म्म के सुसूक्ष्म तत्त्वों का देश—काल—पात्र—द्रव्य-श्रद्धा—आस्था—मनोभाव—पूर्वावरविवेकपूर्वक समन्वय करने वाले धर्म्मतत्त्वज्ञ अनुभवी धर्मव्यवहारनिष्ठ नैष्ठिक वृद्धपुरुषों ने ऐसे विषम प्रसङ्गों के लिए जो निर्णय निर्णीत किए हैं, उनसे तू सर्वात्मना वञ्चित

ही रहा। अतएव उन वृद्ध अनुभवी ज्येष्ठपुरुषों (युधिष्ठिरादि) के उन मनोभावों से भी तू अपरिचित ही रहा, जिन मनोभावों के आधार पर परुषवाणी के द्वारा वे वृद्धकुलपुरुष अपने तुझ जैसे भावुक आत्म–बन्धुओं का उद्बोधन कराया करते हैं। यही कारण है कि, वृद्धपुरुषों के त्रिकालानुगत परिणाम को न समझ कर केवल तात्कालिक सामयिक स्थितिविशेष से प्रभावितमना बन कर आज तू जिस आटोपपूर्ण जघन्य कर्म्म के लिए समुद्यत हो पड़ा, उसका कोई भी वृद्धोपसेवी श्रद्धालु संकल्प भी नहीं कर सकता था। हे पुरुषव्याघ्र ! वर्त्तमानकाल के तात्कालिक प्रभाव से जिस महारम्भ, किन्तु परिणाम में सर्वसंहारक लक्ष्य का तू अनुगामी बन गया, यह देखकर निश्चयेन यही मानना पड़ेगा हमें कि—**'न वृद्धाः सेवितास्त्वया'** ॥ (४४)—अर्जुन ! धर्म्म का गुहानिहित सुसूक्ष्म रहस्य जानने वाला कोई भी विचारशील धर्म्मनिष्ठ मानव ऐसा आपातरमणीय कर्म्म नहीं कर सकता था, जैसा कि सर्वथा **धर्म्मभीरु**–सदसद्विवेक–शालिनी निष्ठाबुद्धि से वञ्चित तुझ अपण्डित ने कर डाला॥ (४५)—अकर्त्तव्य को जो भावुक कर्त्तव्य मान बैठता है, दूसरे शब्दों में जिसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक नहीं रहता, उससे अधिक निकृष्ट अधम मानव और कौन होगा? दुःख है हमें अर्जुन !, तुम इसी पुरुषाधमस्थिति को आज चरितार्थ कर रहे हो ॥ (४६)—अर्जुन ! हमें आज तुझ जैसे विवेकशून्य को इस कटुसत्य से संयुक्त मानना ही पड़ेगा कि, धर्म्म के रहस्यार्थ को लक्ष्य बना कर जो धर्म्मतत्त्ववेत्ता संक्षेप से एवं विस्तार से धर्म्म का निर्णयात्मक निष्कर्ष अभिव्यक्त किया करते हैं, तू उस निश्चित–निर्णीत धर्म्मपरिभाषा के ज्ञानलेशमात्र से भी आजतक वञ्चित ही रहा है ॥ (४७)—अर्जुन ! तुझे यह विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि, धर्म्मतत्त्व के निश्चयात्मक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहने वाला मानव केवल अपनी भावुकप्रज्ञा के आधार पर–भावुकतानुगता तात्कालिकी–प्रत्यक्ष स्थिति के प्रभावाधार पर—अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक बनता हुआ अवश्यमेव प्रतारित हो जाता है (धोखा खाजाता है), जिसका, किंवा जिस मूढ़ता का प्रत्यक्ष उदाहरण बनता हुआ तू 'मूढ़' (ज्ञानविमुग्ध-आत्मबुद्धिस्वरूपज्ञानविमूढ़) ही प्रमाणित हो रहा है ॥ (४८)—वृद्धोपसेवन की उपेक्षा करते हुए, धर्म्म-तत्त्ववेत्ताओं के सुनिश्चित निर्णय से वञ्चित रहते हुए, यों ही केवल अपनी भावुकप्रज्ञा के बल पर ही, विमूढ़भावानुगता केवल मनोऽनुभूति के तात्कालिक आकर्षण से ही सहज सुविधापूर्वक कथमपि मानव अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चयात्मक बोध नहीं प्राप्त कर सकता। वृद्धजनोपसेवनपरम्परानुगता उपदेश-श्रवणपरम्परा से ही तो अर्जुन ! कर्त्तव्यनिष्ठा की प्राप्ति सम्भव बना करती है, जिस रहस्यात्मिका ज्ञान–निष्ठा को तू आज तक नहीं समझ सका है ॥ (४९)—अर्जुन ! धर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्य को न जानने के कारण ही निर्दुष्ट–'प्राणिवध' जैसे कुकर्म्मात्मक अधर्म्म को धर्म्म मानता हुआ आज तू यह समझ रहा है कि, 'इस हिंसा कर्म्म से मैं धर्म्म की रक्षा कर रहा हूँ। प्रतीत होता है, तू धर्म्मभावना से सर्वात्मना बहिष्कृत हो चुका है। क्यों !, क्या अब भी तुझे धार्मिक माना जाय ?। कदापि नहीं ॥ (५०)–**सुन रहा है अर्जुन ! हमारी दृष्टि में प्राणिमात्र को उत्पीडनरूपा हिंसा से बचाए रखना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म्म है। भले ही निर्दोष प्राणियों के स्वरूपसंरक्षणात्मक हित के लिए मिथ्याभाषण भी क्यों न करना पड़े, सो तो सह्य है। किन्तु प्राणिहिंसा कदापि क्षम्य नहीं है।**

(५१)––और आज तू किसी सामान्य 'प्राणी' का ही नहीं, अपितु धर्म्मरहस्यवेत्ता अपने ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–कुलवृद्ध–धर्म्मराज युधिष्ठिर जैसे महामानव का बध करने के लिए प्रवृत्त हो रहा है। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! । सर्वथा पशुसमान एक यथाजात नराधम–निकृष्ट विमूढ़ मानव–प्राकृत मानव–के अतिरिक्त और कौन प्रज्ञाशील मानव ऐसे अदृष्टपूर्व–अश्रुतपूर्व–जघन्य कर्म्म का संकल्प भी कर सकता है ? ॥ (५२)––सुन अर्जुन ! युद्ध के लिए सम्मुख उपस्थित न रहने वाले, किन्तु सहजरूप से सम्मुख उपस्थित रहने वाले ऐसे अयुध्यमान निर्दोष मानव का वध, जिसने कभी स्वप्न में भी शत्रुबुद्धि न की हो, वैसे स्नेही का वध, शस्त्रास्त्रप्रहार की वेदना सहने में असमर्थ, अतएव युद्ध से लौट आने वाले शिथिलगात्र मानव का वध, अपनी इस पराभूति से आत्मत्राण प्राप्त करने की कामना से अपने समर्थ सशक्त बन्धु–जनों के आश्रय में आ जाने वाले मानव का वध,॥ (५३)––अपनी असमर्थता के कारण ही विनयावनत बन कर शरण में आए हुए मानव का वध, उद्वेगकर–असह्य–परिस्थिति–वातावरणों के सांघातिक आक्रमण से चलितप्रज्ञता के कारण आत्मबुद्ध्यनुगत विवेक को विस्मृत कर देने वाले प्रमादभावापन्न मानव का वध शिष्ट मानवों की शिष्ट मान्यता में कदापि मान्य नहीं बन सका है। अर्जुन ! ये सम्पूर्ण अवध्य धर्म्म धर्म्मराज उस युधिष्ठिर में समाविष्ट हो पड़े हैं, जो अपनी ज्येष्ठता से तेरा 'गुरु' है। क्या इस अवध्य का तू वध करने के लिए ही आतुर हो रहा है ? ॥

(५४)––कभी अपनी पूर्वावस्था में अवस्थानुगता भावुकता के आवेश में आकर सर्वथा बालबुद्धि से पहिले तो उपांशु प्रतिज्ञा कर बैठना, और आज इस सर्वथा धर्म्मविरुद्ध अवध्य प्रसङ्ग में अधर्म्मयुक्त–मूर्खतापूर्ण निन्द्य कर्म्म के लिए उस बालभावानुगता उपांशुप्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए आवेश–पूर्वक सन्नद्ध हो जाना, यह कैसी विडम्बना है ? ॥ (५५)––मानवधर्म्मशास्त्रोपवर्णित नैगमिक अतीन्द्रिय-धर्म्मों की त्रिकालुनबन्धिनी सुसूक्ष्मा, अतएव प्रत्यक्षदृष्ट्या दुर्विज्ञेया गति का स्वरूप न जानते हुए अर्जुन ! तू आज अपने अवध्य गुरु को मारने के लिए जो सहसा अनुधावन कर पड़ा है, यह विडम्बना नहीं, तो और क्या है ? ॥ (५६)––(जिस प्रकार तू वृद्धोपसेवन से पराङ्मुख है, एवमेव) हमें अब यह भी मान ही लेना चाहिए कि, धर्म्म के सुसूक्ष्म समन्वयात्मक मौलिक रहस्यज्ञान से भी तू आजतक वञ्चित ही रहा है। तेरे उद्बोधन के लिए आज यह आवश्यक हो गया है कि, तुझे धर्म्म के रहस्यात्मक उस दृष्टिकोण से परिचित कराया जाय, जिसका वास्तविक मर्म्म तुझे तेरे कुल में धर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म, एवं धर्म्मानुशीलनपरायण धर्म्मराज युधिष्ठिर के द्वारा प्राप्त हो सकता है * ॥ (५७)––भीष्म और युधिष्ठिर के अतिरिक्त अर्जुन ! धर्म्म–नीति–परपारदर्शी एकान्तनिष्ठ महात्मा विदुर, तथा तेरी जन्म–

* महान् आश्चर्य्य है इस 'भावुकता' के आश्चर्य्यपूर्ण दुर्विज्ञेय स्वरूप पर, जिसने आज उस अर्जुन को धर्म्मविरुद्ध कर्म्म में प्रवृत्त कर दिया, जो अर्जुन युद्धारम्भ से पूर्व भगवान् कृष्ण के द्वारा 'गीता' के माध्यम से सब कुछ जान चुका था। तभी तो हमने निरतिशय भावुक अर्जुन को इस निबन्ध का महान् उदाहरण घोषित किया है।

दात्री यशस्विनी माता कुन्ती भी तुझे धर्मरहस्य का बोध करा सकती है । (हमें आश्चर्य है कि, अपने ही कुल–परिवार में ऐसे ऐसे धर्मरहस्यवेत्ताओं के वात्सल्यपूर्ण वातावरण में उपलालित–वर्द्धित अर्जुन कैसे धर्मरहस्यज्ञान से वञ्चित रह गया ? । अस्तु जब प्रसङ्ग उपस्थित हो ही गया है, तो) हे धनञ्जय ! धर्म्म का वही सूक्ष्म रहस्य हम तुझे तथ्यरूप से बतला रहे हैं, जिसे अवधानपूर्वक तुझे लक्ष्य बनाना चाहिए ॥

भगवान् कृष्णद्वारा प्रतिपादित–'धर्म्मस्वरूपव्याख्या'

(५८)––अर्जुन ! लोक में 'सत्य' भाषण करने वाला मानव ही साधु (श्रेष्ठ) कहलाया है । अतएव इस लोकमान्यतानुसार मानना और कहना पड़ेगा कि, त्रैलोक्य में 'सत्य' से अतिरिक्त और कोई दूसरा 'पर' तत्त्व (उत्कृष्ट-विशिष्ट-तत्त्व) नहीं है । किन्तु इस सत्यभाषणात्मक-सत्यानुशीलनात्मक सत्यात्मक धर्म्म, किंवा (यदि वा इतरथा) धर्म्मात्मक सत्य का मौलिक रहस्य, व्यवहारकौशल सहसा सर्वसाधारण की प्रज्ञा में समाविष्ट नहीं हो सकता । अतएव इस सत्यधर्म्म को, किंवा धर्म्मसत्य को आप्तपुरुषों नें 'सुदुर्विज्ञेय' कहा है । जिस प्रकार इस सत्यधर्म्म का अनुष्ठान–(अनुशीलन एवं आचरण) हुआ करता है, वही तो कौशल है, एवं वही तो तुझे जानना है । प्रारम्भ में तुझे धर्म्मरहस्य के सम्बन्ध में यही मूलधारणा निश्चित कर लेनी है कि, **सत्य ही धर्म्म का मौलिक स्वरूप है** * ॥

---

* निगमग्रन्थों में विस्तार से सत्य की धर्म्मता का स्वरूपविश्लेषण हुआ है । ब्रह्म ने सृष्टि–सञ्चालन के लिए क्रमशः क्षत्र–विट्–शूद्रभाव उत्पन्न किए । किन्तु एतावता ही सृष्टिसञ्चालन कर्म्म में ब्रह्म सफलता प्राप्त न कर सके । अन्ततोगत्वा सर्वोत्कृष्ट उस धर्म्म का आविर्भाव हुआ ब्रह्म के द्वारा, जो 'सत्य' रूपसे लोक में प्रसिद्ध है । देखिए !

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेकं सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपमन्यसृजत–'क्षत्रम्' । स नैव व्यभवत् । स विशमसृजत । स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत–पूषणम् । स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत–'धर्म्मम्' । तस्माद् धर्म्मात्–परं नास्ति । अथोऽबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्म्मेण, यथा राजा–एवम् । यो वै स धर्म्मः 'सत्यं' वै । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः–'धर्म्मं वदति' इति । धर्म्मं वा वदन्तमाहुः–'सत्यं वदति' इति । एतद्धि एतद् उभयं भवति" ॥

शतपथब्राह्मण १४ । ४ । २ । २३ से २६ पर्य्यन्त

सत्य धर्म्म के मौलिक रहस्यज्ञान से एकान्ततः असंस्पृष्ट प्रतीच्य विद्वानोंनें 'धर्म्म' के सम्बन्ध में श्रुति के–'**अथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते**' इस रहस्य को न जानने के कारण जो यह सिद्धान्त मान लिया है कि,–**धर्म्म केवल निर्बलों की रक्षा का साधन है**', वह नितान्त उपेक्षणीय है । विशेषविवरण के लिए देखिए–(श्राद्धविज्ञान तृतीयखण्ड पृ० सं० ३१०)

(५६)—"सत्य सदा 'सत्य' ही है (सच सच ही है) । इसलिए प्रत्येक दशा–स्थिति–परिस्थिति में सत्यभाषण ही करना चाहिए । एवमेव अनृत अनृत ही है (झूँठ झूँठ ही है), इसलिए कभी अनृत-भाषण (मिथ्याभाषण) नहीं करना चाहिए" इस प्रकार आवेशपूर्वक आग्रहपूर्वक 'सत्य' को, किंवा तद्रूप धर्म्म को लौकिक ऐन्द्रियिक व्यवहारों में कभी नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि–देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा–युगधर्म्म–शारीरिक अवस्था–मानसिक स्थिति–युगधर्म्म–समाजनीति–राजनीति–आदि की स्थिति–परिस्थितियों के तारतम्य से व्यावहारिक लोकतन्त्र में सत्यधर्म्म का व्यतिक्रम अनिवार्य्य बन जाता है । * । ऐसे अवसर भी धर्म्मसम्मत माने गए हैं, जहाँ जान–बूझ कर सत्यभाषण को परोक्ष बना लिया जाता है, एवं अनृतभाषण को स्वीकृत कर लिया जाता है । जहाँ जिन स्थलविशेषों–परिस्थितिविशेषों में अनृत 'सत्य' रूप से व्यवहार में आ जाता है, एवं सत्य 'अनृत' रूप से व्यवहारानुगामी बन जाता है, (उनका स्मार्त्तधर्म्मग्रन्थों में विस्तार से उपवर्णन हुआ है, जिनमें से कुछ एक उदाहरण यहाँ भी उद्धृत कर दिए जाते हैं) ॥

(६०)—विवाहानुगत समसम्बन्धियों के नर्म्मव्यवहारों (उपहास–हास–परिहास–अवसरों) पर, योषावृषात्मक दाम्पत्यसम्बन्ध के अवसर पर, किसी निर्दोष के प्राणसंकटावसर पर, किसी के न्यायसिद्ध वित्तापहरण प्रसङ्ग पर, निगमागमाम्नायनिष्ठ–तदनुशीलनपरायण–आचरणपरायण–उपदेशक–द्विजातिमानव के इष्टसाधन प्रसङ्गावसर पर, इन सुप्रसिद्ध पाँच स्थलविशेषों में जान–बूझ कर भी किया गया अनृत–भाषण सत्यभाषणवत् पुण्य कर्म्म ही मान लिया गया है ॥ (६१)—जहाँ किसी निर्दोष प्राणी के सर्वस्वापहरण का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय, और वहाँ यदि एक तटस्थ व्यक्ति के मिथ्याभाषण से उस निर्दोष का संरक्षण हो जाय, तो ऐसी परिस्थिति में उस साक्षीभूत तटस्थ व्यक्ति के द्वारा बोला गया अनृत अवश्यमेव सत्यभाव में परिणत हो जाता है । और यदि वह साक्षीभूत व्यक्ति पूर्वोक्त (५६) प्रारम्भिक दृष्टिकोण के आधार पर आवेशपूर्वक सत्यभाषण का पक्षपाती बनता हुआ ऐसे अवसर पर साक्षिवाद में सत्यभाषण कर बैठता है, इसके इस **'सत्याग्रहात्मक'** सत्यभाषण से यदि उस निर्दोष मानव का आततायी दुष्ट दस्यु आदि के द्वारा सर्वस्वापहरण हो जाता है, तो साक्षी का यह सत्यधर्म्म निश्चयेन असत्य–अधर्मरूप में परिणत हो जाता है–**'तत्रानृतं भवेत् सत्यं, सत्यं चाप्यनृतं भवेत्"** । सत्यानृत के इस व्यतिक्रमात्मक–अपवादात्मक रहस्य को न जानने के कारण ही तो अर्जुन ! तू आज अपनी बालभावानुगता उपांशुकृता सत्यप्रतिज्ञा को आग्रहपूर्वक सत्य मानने की भ्रान्ति करता हुआ युधिष्ठिर जैसे दोषरहित मानवश्रेष्ठ के वध के लिए खड्गोत्तान कर बैठा । अपने सत्याग्रहाभिनिवेश से अभिनिविष्ट तू जिस प्रकार सत्यधर्म्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो पड़ा, कहना पड़ेगा कि, तेरा यह सत्यानुष्ठान

---

* जिस स्पर्शास्पर्शनिबन्धन स्मार्त्तधर्म्म का यज्ञादि देवकर्म्मों में अनिवार्य अनुगमन विहित हुआ है, वही—**'देवयात्राविवाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति'** इत्यादि रूप से धर्म्मग्रन्थों में अपवाद मान लिया गया है ।

वास्तव में अनृतानुष्ठान बनता हुआ पुण्य के स्थान में पाप का ही उत्तेजक प्रमाणित हो रहा है, एवं ऐसी दशा में तू सर्वात्मना प्रमाणित हो रहा है **'बालभावापन्न अज्ञ'** ही ॥ (६२)—अर्जुन ! पुनः हम तुझे यह स्मरण करा देना चाहते हैं कि, आपद्धर्म्मानुगत अमुक विशेष अवसरों पर प्रतिज्ञात सत्य भी परोक्ष बना लिया जाता है, एवं कभी अनुष्ठित ऐसा प्रतिज्ञात्मक सत्य कार्य्यरूप में तो क्या, वाणी का भी विषय नहीं बनाया जाता। सत्य, और अनृत, दोनों के इस आपेक्षिक व्यवहार्य्य-कौशल का अपनी विवेकबुद्धि से निश्चय करने के अनन्तर ही वह मानव वास्तव में धर्म्मरहस्यवेत्ता कहलाता है। ठीक इसके विपरीत जो **'भवेत् सत्यमवक्तव्यं, न वक्तव्यमनुष्ठितम्'** तत्त्व की अज्ञानता से सत्याभिनिविष्ट-सत्याग्रही बना रहता है, एवं वह धर्म्मज्ञान से, एवं धर्म्म की मौलिकता से सर्वथा पराङ्मुख ही बना रहता है॥

(६३)—हे कृतप्रज्ञ अर्जुन ! (समझदार ? मानव !) तुझे सुप्रसिद्ध उस ऐतिहासिक घटना से कोई आश्चर्य्य नहीं होना चाहिए, जिसमें अपने हिंसा जैसे क्रूर कर्म्म से सुदारुण बना रहने वाला **'बलाक'** नामक व्याध-(मृगयाप्रिय-शिकारी)-पुरुष अन्ध के वध से महतो महीयान् पुण्य का पुण्यभागी बन जाता है ॥ (६४)—एवं इस से भी अधिक और क्या आश्चर्य्य होगा कि, अहोरात्र धर्म्मकामना-तदनुगत धार्म्मिक कर्म्मों में ही आसक्तिपूर्वक आरूढ परमसत्यभक्त-सत्याग्रही 'कौशिक' नामक तपस्वी ब्राह्मण अपनी सदसद्विवेकशून्या अभिनिविष्टा बुद्धि से सर्वथा विमूढ़ बनता हुआ **'आपगास्विव'** महतोमही-यान् पाप का भागी बन गया। इस प्रकार बलाक जैसा पापात्मा व्याध हिंसा जैसे जघन्य कर्म्म से पुण्य गति का अधिकारी बन जाता है, एवं कौशिक जैसा पुण्यात्मा ब्राह्मण सत्यभाषण जैसे उत्कृष्ट कर्म्म से पापगति का भोक्ता बन जाता है। जो पापपुण्यात्मक-अधर्म्मधर्म्ममूलक अनृतसत्य-हिंसा-अहिंसा के सुसूक्ष्म रहस्य को नही जानते उनके लिए तो वह ऐतिहासिक प्रसङ्ग आश्चर्य्य का ही विषय प्रमाणित होगा॥

(६५)-(भावुक अर्जुन सचमुच कृष्ण के द्वारा श्रुत तथाकथित ऐतिहासिक सङ्केत से सहसा आश्चर्य्य-विमुग्ध बन जाता है। इस आश्चर्य्य के उपशम के लिए अर्जुन जिज्ञासा कर ही तो बैठता है कि--) भगवन् ! अनुग्रह कर मुझे विस्पष्ट विशद रूप से वह ऐतिहासिक घटना बतलाने का अनुग्रह करें, जिसका 'बलाक' नामक व्याध के साथ, नदियों के साथ, एवं तपस्वी कौशिक के साथ सम्बन्ध है॥ अर्जुन की इस सहज जिज्ञासा का उपशम करते हुए वासुदेव कहने लगे)—

(६६)—अर्जुन ! घटना बहुत पुरानी है (पुरा)। "किसी अरण्योपान्त-प्रदेश में 'बलाक' नामक एक व्याध सपरिवार निवास करता था। वह व्याध अपनी मृगया के व्याज से नहीं, अपितु अपने पुत्र-पत्नी-पुत्रवधू आदि की शरीरयात्रा निर्व्वाहमात्र के लिए तत्परिमित ही मृगादि वन्य पशुओं का वध करता हुआ अपने कौटुम्बिक संरक्षण में प्रवृत्त रहता था। इस प्रकार बलाक व्याध का यह हिंसात्मक भी कर्म्म प्रकृतिराज्ञासिद्ध शरीरयात्रानिर्वाहकमात्र बना रहता हुआ उत्थाप्याकांक्षारूपा इच्छात्मिका कामना (कामलिप्सा) से असंस्पृष्ट रह कर अबन्धन 'निष्कामकर्म्म' प्रमाणित हो रहा था॥ (६७)—इस व्याध के मातापिता अत्यन्त वृद्ध थे। इन वृद्ध मातापिता का, एवं अन्यान्य अपने आश्रित जनों (भगिनी-

दौहित्रादि) का भरणपोषणभार भी इस कर्म्मयोगी पर अवलम्बित था। एक प्रकार से यह द्विजाति-मानववत् गृहस्थानुबन्धिनी कौटुम्बिक व्यवस्था का संरक्षक बना हुआ था। यह अपने अवरवर्णोचित नियत-प्राकृतिक-कर्म्मरूप 'स्वधर्म्म' में अनन्य निष्ठा से आरूढ़ था। इसकी सहजवाणी सदा 'सत्य' को ही मूलाधार बनाए रहती थी। यह कभी किसी के साथ ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता था॥ (६८)—एक दिन अपने पारिवारिक भरणपोषणार्थ नित्यनियमानुसार जब यह मृगया के लिए निकला, तो दैवदुर्विपाकवश उस दिन इसे कोई पशु उपलब्ध न हो सका। निराशा में निमग्न इस व्याध का ध्यान सहसा नदीकूल पर पानी पीते हुए एक चक्षुर्विहीन 'श्वापद' (वन्य पशुविशेष) की ओर आकर्षित हुआ॥ (६९) उस अरण्य में मृगया करते बलाक की बहुत आयु व्यतीत हो चुकी थी। किन्तु कभी इसने ऐसा विलक्षण पशु न देखा था। इसे क्योंकि पारिवारिक पोषण का ध्यान था, अतएव विलक्षणता की अधिक मीमांसा न कर व्याध ने इसे मार डाला। इस अन्ध श्वापद के मरते ही उसी समय व्याध पर आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई॥ (७०)—यही नहीं, भौम अन्तरिक्षलोकनिवासी विमानचारी अप्सरा-गन्धर्वगणों नें मनोरम गीत-वाद्य से तदाकाश-मण्डल आपूर्त्त बना दिया। इस मनोरम वातावरण में मृगव्याध को ले जाने के लिए सहसा स्वर्ग से विमान अवतरित हुआ॥ तथ्य यह है कि (७१)-(७२)—इस बलाक व्याध ने भूतासक्तिबन्धनविमोक की कामना से एक बार सुदारुण तप कर यह वर प्राप्त किया था कि, "कालान्तर में अपने स्वधर्म्म पर आरूढ़ रहते हुए ही मृगया करते हुए ही-जिस दिन तेरे हाथ से अन्ध श्वापद मारा जायगा, उसी समय पापपुण्यसमतुलन का क्षण आ जायगा। एवं इस निमित्तमात्र-व्याज-से तू स्वर्गगति प्राप्त कर लेगा"। वैसा ही घटित हुआ। इस प्राणिवधकर्म्म के व्याज से व्याध बलाक-धर्मिष्ठ-सहजधर्म्मारूढ़-बलाक सद्गति को प्राप्त हो गया॥

७३—अर्जुन ! अब आख्यान के उस दूसरे दृष्टिकोण की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसका **'तपस्वीन'** * कौशिक से सम्बन्ध है। बहुशास्त्रश्रुत तपस्वी कौशिक नामक ब्राह्मण नागरिक सम्पर्क से विदूर वैसे किसी सुशान्त नदीसङ्गमात्मक नैगमिक स्वाध्याय के अनुरूप एकान्त स्थान में निवास करता था, जो नदीसङ्गमात्मक एकान्त स्थान ब्राह्मण की नैगमिक सात्विक बुद्धि को सत्त्वविभूति की ओर आकर्षित रखता है+॥ (७४)—अर्जुन ! इस द्विजश्रेष्ठ ने भी तदनुसार ही किसी समय यह उपांशु प्रतिज्ञा करली थी कि,—"भले ही सम विषम कैसी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित हो जाय, मैं सदा सत्य भाषण ही करूँगा"। इसी प्रतिज्ञा के कारण यह कौशिक तपस्वी तत्प्रान्त में (सत्यवादी हरिश्चन्द्र की भाँति) 'सत्यवादी' नाम से प्रसिद्ध हो गया था॥ (७५)—एक समय की घटना है कि, कुछ एक अज्ञात मानव पश्चात्-अनुधावन करने वाले आततायी दस्युओं के भय से त्राण प्राप्त करने के लिए

*** तपस्विनां-इनः-श्रेष्ठः-'तपस्वीनः' (तपस्विश्रेष्ठः, श्रेष्ठतपस्वी वा)।**
+ "उपह्वरे गिरीणां, सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत" (ऋक्संहिता)।

कौशिक के आश्रम के सन्निकटवर्त्ती अरण्य में कौशिक के देखते–देखते छिप गए। बड़ी ही सतर्कता से लक्षीभूत इन मानवों का अन्वेषण करते–करते क्रोधाविष्ट दस्यु इस ओर आ निकले ॥ (७६)—वहाँ सहसा तपस्वी कौशिक पर इन दस्युओं की दृष्टि पड़ी। दस्यु भी यह जानते थे कि, कौशिक सत्यवादी हैं, कभी झूँठ नहीं बोला करते। अतएव दस्यु इन से प्रश्न कर बैठे कि, भगवन्! बहुत से मनुष्य इस ओर पलायित होकर आए हैं। किस मार्ग से वे आए, और कहाँ चले गये, कृपया यह बतलाने का अनुग्रह करेंगे ॥ (७७)—हम सत्य को साक्षी बना कर आप से यह प्रश्न कर रहे हैं। यदि आप जानते हैं, तो बतलाइए! हमें कि, वे कहाँ गए, कहाँ छिपे?। सत्यवादी कौशिक–(किन्तु सत्यधर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्य से अनभिज्ञ भावुक कौशिक) ने सत्यवाणी का उद्घोष कर ही तो डाला ॥ (७८)—धर्म्माभिनिविष्ट सत्यवादी? कौशिक ने यह उदार घोषणा कर ही तो डाली दस्युओं को लक्ष्य बना कर कि,—'वह जो अमुक प्रदेश में वृक्ष–लता–गुल्म संकुलित निबिड़ स्थान है, उसी वन्यप्रदेश में वे मनुष्य छिपे हैं ॥ (७९)—परिणाम इस सत्यवक्ता ब्राह्मण के सत्यभाषण का जो होना था, वही हुआ। उन क्रूर दस्युओं ने सत्यनिष्ठ कौशिक के निःसीम अनुग्रह से उन निर्दोष मानवों का निर्म्ममरूप से कौशिक की सत्वसाक्षी? में हीं वध कर डाला। दस्युगण कब इस पापकर्म्म का परिणाम भोगेंगे?, प्रश्न का उत्तर कालपुरुष पर अवलम्बित बना। और इधर हमारे ये ब्राह्मणश्रेष्ठ अपने इस महा अधर्म्म के महान् सु? परिणामस्वरूप, अपनी इस दुरुक्ता–दुष्टभावापन्ना वैखरीवाक् के महान् अनुग्रह? स्वरूप ॥ (८०)—उस कष्टात्मक नरकगति को प्राप्त हुए, जहाँ धर्म्म के सूक्ष्मतत्त्वों को न जान कर धर्म्मनिभिवेश के द्वारा भावुकतापूर्ण कर्म्म करने वाले महानुभाव ससम्मान पधारते रहते हैं। अथवा तो जहाँ सामान्यज्ञानविमूढ–ज्ञानलव-दुर्विग्ध- धर्म्मविभागरहस्यज्ञानानभिज्ञ मूर्ख जाया करते हैं ॥

(८१)—(बड़ा ही सुसूक्ष्म है यह सत्यधर्म्म, जिसके निश्चयात्मक स्वरूप--निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्र में अनेक प्रकार उपवर्णित हुए हैं, जिनमें से कुछ एक अनिवार्य्य प्रकार वासुदेवकृष्ण के द्वारा यहाँ संगृहीत हो रहे हैं)—-अर्जुन! जो (भावुक जन अपनी अस्थिरप्रज्ञा के कारण धर्म्मनिर्णय में, **"इदमित्थमेव कर्त्तव्यं, नान्यथा"** इस रूप से यथार्थ असंदिग्ध विनिश्चय में स्वयं असमर्थ रहता है, उसके कर्त्तव्य कर्म्म निर्णय का सर्वश्रेष्ठ एकमात्र यही उपाय है कि, जैसा ऐसे अवसरों पर धर्म्मरहस्यवेत्ता अनुभवी वृद्धपुरुष आदेश दें, वैसा ही कर लेना चाहिए। उन्हीं के सम्मुख अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त कर देनी चाहिए। इस पर जैसा भी ये निर्णय करें, अवनतशिरष्क बन कर आस्था (बुद्धियोग)–श्रद्धा (मनोयोग) पूर्वक उसे लक्ष्य बना लेना चाहिए। स्वयं धर्म्मनिर्णय में असमर्थ भावुक मानव यदि वृद्धों से बिना निर्णय कराए ही अपनी प्रत्यक्ष–दृष्टिमात्र के आधार पर निर्णायक बन बैठता है, तो निश्चयेनैव लक्ष्यच्युत बनता हुआ वह पापात्मक प्रत्यवाय का ही भागी बन जाता है। एवं निश्चयेन वह श्वभ्रगति (नरकगति) का अनुगामी बन जाता है। धर्म्म का लक्षणोद्देश (मौलिक आधार) क्या है?, यह बोध प्राप्त किए बिना ही "होगा कुछ भी लक्षणोद्देश, ऐसा ही होगा अमुक धर्म्मादेश का

अमुक तात्पर्य्य, जैसा कि हम समझ रहे हैं" इस आवेशमात्र से अपनी मान्यता के आधार पर धर्म्मनिर्णय कर बैठना वास्तव में दुर्गति का ही कारण बना करता है। इस सम्बन्ध में तो शिष्टजन–वृद्धजन–सम्मत पथ ही गतानुगतिक भावुक मानव के लिए श्रेयःपन्था माना जायगा। श्रुति ने विस्पष्ट शब्दों में लोकमान्यता में सुप्रसिद्ध '**महाजनो येन गतः, स पन्थाः**'* पथ को ही प्रशस्त घोषित किया है—

(८५)—धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण प्रथम शिष्टानुमोदित पक्ष तो '**वृद्धवचन-प्रामाण्यानुगमन**' ही है। किन्तु यदि कोई भावुक इस वृद्धवचन के आम्नायसिद्ध तात्त्विक रहस्य का मर्म्म न समझता हो, तो उसके परितोष के लिए मन्वादि धर्म्माचार्य्यों के '**यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्म्मं वेद**' इत्याद्यनुसार जिज्ञासात्मक तर्क–हेतु–युक्ति–कारणतावाद को भी धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में उपादेय माना जा सकता है। श्रुतिप्रतिपादित रहस्यात्मक धर्म्म का आदेशात्मक जो विधान स्मृति में हुआ है, उसे तर्क के द्वारा भी निर्णीत माना जा सकता है। किन्तु सहसा तात्कालिक आवेश के आधार पर तो कथमपि कदापि केवल अपनी मान्यता के अनुपात से '**इदमित्थमेव नान्यथा**' रूप निर्णय नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए इस सुसूक्ष्म धर्म्म के सुदुष्कर बोध के सम्बन्ध में॥

(८३)—मौलिक आधारभूत जिस लक्षणोद्देश को लक्ष्य बना कर धर्म्म का विधान हुआ है—उसके अनुक्त उन विभागों का भी अनुमान के द्वारा प्रज्ञाशील मानव संग्रह कर लिया करते है। तात्पर्य्य यहाँ थोड़ा विजिज्ञास्य है। '**स वै सत्यमेव वदेत्**' यह है धर्म्मविधि का एक उदाहरण। केवल इस विधि वचन पर ही भावुकता के द्वारा आवेशपूर्वक आरूढ़ होने वाला मानव परिणाम में किस अशुभ फल का पात्र बन जाता है ?, यह पूर्वोक्त सत्याभिनिविष्ट कौशिकोदाहरण से स्पष्ट है। अतएव यहाँ अनुमान द्वारा इस विधि के साथ साथ–'**सर्वस्वापहारप्रहारप्रसंगे तु नैष्ठिकः–अनृतमेव वदेत्**' (**सर्वस्वापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत्**) इस विधि का भी समन्वय करना पड़ेगा। तभी धर्म्म का यथार्थ समन्वय सम्भव बन सकेगा। विधान हुआ है केवल नियमविधियों का ही स्मार्त्त ग्रन्थों में। किन्तु इनकी पूरक बनतीं हैं वे अपवादविधियाँ, जिनका विधान तो नहीं हुआ है। किन्तु अनुमान द्वारा अनुक्त भी उनका विधान मान लिया जाता है। कितनीं एक नियमविधियाँ भी ऐसी हैं, जिनके साथ अनुक्त अन्य नियम-विधियों का भी समन्वय करना अनिवार्य बन जाता है। उदाहरण के लिए–'**अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**' इस नियम विधि की पूरिका '**अग्निष्टोमेन निष्कामो यजेत**' विधि भी अनुमान द्वारा माननी पड़ेगी। नहीं तो निवृत्तिप्रधानकर्म्म का समन्वय असम्भव बन जायगा। एवमेव अपवादविधियों के साथ भी तत्-

---

* **अथ यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा, वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः-युक्ताः–अयुक्ताः–अलूक्षाः–धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्॥**

—तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।४।

पूरिका अनुक्ता अपवादविधियों का समन्वय सामयिक माना जायगा। उदाहरण के लिए—**'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** यह है **'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'** इस नियम विधि की अपवादविधि। इसकी पूरिका अनुक्ता अपवादविधि की अनुमान द्वारा कल्पना की जायगी—**'सर्वहुतात्मकविश्वयज्ञसंरक्षणायाग्नीषोमीयं-पशुमालभेत'** इस प्रकार। इसी आनुमानिक विधिभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, अर्जुन ! तू सत्यधर्म्म का समन्वय कर जो युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत हो पड़ा, इस अपराध के लिए **'न प्रत्यसूयामि'**। तुझे कोई विशेष दोष हम नहीं दे रहे इसलिए कि, तू धर्म्मविधियों के पूरक आनुमानिक विधिभावों से सर्वथा अपरिचित है। विधान हुआ है केवल मुख्य विधियों का ही। तत्पूरिका विधियाँ विहित नहीं हुई हैं, अपितु अनुमान के आधार पर कल्पित करलीं जातीं हैं। यही धर्म्मनिर्णय का आनुमानिक विधिकल्पनारूप तीसरा प्रकार है।

(बतलाया गया है कि, धर्म्म के लक्षणोद्देश से अपरिचित रहने के कारण ही धर्म्म का समन्वय नहीं होता। उस लक्षणोद्देश–मौलिक आधार–का स्वरूप क्या ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं)—**'प्रभावार्थाय भूतानां धर्म्मप्रवचनं कृतम्'**। सम्पूर्ण भूत–प्राणिमात्र-अपने प्रभव-भाव से सुरक्षित रहें, उत्पन्न भूतमात्र स्वरूप से सुरक्षित रहें, प्राणिमात्र (मानवमात्र) अभ्युदयपथानुवर्त्मा बनें रहें, इसीलिए महर्षियों के द्वारा धर्म्म का प्रवचन हुआ है। अभ्युदय–संरक्षण–विकास–अभिवृद्धि–तृप्ति–तुष्टि–जिन आदेशों से हुआ करती है, वे आदेश ही धर्म्म हैं। निर्म्माण, अस्तित्त्व, स्वरूपसंरक्षण ही धर्म्म का मौलिक आधाररूप लक्षणोद्देश है। ध्वंस–नास्तित्त्व–स्वरूपविनाश कदापि धर्म्म का लक्षणोद्देश नहीं माना जा सकता। विधि यहाँ का धर्म्म है, निषेध नहीं। 'करना' यहाँ धर्म्म है, 'न करना' नहीं। 'अस्ति' यहाँ धर्म्म है, 'नास्ति' नहीं। 'प्रभव' यहाँ का धर्म्म है, 'विनाश' नहीं। इस लक्षणोद्देशरूपा निकशा (कसौटी) पर ही हमें धर्म्मविधियों की उपयोगिता के सम्बन्ध में निर्णय करना चाहिए। तदित्थं–महाजनपथसमर्थक **वृद्धवचनप्रामाण्य, तर्कप्रामाण्य, अनुमानप्रामाण्य,** रूप से तीन मुख्य प्रकार धर्म्म के सम्बन्ध में अनुगमनीय बना करते हैं। (जो भावुक इस रहस्य को न जान कर भारतीय धर्म्म के महाजनपथसम्मत वृद्धवचनप्रामाण्य के सम्बन्ध में यह आलोचना करने की धृष्टता करते है कि—"श्रुति–स्मृति–आदिवचन परस्पर विरोधी हैं। इस विरोधभाव से सन्त्राण पाने के लिए ही महाजनपथ का आश्रय लिया है भारतीयों ने" वे इसका मर्म्म समझ ही नहीं सके हैं। विधि, एवं पूरक विधियों के, नियमविधि एवं अपवादविधियों के समन्वय के कारण जो विरोध प्रतीत होता है, वह सर्व-सामान्य के लिए अज्ञात ही बना रहता है। इनके लिए तो इस समन्वय के आचार्य्य रहस्यवेत्ता महाजन वृद्धों का आदेश ही हितकर बन सकता है, यही तात्पर्य्य है इस सूक्ति के मर्म्म का, जिसका निम्नलिखित स्वरूप आस्तिक जगत् में सुप्रसिद्ध है)—

" श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्य्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां "महाजनो येन गतः, स पन्थाः" ॥

(८४)—(**"प्रभवार्थाय भूतानां धर्म्मप्रवचनं कृतम्"** रूप से धर्म्म का लक्षणोद्देश प्रतिपादक सिद्धान्त भावुक मानव की श्लथा भावुकप्रज्ञा के लिए अंशतः दुर्विज्ञेय बन रहा है। इसीलिए भगवान् एक अन्य सुविज्ञेय दृष्टिकोण से इस धर्म्ममूलाधार का, दूसरे शब्दों में 'धर्म्मोपनिषत्' का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—)—**"मानव का जो कर्म्म 'अहिंसा' से समन्वित होगा, निश्चयेन उसे ही धर्म्म, किंवा लक्षणोद्देश कहा जायगा। हिंसावृत्तिपरायण (परपीड़नपरायण) क्रूर मानवों को अहिंसावृत्तिपरायण बनाने के लिए ही धर्म्माचार्य्यों नें धर्म्मप्रवचन किया है"**। तात्पर्य्य स्पष्ट है। हिंसाकर्म्म से प्राणियों का विनाश होता है, इससे प्राकृतिक स्वरूप विकृत बन जाता है, इस से प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है, एवं यह प्राकृतिक क्षोभ ही मानव समाज की सहज-प्राकृतिक शान्ति का विघातक बन जाता है। प्राकृतिक स्वस्थता सुरक्षित रहे, यही धर्म्मप्रवचन का मूलोद्देश्य है, यही है धर्म्म का प्रधान लक्षणोद्देश॥

(८५)—(सम्भव है भावुक मानव धर्म्म के इस 'अहिंसा' भाव का भी मर्म्म न समझे, एवं परिणामस्वरूप 'अहिंसा' शब्द का यथेच्छ काल्पनिक अर्थ करने लगे, जैसा कि, सनातनधर्म्मेतर मतवादों ने किया है, जैसा कि सत्याग्रहाभिनिविष्ट गतानुगतिक यथाजात मानव किया करते हैं। इसलिए आवश्यक हो गया कि, धर्म्म का कोई वैसा लक्षणोद्देश माना जाय, जो असंदिग्धरूप से धर्म्म की मौलिकता अभिव्यक्त कर सके। इसी आवश्यकता को अनुभूत करते हुए भगवान् कहते हैं—)—**अर्जुन! धर्म्म का लक्षणोद्देश क्या है? प्रश्न का समाधान स्वयं 'धर्म्म'शब्द ही कर रहा है। धारणार्थक 'धृञ्' धातु से निष्पन्न 'धर्म्म' का धारणात्मक जो सहज अर्थ है, वही धर्म्म का मौलिक आधार है। 'धर्म्मिणा धृतः सन् धर्म्मिणं स्वस्वरूपेऽवस्थापयति यः, स धर्म्मः'। धर्म्मी पदार्थ के द्वारा धारण किया जाने वाला जो तत्त्व धर्म्मी पदार्थ को उसके स्वरूप में सुरक्षित रखता है, वह तत्त्व ही उस धर्म्मी पदार्थ का धर्म्म है, जो 'स्वरूपधर्म्म'-'सहजधर्म्म'-'स्वधर्म्म' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। यही धर्म्म का स्वरूपलक्षण है। धारणावृत्ति से ही धारक तत्त्व 'धर्म्म' कहलाया है। सूर्य्य का प्रकाश, जल का निम्नगामित्व, वायु का तिर्य्यग्गामित्व, अग्नि का ताप, चान्द्रसोम का शैत्य, आदि आदि गुण ही सूर्य्यादि के स्वरूपसंरक्षक हैं। यही प्राकृतिक-धर्म्मपरिभाषा प्राणिजगत् में समाविष्ट है। इसी तारतम्य से इस नित्य धर्म्म के सामान्य धर्म्म, विशेष धर्म्म, रूप से दो विभाग हो जाते हैं। इसी निबन्ध के क्रमप्राप्त तीसरे 'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक परिच्छेद में धर्म्म के मौलिकस्वरूप की मीमांसा होने वाली है। अतः इस धर्म्मलक्षणमीमांसा को यहीं उपरत किया जा रहा है। इस धर्म्मलक्षण के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुस्वरूपसंरक्षण करने वाले सम्पूर्ण कर्म्म-फिर वे प्रत्यक्ष में हिंसात्मक कर्म्म हों अथवा अहिंसात्मक, पापात्मक हों अथवा पुण्यात्मक, सत्यात्मक हों अथवा अनृतात्मक,-'धर्म्म' ही कहे जायँगे।**

(८६)—(धर्म्म के उक्त मूलाधार से भावुक का सन्तोष हुआ, किन्तु इसके साथ ही भावुक की भावुकता उत्तेजित हो कर धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में एक वैसे आपातरमणीय लक्ष्य की ओर आकर्षित हो

पड़ी, जिससे महान् अनर्थ घटित हो जाता है। हो रहा है उसी प्रकार, जैसे कि अहिंसा, सत्य, संयम (इन्द्रियनिग्रह) आदि धर्म्मों में वर्त्तमान युग के धर्म्मव्याख्याता–**'यत्स्याद्धारणसंयुक्तम्'** इस भगवद्वचन के आधार पर, एवं **'स्वस्य च प्रियमात्मनः'** इस स्मार्त्तवचन के आधार पर सर्वथा वेदविरुद्ध कर्म्मों को भी 'धर्म्म' मानने–मनवाने की अनर्थपरम्परा का सर्जन कर रहे हैं। **'परोपकार ही धर्म्म है'–'अहिंसा ही परमधर्म्म है'–'सच बोलना ही अन्यतम धर्म्म है'—'आत्मा साक्षी प्रदान करे, वही धर्म्म है'--'किसी को दुःख न हो, वही धर्म्म है'--'गीतापाठ–मात्र कर लेना ही धर्म्म है'--** इस प्रकार की कल्पित विधियों का सर्जन करने वाले, इनके आधार पर—**'न्यायेन सन्तोषं जनयेत् प्राज्ञः–तदेवेश्वरपूजनम्'** (न्यायपूर्वक–ईमानदारी से–काम करते हुए सन्तुष्ट बने रहना ही धर्म्म है, यही ईश्वरोपासना है) इस प्रकार की कल्पित सूक्तियों का सर्जन करने वाले यथेच्छाचारविहारपरायणमनः-शरीरानुगत कामभोगानुगत मानव **' यदि अमुक को हम सुख न पहुँचाते, तो हमें पाप लगता'--'हमारी आत्मा–वास्तव में मन–ने साक्षी दे दी', इसलिए इसमें कोई पाप नहीं है,** इत्यादि कल्पित-मान्यताओं के आधार पर परदाराभिमर्शन जैसे*धर्म्मविरुद्ध कर्म्मों का भी समर्थन करने लग जाते हैं। ऐसे धर्म्मवादियों की, वस्तुतः धर्म्मापहारियों की आत्मसाक्षी के व्याज से केवल मनोभावानुगता कामभोगतुष्टि के नियमन के लिए अन्ततोगत्त्वा भगवान् को उस शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से मानव का उद्बोधन कराना पड़ा, जिसका अन्य भगवद्ग्रन्थ में **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'** रूप से उद्घोष हुआ है। इसमें अधिक से अधिक इसी मान्यता का समावेश सम्भव है कि, शास्त्रनिष्ठ बयोवृद्ध अनुभवी विद्वान् शास्त्र का जैसा तात्पर्य्य बतलावें, तदनुसार भी धर्म्मानुष्ठान शास्त्रसम्मत माना जा सकता है। इसी **'शब्दप्रमाणका वयम्। यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्'** के अनुसार इसी शास्त्रनिष्ठा को धर्म्मनिर्णय में अन्यतम साधन–प्रमाण घोषित करते हुए भगवान् कहते हैं—)—**"जो मानव (अपनी मानसिक कल्पनामात्र से कुकर्म्मों को–असत्–कार्यात्मक अधर्म्मों को–भी धारणात्मक धरम घोषित करते हुए, वस्तुतस्तु) अन्याय–अधर्म्म से ही धर्म्माचरण की इच्छा रखते हैं, ऐसे धर्मध्वजी–धर्म्मवंचक–कल्पित स्वर्गमोक्षसुखेच्छु दम्भियों से तो सम्भाषण भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनका यह कल्पित धर्म्म अकूजन (वेदद्वारा अनुक्त) भावापन्न बनता हुआ तत्त्वतः अधर्म्म ही है। वेदशास्त्रनिष्ठा से विरोध हो नहीं और फिर सामयिक धर्म्म से समाज स्वस्ति-लाभ प्राप्त कर सके, वैसा मान्य धर्म्म अवश्य ही संग्राह्य बन सकता है। उसे ही अनुक्तविधिरूप से अन्य शास्त्रविधि का पूरक माना जा सकता है, यही निष्कर्ष है"॥**

(८७)—(बड़ा ही रहस्यपूर्ण है धर्म्म का समन्वय–पथ। तभी तो भीष्म जैसे अतिमानवों को भी **'धर्म्मस्य सूक्ष्मा गतिः'** कहना पड़ा है। उक्त धर्म्मसमन्वय के सम्बन्ध में पुनः एक विप्रतिपत्ति उपस्थित

---

* न हीदृशमनायुष्यं परदारोपसेवनम् (मनुः)

हो जाती है, जिसका भावुक अर्जुन के परितोषार्थ समाधान करना भगवान् के लिए अनिवार्य्य बन जाता है। विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह है कि, "जहाँ जब ऐसा अवसर उपस्थित हो जाय, जिसमें—**'यह करें, अथवा न करें'** इस प्रकार सन्देह उपस्थित हो जाय, ऐसे संशयात्मक स्थलों में क्या किया जाय, जबकि न तो इस सम्बन्ध में विधिवचनवत् कोई शास्त्रीय वचन ही उपलब्ध होता, एवं न लौकिक मान्यात्मक शिष्टजनसम्मत लौकिक वचन ही ऐसे सन्देह में अपना कोई मन्तव्य प्रकट करता। क्या किया जाय, कैसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय किया जाय, ऐसे विषम-सन्देहास्पद स्थलों में, ?" इस महती विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए ही भगवान् कहते हैं—)—

यह ठीक है कि, सर्वसाधारण के लिए ऐसे सन्देहास्पद स्थलों का निश्चित निर्णय करना कठिन है। किन्तु जो तत्त्ववेत्ता मनीषी विद्वान हैं, वे तो किसी भी स्थिति परिस्थिति में तथ्यात्मक निर्णय पर पहुँच ही जाते हैं। वे ही, उनका व्यक्तिगत वचन ही ऐसे अवसरों का निर्णायक मान लिया जाता है। निर्णायक के इस तथ्यात्मक सत्यात्मक निर्णय के प्रकट कर देने से यदि किसी निर्दोषी की हिंसा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, तो ऐसे अवसर पर तत्त्ववेत्ता को मौनव्रत धारण कर लेना चाहिए। यदि इसके मौनव्रत के प्रभाव से भी हिंसा का प्रसङ्ग अवरुद्ध नहीं होता, तो उस स्थिति में उस तथ्य को परोक्ष बनाते हुए मिथ्याभाषण कर देना चाहिए। यहाँ यह अनृतभाषण भी सत्यरूप में परिणत हो जाता है। सन्देहास्पद विषमस्थलों में अहिंसामूलक धर्म्म ही प्रधान मान लेना चाहिए, यही निष्कर्ष है। एवं इस अहिंसा के संरक्षण के लिए पहिले मौनव्रत, इससे सफलता प्राप्त न हो, तो अनृतवचन-प्रयोग का अनुगमन कर लेना चाहिए॥

(८८)—अर्जुन! (उक्त विशेषधर्म्मतत्त्वोपवर्णन के साथ-साथ अब हम प्रासङ्गिक इस सामान्य-धर्म्म की ओर भी तुम्हारा ध्यान आकर्षित करा देना चाहते हैं कि)—किसी भी कार्य्य का, किंवा उद्देश्य का-लक्ष्य का-(कर्णवधादिरूपात्मक का) अपने अन्तर्जगत् में दृढ़ संकल्प कर के जो मानव अन्यान्य प्रतारणा-पथों के द्वारा संकल्प की उपेक्षा करना चाहता है, वह दाम्भिक है। व्रतपालन न करने से वह प्रत्यवाय का भागी बनता है। (अर्जुन! तुम्हारा ही तो यह व्रत था कि, तुम कर्ण को युद्ध में अवश्य मारोगे। आज इन प्रसङ्गों में पड़कर तुम अपना व्रत भंग कर रहे हो, जो क्षत्रिय का सामान्यधर्म्म माना गया है। सामान्यव्रतधर्म्म की उपेक्षा, विशेषव्रतधर्म्म के लिए आवेश, यह कैसा विमोहन है तुम्हारा?॥

(८९)—किसी निर्दोष के प्राणसङ्कटावसर पर, विवाहावसर पर, कुलनाशप्रसङ्ग पर, पारस्परिक नर्म्म (उपहास) अवसर पर यदि अनृतभाषण मध्यस्थ बन जाता है, तो इससे पातक की आशङ्का करना विशुद्ध भावुकता ही मानी जायगी। (९०)-(९१)-(९२)-धर्म्मतत्त्वद्रष्टा विद्वान् ऐसे अनृतभाषण-प्रसङ्ग में कोई अधर्म्म नहीं मानते। तत्त्व यही है इस सम्पूर्ण धर्म्मव्याख्या का कि—**"तस्माद्धर्म्मार्थ-मनृतमुक्त्वा नानृतभाग् भवेत्" (धर्म्मस्वरूपसंरक्षण के लिए आश्रित अनृत-भाषण अनृत नहीं बना करता"** ॥

(६३)—अर्जुन ! हमने विभिन्न दृष्टिकोणमाध्यम से यथाधर्म्म, एवं अपनी समझ के अनुसार—जैसा कि हमने समझा है—एकमात्र तेरी हितैषिता के आकर्षण से धर्म्मानुबन्धी लक्षणोद्देश–धर्म्ममूला–धार–व्यक्त कर दिया है । इसे सुनकर–समझकर, पार्थ ! कहो, अब भी तुम्हारी दृष्टि में युधिष्ठिर वध्य ही है क्या ? ॥

उपरता चेयं धर्म्मस्वरूपव्याख्या वासुदेवकृष्णोक्ता



६४—भगवान् के द्वारा तथोपवर्णिता धर्म्मव्याख्या के श्रवणानन्तर भावुक, किन्तु श्रद्धाशील अर्जुन का सामयिक उद्बोधन स्वाभाविक ही था । इसी तात्कालिक धर्म्मव्याख्याप्रभाव से तात्कालिकरूप से ही प्रभावित होता हुआ अर्जुन कहने लगा कि, भगवन् ! आप जैसे महाप्राज्ञ–महामति–अतिमानव पुरुष ने जो कुछ अब तक कहा है, उसके अनुगमन में निश्चयेन हमारा हित ही है ॥ (६५)—आपके वचन इस अर्जुन के लिए सर्वथा मान्य हैं । आप हम पाण्डवों के मातृपितृस्थानीय हैं । अतएव तद्रूपेणैव आपकी आज्ञा हमारे लिए शिरोधार्य्य है ॥ (६६)—हे कृष्ण ! हमारी गति (पहुँच) तो आप पर्य्यन्त ही है । आपही हमारी आश्रयभूमि हैं । सम्पूर्ण त्रैलोक्य में ऐसा कौनसा रहस्य है, जिसे यदुनन्दन न जानते हों ? ॥ (६७)—त्रैलोक्यज्ञाननिष्ठात्मिका इस अतिमानवता के कारण आप धर्म्म के सम्पूर्ण उत्कृष्टतम यथार्थ रहस्य से अभिज्ञ हैं । **अतएव आपके द्वारा प्रदर्शित धर्म्मरहस्य के बोधाधार पर यह अर्जुन अब धर्म्मराज युधिष्ठिर को अवध्य ही मान रहा है ॥**

(६८)—*किन्तु······भगवन् ! मेरा जो यह उपांशुसंकल्प (प्रतिज्ञा) है कि,–'जो मुझे गाण्डीव-परित्याग के लिए किसी भी निमित्त से कह देगा, तत्क्षण उसका शिरश्छेद कर डालूँगा' उसके सम्बन्ध में भी तो निश्चित निर्णय का अनुग्रह कीजिए । (आश्चर्य है अर्जुन की इस भावुकता पर, जो अभी अभी तो वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण–**"न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित्"॥** (६६)" ये उद्गार प्रकट करता हुआ उन्हें सर्वज्ञ अन्तर्य्यामी घोषित कर रहा है, और तत्क्षण ही नितान्त

---

* धर्म्मव्याख्या के द्वारा ही यद्यपि भगवान् ने अर्जुन की सभी भावुकताओं का समाधान कर दिया था । जब विस्पष्ट शब्दों में भगवान् ने अर्जुन के सम्मुख यह सिद्धान्त समुपस्थित कर दिया कि, उस सत्यधर्म्म का, सत्यप्रतिज्ञा का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि उस प्रतिज्ञा के पालन से किसी निर्दोष का वध सम्भव बन रहा हो, तो । अब क्या जिज्ञासा शेष रह गई थी अर्जुन की । किन्तु······ कहना पड़ेगा कि, भावुक सदा भावुक ही बना रहता है । समझ लेने पर भी पुनः पुनः वह अपने भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण की ओर आकर्षित होता रहता है । क्षण क्षण में उद्बोधनात्मक निष्ठाबल विस्मृत करता रहता है । यदि ऐसा न होता, तो गीतानुगता बुद्धिनिष्ठा का तत्त्व सुनने के पश्चात् अर्जुन में ऐसी धर्म्मभीरुता पुनः उत्पन्न ही क्यों होती ।

भावुक अर्जुन अब यह कर रहा है कि)—**"इदं वा परमत्रैव शृणु ! इत्त्थं विवक्षितम्"** । अर्जुन कहता है, वासुदेव ! (मुझे यह विश्वास तो है ही कि, आप मेरे उपांशु संकल्प के सम्बन्ध में निश्चित मन्तव्य अभिव्यक्त करेंगे । किन्तु उस निर्णय से पूर्व) मैं आपको वह सम्पूर्ण स्थिति सुना देना चाहता हूँ, जो अभी तक मेरे हृदय में ही प्रतिष्ठित है । मैं ही जानता हूँ उस स्थिति को (मानो इसे न जान कर न सुनकर ? वासुदेव कहीं अन्यथा निर्णय न कर डालें—अब्रह्मण्यं अब्रह्मण्यं ही समर्पित कर रहे हैं हम उस भावुक अर्जुन को अपनी ओर से सधन्यवाद, जो वासुदेव को अन्तर्य्यामी भी मान रहा है, एवं उन्हें अपने मनोभावों से अज्ञ भी अनुभूत कर रहा है । इससे अधिक अर्जुन की अब्रह्मण्यता और क्या होगी ? महा आश्चर्य !!!) ॥

(९९)–(१००)—हे दाशार्ह वासुदेव ! अब आपको यह तो विदित हो ही गया है कि, मेरा किसी समय का किया हुआ यह व्रत (प्रतिज्ञा) है कि, "मानवों में जो भी व्यक्ति मुझे यह कहने की धृष्टता कर बैठेगा कि—'तू अपना गाण्डीव किसी दूसरे को समर्पित कर दे' तो तत्काल प्रबल आक्रमण कर, मैं उसे मार ही डालूँगा" । हे केशव ! आपको तो यह विदित ही है कि, युधिष्ठिर ने आक्रोशपूर्वक मुझे **'प्रयच्छान्यस्मै गाण्डिवमेतदद्य-त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वानरेन्द्रः'** रूप से यह कहने का दुःसाहस कर डाला है। इस प्रकार युधिष्ठिर ने जो मुझे भीम जैसे **'तूवरक'** (बहुभोजनपरायण—केवल भोजनभट्ट) को तो मुझ से अधिक शस्त्रास्त्रप्रहार में कुशल एवं पराक्रमी घोषित कर दिया, और मुझे उसे गाण्डीव अर्पित करने का आदेश दे डाला । आपके सम्मुख ही तो हे वार्ष्णिवीर केशव ! उक्त प्रकार से भीम के समतुलन में मुझे अयोग्य हीनवीर्य्य घोषित करते हुए स्पष्टरूप से—**'धनुर्देहि'** (दे दे तेरा धनुष भीम को, उतार फैंक अपना यह गाण्डीवधनुष) यह परुष आदेश दे डाला है ॥

(१०१)—भगवन् ! आप यह भी भली प्रकार जानते हैं कि, अपनी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के लिए यदि परुषवक्ता युधिष्ठिर को मैं मार डालूँगा, तो उस दशा में मैं स्वयं भी क्षणमात्र भी इस **जीवलोक*** (चान्द्रतत्त्वगर्भित पार्थिवलोक) में न ठहर सकूँगा (अर्थात् युधिष्ठिर को मार कर मुझे भी मर जाना पड़ेगा) । सम्भव है आप उस दशा में मुझ से यह आग्रह करें कि, अर्जुन ! इस युधिष्ठिरवधजनित पाप का तू प्रायश्चित्त कर ले । यह भी सम्भव है कि, मैं आपके आदेशानुसार प्रायश्चित्त कर भी लूँ। यह भी मान लेता हूँ कि, सम्भव है इस प्रायश्चित से मैं पाप से मुक्त भी हो जाऊँ। किन्तु तथापि मैं जीवित

---

* मानव तत्त्वतः परिपूर्ण है, साक्षात् ब्रह्म है, सौरदेव की प्रतिकृति है। चतुर्दशविभूतभूतसर्गात्मक प्राणिसर्ग ही 'जीव' कहलाया है, । जिसका आवास—निवासस्थान चान्द्रगर्भित पार्थिव **'इलान्द'** नामक सम्वत्सर माना गया है । यही जीवलोक है । जिसमें प्रारब्धकर्म्म भोगार्थ परिपूर्ण भी सौर देवमानव को भौतिक शरीर धारण कर आना पड़ता है । इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञान ३ खण्ड में द्रष्टव्य है ।

न रह सकूँगा कदापि किसी भी दशा में भी। क्योंकि युधिष्ठिर के वध के अनन्तर मेरा चित्त स्खलित–अस्थिर बन जायगा। मैं इस वधकर्म्म से नष्टवीर्य्य बन जाऊँगा। एवं कोई भी मनस्वी ऐसी अस्थिरता भ्रष्टवीर्य्यता में मर जाना ही उत्तम पक्ष मानेगा॥

(१०२)—(इन सब विषमताओं को–जो मेरे हृदय में विस्फोटन कर रहीं हैं–आज आपको इसलिए यह अर्जुन सुना रहा है कि) हे धर्म्मधारकों में श्रेष्ठतम वासुदेव ! **जिस उपाय से मेरी वह उपांशु प्रतिज्ञा भी लोकसामान्य में 'सत्य' प्रमाणित हो जाय, साथ ही युधिष्ठिर और मैं दोनों ही जीवित भी रह जायँ, हे कृष्ण ! आज** आप ऐसी सद्बुद्धि ही प्रदान करने का अनुग्रह करेंगे *॥

(१०३)—(उक्त भावुकतापूर्ण अर्जुनोद्गार–श्रवण से भगवान् ने यह अनुभव कर लिया कि, अभी अर्जुन उसी भावावेश पर आरूढ है। धर्म्मव्याख्या का मर्म्म अभी तक वह हृदयङ्गम नहीं कर सका है। अवश्य ही इसे अब सर्वथा लोकदृष्टि से—प्रत्यक्ष दृष्टि से–सन्तुष्ट करना पड़ेगा। तभी यह लक्ष्यारूढ बन सकेगा। इसी लोकदृष्टिमूलक समाधान का उपक्रम करते हुए.) वासुदेव कहने लगे, अर्जुन ! यह कल्पना कर ही कैसे ली तुमने कि, युधिष्ठिर वास्तव में तुम्हें गाण्डीव उतार फैंकने का आदेश दे रहे हैं। केवल वैखरीशब्द ही तो सब कुछ नहीं हैं। भावों के तारतम्य से ही तो शब्दार्थ के वास्तविक तथ्य का समन्वय हुआ करता है। युधिष्ठिर का भाव कुछ और था, शब्द किसी अन्य अर्थ से सम्बन्धित थे। कैसे ?, तो सुनो !

युद्धप्रसङ्ग में महावीर कर्ण के द्वारा प्रबलवेग से प्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरवर्षण से आमूलचूड़ आबद्ध-विद्ध–क्षत–विक्षत–भ्रान्त–विभ्रान्त–तप्त–संतप्त बन जाने वाले युधिष्ठिर के अन्तर्जगत् में सहसा यह भावना अभिव्यक्त हो पड़ी कि, कर्ण जैसे अप्रतिम महापराक्रमी योद्धा को यों सहसा पाण्डवसेना में से कोई भी परास्त नहीं कर सकता। कहीं ऐसी दुर्घटना घटित न हो जाय कि, कर्ण अपने बाणवर्षण से ससैन्य पाण्डवों का सर्वसंहार कर डाले, और इस प्रकार अब तक का सम्पूर्ण पुरुषार्थ, सब कुछ बना–बनाया, इस

*—धर्म्मरहस्यात्मक समाधान प्राप्त करने के अनन्तर भी बार बार अपनी भावुकतापूर्ण प्रतिज्ञा का संस्मरण, मारने–मरने की शून्य कल्पना, अनागत भय से संक्षुब्ध बन जाना, साथ ही एकमात्र इस इच्छा से कि–'संसार मुझे झूठा न कहे–प्रतिज्ञापालन के उपाय का अन्वेषण करना, मरने से डरना, मारने से भी विकम्पित होना, ये सब कुछ विडम्बनाएँ भावुक मानवों की सहजभावुकता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भावुक को अपने हिताहित की अपेक्षा लोकदर्शन–लोकख्याति की विशेष चिन्ता रहती हैं। हमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति–प्राप्त हो जाय, वे हमें बुरा न कहें, इस भावकतापूर्णा परदृष्टि से प्रभावित भावुक इस लोकैषणा से किस प्रकार अपने राष्ट्र के धन–जन का आततायिवर्ग के द्वारा सर्वस्वसंहार करा लेने में ही अपने आपको योग्य शासक मानने–मनवाने की भ्रान्ति करते रहते हैं ?, यह वर्त्तमान युग में नैष्ठिकों की दृष्टि से परोक्ष नहीं है।

अन्तिम युद्ध–प्रसङ्ग में विजय के स्थान में पराजय का कारण प्रमाणित हो जाय। अवश्य ही एकमात्र अर्जुन ही कर्ण के बल का निरोध करने की क्षमता रखता है। किन्तु यह अनुभव हो रहा है मुझे कि, जब से कर्ण सेनापति बना है, तब से विदित नहीं, किस कारण से अर्जुन उदासीनवदासीन–सा–उपेक्षा–परायण–सा बना हुआ है। ससैन्य पाण्डव कर्ण के शरवर्षण से एक ओर जहाँ सन्त्रस्त बनते जा रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर अर्जुन कापुरुषवत् तटस्थ–सा बनता जा रहा है। यदि अधिक समय अर्जुन इसी उन्मना-वृत्ति का अनुगामी बना रहा, तो हमारा सर्वनाश निश्चित बन जायगा। अतएव अब क्षणमात्र भी विलम्ब न कर सत् असत्–जैसे भी बन पड़े, किसी न किसी उपाय से अर्जुन की इस उदासीनता पर वैसा निर्म्मम प्रहार कर ही डालना चाहिए, जिससे यह उद्दीप्त हो पड़े, इसका सुप्त क्षात्र तेज प्रज्वलित हो पड़े, और इसके द्वारा यह कर्णनिरोध में सफलता प्राप्त कर ले। ×

(एकमात्र उपर्युक्त सद्भावना से भावितान्तःकरण बने हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन के प्रति तथाविध परुषवाक्प्रहार का प्रयोग कर डाला, जिसकी सद्भावव्यञ्जना से अपरिचित भावुक अर्जुन प्रत्यक्ष-शब्दार्थ मात्र को ही आधार मान कर यों युधिष्ठिर के वधकर्म्म के लिए उद्यत हो पड़ा। क्या यह उचित था अर्जुन का भावावेश ?, इसी दृष्टिविन्दुमाध्यम से भगवान् ने अर्जुन का उद्बोधन कराना आरम्भ किया कि—)—अर्जुन ! तू यह भली प्रकार जानता है कि पाण्डवराज युधिष्ठिर युद्ध से थक गये थे, क्षत–विक्षत होगए थे, दुःखसंविग्नमानस बन गए थे, युद्ध में सूतपुत्र महापराक्रमी कर्ण के द्वारा होने वाली अजस्र सुतीक्ष्ण शरवर्षा से कर्ण से युद्ध करते हुए धर्म्मराज आत्यन्तिकरूप से ताड़ित मर्म्माहत बन गए थे॥ (१०४)—एकमात्र इन सांघातिक–मर्म्मान्तक संवेदनाओं से रोषपूर्ण वातावरण से समन्वित बनते हुए, दुःखकातर बने हुए, अतएव पूर्ण परस्थिति का विचार करने में असमर्थ बनते हुए केवल इस भावना से कि—"कहीं बिना क्रोधपूर्ण आवेश के अर्जुन युद्ध में कर्ण बध से तटस्थ न बन जाय", युधिष्ठिर इस प्रकार अयुक्तरूपा भी परुषवाक् का तुझ पर प्रहार कर बैठे। (तात्पर्य्य, यदि अर्जुन कोपाविष्ट न बना, तो यह युद्ध में कर्ण का वध न कर सकेगा। एकमात्र इस सद्भावना से सम्बन्धित युधिष्ठिर का आक्रोश न तो वास्तव में गाण्डीव उतार फिंकवा देना ही प्रमाणित कर रहा है, एवं न ऐसी अवस्था में केवल प्रत्यक्ष शब्दमात्र से प्रभावित होकर तेरा युधिष्ठिर के बधकर्म्म के लिए समुद्यत बन जाना ही कुछ अर्थ रखता है, यही प्रस्तुत भगवद्वाणी का निष्कर्षार्थ है)॥

(१०५)—हे पाण्डवार्जुन ! तुम स्वयं भी तो यह भली प्रकार जानते ही हो कि, सूतपुत्र कर्ण अपने दुष्कृत–पापाचरणों से (दुर्य्योधनसहानुगत पाण्डवोत्पीड़नात्मक पापकर्म्मों से) पापात्मा बनता हुआ आत्यन्तिकरूपसे क्रूरकर्म्मा प्रमाणित है। इस असह्य बाणप्रहार को तुम से अतिरिक्त और कोई सहन नहीं

× अप्रतिम बालवीर अभिमन्यु की क्षात्रगति--काल से ही महावीर अर्जुन उदासीन से बन गए थे। युद्ध करते थे, किन्तु उन्मना बन कर। प्रहार करते थे, किन्तु शिथिलतापूर्वक। सचम्म कर्ण के सेनापत्यकाल में अर्जुन की यह उदासीनता पाण्डवों के सर्वनाश का ही कारण ही प्रमाणित होती जा रही थी।

कर सकता। इस प्रकार जिस दृष्टिकोण से तुम कर्ण के प्रति आविष्ट बने हुए थे, उसी दृष्टिकोण से कर्ण के प्रति आविष्ट बन जाने वाले युधिष्ठिर केवल तुम्हारे शौर्य्योत्तेजन के लिए यदि रोषपूर्वक तुम्हारे प्रति परुषवाणी का प्रयोग कर रहे हैं, तो एतावता ही तुमने यह किस आधार पर मान लिया कि, युधिष्ठिर वास्तव में तुम पर अप्रसन्न हैं, एवं वास्तव में वे तुम्हें गाण्डीव-परित्याग की ओर आकर्षित कर रहे हैं ?॥

(१०६)—अर्जुन ! क्या तुम यह जानते हो कि, 'कर्णवध' के भावी परिणाम के सम्बन्ध में धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर के बुद्धितन्त्र में क्या धारणा है ?। नहीं, तो सुनो ! हम बतलाते हैं। जिस प्रकार तुमने 'उपांशुप्रतिज्ञा' कर रक्खी है, वैसे ही युधिष्ठिर ने (द्यूतकर्म्मप्रिय, द्यूतदृष्ट्या सहजभावुक युधिष्ठिर ने) भी एकान्त में अपनी बुद्धि में कर्ण के सम्बन्ध में इस 'द्यूत' (द्यूतात्मिका संधा) को माध्यम बना लिया है कि, "अपने छल-कपट-पूर्ण असद्व्यवहारों से, निर्म्मम शरप्रहारों से सदा से ही पाण्डवों के लिए, एवं पाण्डव-सेना के लिए असह्य बना रहता हुआ कर्ण यदि युद्ध में मारा जायगा, तो मैं यह बाजी लगाता हूँ कि, सम्पूर्ण कौरव ससैन्य विजित-एवं पराजित मान लिए जायँगे"। तात्पर्य्य-'कर्णवध ही कौरवों का पराजय है, कर्णविजय ही पाण्डवों का पराजय है। यह द्यूतात्मिका प्रतिज्ञा युधिष्ठिर ने कर रक्खी है। उदासीनता से युधिष्ठिर ने यह अनुभव किया कि, कहीं मेरी वह प्रतिज्ञा-द्यूतसंधा-(होड़-बाजी-शर्त्त) निष्फल न बन जाय। क्योंकि, युधिष्ठिर यह जानते थे कि, युद्धमें यदि कोई कर्ण का बध कर सकता है, तो वह एकमात्र अर्जुन ही है। अपनी प्रतिज्ञा के निष्फल होने का अनुमान कर के ही युधिष्ठिर ने तुम्हारे प्रति इस प्रकार परुषवाणी से प्रहार किया है॥

(१०७)—क्यों अर्जुन ! अब तो भली प्रकार समझ में आगई न सम्पूर्ण वास्तविक स्थिति तुम्हारी समझ में ?। क्या अब भी तुम युधिष्ठिर को वध्य मानते रहोगे ?। **'ततो वधं नार्हति धर्म्मपुत्रः'**। इस लिए हमने कहा कि, धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर किसी भी दशा में (न तो तुम्हारी प्रतिज्ञा के ही विरोधी हैं, अतएव) न वधार्ह ही हैं। फिर भी (भावुकतावश) तुम यही कल्पना कर रहे हो कि, वध तो युधिष्ठिर का उचित नहीं हैं, किन्तु संकल्पित प्रतिज्ञा का तो भंग हुआ ही, भले ही भाव युधिष्ठिर का वैसा न हो (क्योंकि प्रतिज्ञा करते समय मैंने प्रतिज्ञासूत्र में इस व्यञ्जना का समावेश नहीं किया था कि — केवल शब्ददोष से प्रतिज्ञा भंग न होगी, अपितु शब्द के साथ-साथ यदि भावदोष रहेगा, तभी प्रतिज्ञाभंग माना जायगा)। ठीक ! समझे ! ! सम्यग्रूपेण समझे !! (भावुक ! अर्जुन ! हम। तो सुनो ! यदि तुम्हें लोकदृष्ट्या-परनिन्दाभयदृष्ट्या प्रतिज्ञा का ऐसा ही विमोहन है, तो निम्नलिखित रूप से तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर लेना चाहिए। (कुछ भी ऊहापोह-संकल्पविकल्प शेष रह न जाय अर्जुन तुम्हारे भावुक मनोराज्य में, नहीं तो निकट-भविष्य में हीं समुपस्थित भीषणतम कर्णयुद्धप्रसङ्ग में यह संकल्प-विकलता तुम्हें हतोत्साह करती रहेगी, परिणामस्वरूप कर्णपराभव अशक्य बन जायगा)। अर्जुन ! तू यही तो इच्छा रखता है कि, "युधिष्ठिर जीवित भी रहे, और मेरी प्रतिज्ञा भी पूर्ण होजाय'। ओमित्येतत्।

" जीवित रहता हुआ ही मानव कैसे मरा हुआ बन जाता है" इसका लौकिक प्रकार तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है ॥

(१०८)—**विद्या-ऐश्वर्य्य-वित्त-वय-बलाद्यनुगत लोकमान्यतात्मक लोकसम्मान से संयुक्त सम्मान्य शिष्ट मानवश्रेष्ठ जबतक लोकद्वारा, स्वाश्रितों के द्वारा, पारिवारिक पुत्र-अनुजादि कनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा सम्मानित होता रहता है, तभी तक वह सम्मान्य जीवलोकात्मक पार्थिव भूतलोक में लोकानुबन्धदृष्ट्या 'जीवित' माना जाता है। जब भी वैसा सम्मान्य व्यक्ति किसी अवर-कनिष्ठ के द्वारा किसी बडे अपमान से अपमानित हो जाता है, तो वही "जीवन्मृत' (जीवित ही मृत, जीता हुआ ही मरा हुआ) कहलाने लगता है। लोकधरातल में 'जीवित' एवं-'जीवन्मृत' की यही सहज परिभाषा मानी गई है ॥**

(१०९)—अर्जुन ! पाण्डवराज युधिष्ठिर सदा से ही तुमसे, भीमसेन से, एवं नकुल-सहदेव से श्रद्धापूर्वक सम्मानित होते आरहे हैं। इसके अतिरिक्त कुरुराज्य में जो भी वृद्ध-एवं शिष्टपुरुष हैं, जो भी पराक्रमशाली शूर योद्धा हैं, उन सभी के द्वारा अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा से ही सम्मानित रहे हैं। **'अपमान'** क्या है ?, इस प्रश्न की निष्कृष्ट व्यञ्जना से महामान्य सर्वमान्य धर्म्मराज सर्वथा अपरिचित हैं। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है कि, तुम्हारी प्रतिज्ञा कार्य्यरूप में परिणत हो, तो तुम्हें इस महामान्य का पूर्व-परिभाषानुसार अपमान कर देना चाहिए। सावधान ! कहीं उच्छृंखलरूप से अपमान न कर बैठना। अपमान करने का भी एक शिष्टजनसम्मत कौशल होता है। अपमान करना भी एक कला है। इस कलात्मक कौशल से ही तुम्हें युधिष्ठिर का अपमान करना है—**'तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व'** ॥

(११०)—(भगवान् जानते थे भावुकों के द्वारा विघटित अपमान का कलाशून्य उच्छृंखल अव्यवस्थित-अमर्य्यादित प्रकार। अतएव भगवान् को स्वयं अपमान का कलात्मक स्वरूप भी बतलाना पड़ा। वही स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं)—**अर्जुन ! कलात्मक शिष्टसम्मत अपमान का यही ऋजु प्रकार है कि, तुम 'भवान्' के स्थान में 'त्वम्' का सन्निवेशमात्र करते जाओ। 'त्वम्'मात्र से सम्बोधित होने से ही मान्य गुरु, मान्य ज्येष्ठ पुरुष की मृत्यु हो जाती है। (आजतक तुमने युधिष्ठिर का 'भवान्' (आप) रूप से सम्बोधन किया है। अब इस प्रतिज्ञापालन-प्रसङ्ग में 'त्वम्' (तुम-तू) रूप से सम्बोधन करते जाओ, यही तात्पर्य्य है) ॥**

(१११)—हे कौन्तेय ! इस प्रकार पूज्यावमानरूप, अतएव तत्त्वतः अधर्म्मात्मकसंयोगरूप इस 'त्वं' व्यवहारात्मक आचरण का उपयोग कर लेना चाहिए तुम्हें धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति अपनी प्रतिज्ञा के स्वरूपसंरक्षण के लिए * ॥ (११२)—(अर्जुन भी तो धर्म्मभीरु था) शास्त्रशब्दभक्ति भी तो इस

*—इस पथ को भगवान् अधर्म्मपथ घोषित करते हुए अर्जुन का अन्तिम बार परोक्षरूपसे उद्-बोधन ही कराना चाहते है। सम्भव है अर्जुन इस निकृष्ट पथ का अनुगमन सर्वथा तत्वशून्या प्रतिज्ञा के व्यामोह में पड़ कर न करे। क्योंकि, भगवान् जानते हैं कि, इसकी प्रतिक्रिया युधिष्ठिर में क्या विघटित कर सकती है ? किन्तु······।

भावुक का लक्ष्य बना हुआ था। भगवान् जान रहे थे कि, केवल हमारे कथनमात्र से अब अर्जुन को इस पथ में प्रवृत्त होने में इसलिए संकोच हो सकता है कि, हमने बुद्धियोगनिष्ठास्वरूपप्रदर्शनावसर पर इसे **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'** इस शास्त्रनिष्ठा में निष्ठ बना दिया है। भगवान् यह भी अनुभव कर रहे थे कि, प्रतिज्ञासमाधान के लिए प्रदर्शित उपाय की शास्त्रप्रामाणिकता में संदिग्ध बनता हुआ अर्जुन कहीं इस नवीन भावुकतापूर्णा–मीमांसा में प्रवृत्त हो पड़ा, तो कर्णयुद्ध–प्रसङ्ग तो तटस्थ बन जायगा, एवं शास्त्रचर्चा की भावुकमीमांसा उपक्रान्त बन जायगी। क्योंकि भावुक किसी भी विषय का आरम्भ तो करना जानता है, किन्तु समाप्ति–बिन्दु इसे सहसा उपलब्ध होता ही नहीं। इन्हीं सब भावी व्यञ्जनाओं को लक्ष्य बनाते हुए उपायप्रदर्शन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही भगवान् को यह कहना पड़ा कि—)—"श्रुतियों में उत्तम अथर्वाङ्गिरसी श्रुति (आथर्वणश्रुति) ही वृद्धावमानरूप अपमान–पथ में प्रमाण है अर्जुन। जिन्हें श्रेयोलाभ प्राप्त करना हो, अपना लोकाभ्युदय करना हो (लोक–सम्पत् प्राप्त करनी हो), उन्हें पूर्वापर का कुछ भी विचार किए बिना इस श्रुति का अनुसरण कर लेना चाहिए (जैसे कि महाआथर्वण के पौत्र भगवान् जामदग्नेय परशुराम ने इस ज्येष्ठावमानरूप पथ का आश्रय लेते हुए पूज्या माता का भी······) ॥ (११३)—(हाँ, तो आङ्गिरसी श्रुति के प्रमाण के आधार पर अब यह सिद्ध हो गया है कि)—'त्वम्' उच्चारण–सम्बोधनमात्र से बिना शस्त्रप्रहार के ही गुरुजन मृत बन जाते हैं। तो अब विलम्ब क्यों हो रहा है ? कह डालो धर्म्मराज युधिष्ठिर को 'त्वम्' सम्बोधन के माध्यम से, (जिससे फिर कहने के लिए तुम्हारे शब्दकोश में कुछ भी शेष रह न जाय अर्जुन) ॥ (११४)—अर्जुन ! तुम्हारे इस 'त्वम्' सम्बोधन की युधिष्ठिर में क्या प्रतिक्रिया होगी ?, यह जानते हो। सुनो ! धर्म्मराज तुम्हारी इस अवमानपरम्परा से इस निष्कर्ष पर पहुच जायँगे कि, आज इस अनुज ने मेरा वध ही कर डाला है। (बहुत सम्भव है, इस मृत्युरूप अपमान को सहन करने में असमर्थ युधि–ष्ठिर वास्तव में शरीर छोड़ देने के लिए ही उद्यत हो जायँ। अतएव सावधान अर्जुन ! अपमानपरम्परा के समाप्त होते ही तुझे अविलम्ब प्रणतभाव से ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर के चरणों में प्रणिपात करते हुए समवाणी का प्रयोग भी करना है, एवं प्रतिक्रियारुद्ध धर्म्मराज को सान्त्वना भी प्रदान करनी है ॥

(११५)—हमें विश्वास है कि, तेरे इस श्रद्धानुगत प्रणिपात से अपना रोष–आक्रोश विस्मृत कर देंगे युधिष्ठिर, एवं धर्म्म का सूक्ष्म विधान लक्ष्य बना कर सब कुछ समन्वित कर लेंगे धर्म्मराज। इस प्रकार सब कुछ समन्वित हो जायगा। तू अनृतरूप प्रतिज्ञाविरोध से भी मुक्त हो जायगा, एवं भ्रातृवधरूप महत्पातक से भी उन्मुक्त बन जायगा। तदित्थं सर्वात्मना तू हृष्ट (आत्मप्रसादगुणयुक्त–प्रसन्न–स्वस्थ–) बन जायगा। उस अवस्था में तुम्हारे सम्मुख अर्जुन हमारा एकमात्र यही प्रस्ताव उपस्थित करना शेष रह जायगा कि–**'कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम्'** सूतपुत्र कर्ण पर युद्ध में विजय प्राप्त करो) ॥

(११६)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र ! जनार्दन वासुदेव कृष्ण के द्वारा अपनी प्रतिज्ञा-पूर्त्ति के लिए इस प्रकार एक नवीन उपाय सुनकर सन्तुष्ट होते हुए पहिले तो अर्जुन ने भगवान् के

वचनों का यशोगान किया, अनन्तर अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए आजतक अपने पूर्व जीवन में जैसा स्वप्न में भी अर्जुन ने संकल्प भी न किया था, वैसे परुषवाक् का आवेशपूर्वक युधिष्ठिर पर प्रहार आरम्भ ही तो कर दिया निम्नलिखित रूप से—

(११७)—भावाविष्ट अर्जुन युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर कहने लगे कि, हे राजा युधिष्ठिर! '**तुम**' जल्प न करो जल्प न करो (बक–बक मत करो), जो कि तुम अपनी सहज भीरुता–कायरता से स्वयं रणसंघर्ष से कोसों दूर रहने वाले हो (तुम जब युद्ध का मर्म्म जानते ही नहीं, तो तुम्हें युद्धसम्बन्ध में निरर्थक जल्प (बक–झक) करने का अधिकार ही क्या है ?) । हाँ, ज्येष्ठभ्राता भीम अवश्य ही हमारी प्रतारणा करने का अधिकार रखते हैं, जोकि सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध श्रेष्ठवीरों के साथ एकाकी ही युद्ध में निर्भय बन कर युद्ध करने लगते हैं (जूझ पड़ते हैं) ॥ (११८)—(सुनना चाहते हो युधिष्ठिर ! भीरु युधिष्ठिर ! तुम महापराक्रमी भीमसेन के पराक्रम की यशोगाथा ?, तो सुनो)—जब युद्धभूमि में भीम अवतीर्ण होते हैं, तो बड़े बड़े शूरवीर–भूपतियों को मसल डालते हैं, मार डालते हैं, निःशेष कर देते हैं, बड़े बड़े सुदृढ़ विशिष्ट शस्त्रास्त्रसुसज्जित रथों में आरूढ़ युद्धकर्म्म में दुर्द्धर्ष सुप्रसिद्ध महारथी नागवीरों नागयोद्धाओं को, असंख्य 'सादिप्रवेक' नामक वीरों को क्षणमात्र में विस्मृति के गर्भ में विलीन कर देते हैं ॥ (११९)—जिस अप्रतिम वीर ने हजारों हाथियों को मार कर अपने तुमुल सिंहनाद से शत्रुसैन्य को विकम्पित कर दिया, अगणित काम्बोजवीरों का, असंख्य पार्वतीय वीरों का निर्म्मम संहार उसी प्रकार कर डाला, जैसे मदोन्मत्त सिंह मृगयूथ का अनायास ही वध कर डालता है ॥ (१२०)—जानते हो युधिष्ठिर तुम भीम के उस अभूतपूर्व–अश्रुतपूर्व महापराक्रम को, जिसने अपनी सहजवीरता–शौर्य्य से युद्ध में वैसे वैसे सुदुष्कर–घोरघोरतम–महाभयानक कर्म्म किए हैं, जिनका तुम तो संकल्प भी नहीं कर सकते । जिस समय वह पुरुषसिंह आवेश में आते हैं, रथ से उतर पड़ते हैं, अपना सुप्रसिद्ध 'गदा' शस्त्र उठा लेते हैं । एवं उसे प्रबल वेग से घुमाते हुए अश्वारोही वीरों को, रथारूढ़ महारथियों को, गजारूढ़ महावीरों को उनके अश्व–रथ–गजों के साथ चूर्णमुष्टिरूप में परिणत कर डालते हैं ॥ (१२१)—शतमन्युविक्रम (सौ इन्द्रसम बल–विक्रम रखने वाले भीम) क्या विक्रम करते हैं समरभूमि में, सुन भी सकोगे युधिष्ठिर तुम उस विक्रम की विक्रमगाथा ? । अपने सुतीक्ष्ण सर्वश्रेष्ठ खड्ग से, एवं प्रचण्ड धनुष से, एवं शत्रुपक्ष के महारथियों के ही रथों को तोड़–फोड़ कर इन रथाङ्गरूप साहसिक शस्त्रों से शत्रुपक्ष के घोड़ों–हाथियों, एवं तदारूढ़ अश्वारोही–गजारोही–रथी–महारथियों को मानों क्षणमात्र में भस्मावशेष ही कर डालते हैं (जला डालते हैं) जिस प्रकार भस्मीभूत शरीर के अवयव उपलब्ध नहीं होते, तथैव भीम के द्वारा निहत शत्रुओं के शरीरों की, शरीरावयवों की उपलब्धि भी असम्भव बन जाती है । भीम इस प्रकार शत्रुशरीरों को चूर्णित कर देते हैं, जैसे अग्नि इसे भस्मरूप में परिणत कर देते हैं—**'दहत्यरीन्'** । और सुनो ! सहसा झपाटा मार कर भीम शत्रु को अपने दोनों पैरों के मध्य में लेकर पीस डालते हैं, कुचल डालते हैं । अपने दोनों हाथों से शत्रुओं के मस्तकों को टकराकर चूर्णित कर देते है ॥ (१२२)—ऐसे महा-

विक्रमशाली पराक्रमी भीम जब समराङ्गण में अवतीर्ण हो पड़ते हैं, तो शत्रुसेना को स्पष्टरूप से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि, मानों साक्षात् महाकाल–यमराज ही प्रलयान्तकोप से संयुक्त होकर उपस्थित हो गए हैं। दो–चार सैनिकों को ही नहीं, अपितु आक्रोश करने वाली पूरी सेना को ये वैश्रवणान्तकोपम भीम स्मृतिगर्भ में विलीन कर देते हैं। ऐसे अप्रतिम भीम यदि इस अर्जुन की गर्हणा (भर्त्सना–निन्दा) करते, तो ठीक भी था। वे कर सकते हैं, और उसे अर्जुन सुन भी सकता है। किन्तु युधिष्ठिर तुम, अरे! तुम क्या अर्जुन की निन्दा करोगे, जो स्वयं अपने मित्र–अङ्गरक्षकों से अपनी रक्षा की चिन्ता में निमग्न बने रहते हो ॥ (१२३)—उधर महापराक्रमी भीम सिंहवत् एकाकी निर्भय युद्ध में बिचरण करते हुए कभी महारथियों को विकम्पित करते हैं, कभी गजारूढ़ श्रेष्ठ योद्धाओं का मानविमर्दन करते हैं, कभी अश्वारोही सैनिकों का वक्षस्थल विदीर्ण करते हैं, तो कभी पदातिसेना को ही कुचलते रहते हैं। सम्पूर्ण धार्त्तराष्ट्रों में इस प्रकार उनको, तथा उनके सर्व्वविध सेनाङ्गों को एकाकी ही विकम्पित करने वाले शत्रु-पराभवकर्त्ता भीम मुझे उपालम्भ देने की क्षमता रखते हैं। तुम क्या तो मुझे उपालम्भ दोगे, और क्या तुम्हारे जैसे भीरु के उपालम्भ का मुझ अर्जुन पर कुछ प्रभाव होगा ?॥ (१२४)—अपनी प्रचण्ड पराक्रमप्रभा से नीलबलाहकोपम बने रहने वाले, अपने शौर्य्यमद से मदोन्मत्त सिंह–गजादिवत् मद-गर्वित बने रहने वाले ऐसे विश्वविश्रुत कलिङ्ग–बङ्ग–निषाद–मागधादि दुर्द्धर्ष महावीरों को, इन शत्रुओं के समूहों के समूहों को जो भीम देखते–देखते निष्प्राण बना देते हैं, युधिष्ठिर ! वे भीम मुझे उपालम्भ देने की योग्यता–क्षमता रखते हैं, तुम नहीं ॥ (१२५)—जिस प्रकार वर्षाकाल में पुष्करावर्त्तकादि विशेष जाति के घनकृष्णवर्णात्मक महामेघ महानिनादपूर्वक प्रचण्ड जलवर्षण से मेदिनी को आप्लावित कर देते है, एवमेव मानों अम्बुधारावर्षण करते हुए ही भीम अपने महारथ में सज्जीभूत बन कर युक्तरूप से प्रतिष्ठित होकर इस महायुद्धात्मक कुरुक्षेत्र के महामेदिनी–प्राङ्गण को अपने महाधनुष के महाघोष के साथ बाणों से आच्छादित कर देते है ॥ (१२६)—महामदोन्मत्त अनुमानतः आठसौ महागजों को तो भीम ने इस युद्ध में उन गजों के शुण्डादण्ड (सूँड) पकड़-पकड़ कर ही अब तक भूमिसात् कर दिया है। एवं इतने गजों को उस अरिघ्न भीम ने बाणप्रहार से निःशेष कर दिया है ॥ (संकल्प भी किया है कभी युधिष्ठिर तुमने ऐसे महापराक्रमों का युद्धभूमि में ?। नहीं, तो किस अपने वाक्–बलप्रधान श्रीमुख से तुमने मेरी गर्हणा कर डाली ?) ॥ (१२७)—सम्भवतः यह तो तुम्हें विदित होगा ही कि, निगमशास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणों की ही वाणी में बल प्रतिष्ठित रहता है। तत्त्वज्ञ विद्वानों ने क्षत्रियों का प्रधान बल तो 'बाहुबल' ही माना* है। हे भारत ! (युधिष्ठिर !) तुम में तो केवल द्विजोचित वाग्बल प्रतिष्ठित है। इसीलिए तो तुम

---

* सिद्धं ह्येतद्–'वाचि वीर्य्यं द्विजानां'–बाह्वोर्वीर्य्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम् ।
शस्त्रग्राही ब्राह्मणो जामदग्न्यस्तस्मिन् दान्ते का स्तुतिस्तस्य राज्ञः ॥
—भवभूतिः ।

निष्ठुर बने हुए हो। (तुम्हें क्या विदित कि, बाहुवीर्य्य क्या है ?, एवं ऐसे वीर्य्य से युक्त क्षत्रिय के लिए यह परुषवाक् किस प्रकार उद्वेग का कारण बन जाती है ?) । आज अपनी वाक्शूरता के आधार पर तुमने मुझे उस प्रकार गर्हित कर डाला है, जैसे किसी निर्बल को सबल गर्हित बना दिया करता है ॥ (१२८)—युधिष्ठिर ! बस रहने दो अपना वाक्शौर्य । सब कुछ जानते हैं हम लोग कि, तुम्हारे पुरुषार्थ से हमें कैसे कैसे कष्ट उठाने पड़े हैं) क्या इसलिए-इस हितैषिता से उऋण होने के लिए-तुम इस प्रकार आज हमारी गर्हणा कर रहे हो कि, हमने, न केवल हमने हीं, अपितु हमारी स्त्रियों ने, पुत्रों ने, भ्राताओं ने सदा तुम्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा की, तुम्हारे हितसाधन में प्रवृत्त बने रहे ? । सचमुच तुम्हारी इस सेवाशुश्रूषा से आज तक हम लोगों ने सिवाय दुःखपरम्परा के कभी स्वप्न में भी सुख की प्रतिच्छाया भी तो प्राप्त न की।

(१२९)—द्रौपदीतल्पसंस्थ (केवल नारी की शय्या के अनुगामी स्त्रैण) युधिष्ठिर ! बहुत हुआ। रहने दो। सावधान ! मेरा अपमान करने की भूल न करो। क्या इस अपमानरूप पुरस्कार की प्राप्ति के लिए ही हमने तुम्हारे हित के लिए (तुम्हें राज्यपदासीन बनाने के लिए) युद्ध में महारथियों का संहार किया है ? । सम्भवतः तुम्हें आज ऐसी शङ्का हो गई है-कि, कहीं हम तुम्हारे स्थान में राज्यपद न ग्रहण कर लें। सचमुच तुम महानिष्ठुर हो, पाषाणहृदय हो, महाशङ्काशील हो। तुमसे कभी भी किसी भी प्रकार के सुख की इच्छा करना व्यर्थ है ॥ (१३०)—युधिष्ठिर ! केवल तुम्हारे हित के लिए सत्य-प्रतिज्ञानिष्ठ कुरुकुलपितामह महात्मा भीष्म ने, उस सत्यनिष्ठ अतिमानव ने तुम्हें अपनी मृत्यु का आश्वासन देकर तुम्हें निर्भय तो बना दिया था। किन्तु क्या तुम भीष्म का पराभव सकते थे ? मुझ से सुरक्षित द्रुपदराज के पुत्र शिखण्डी को मध्यस्थ बना कर एकमात्र तुम्हारे हित के लिए यदि हम अपने अनन्य-श्रद्धेय महापितामह के पावन शरीर को शरवर्षण से विद्ध न कर देते, तो क्या तुम स्वप्न में भी उस महा-पुरुष को शरशय्यानुगामी बना सकते थे ? ॥ (१३१)—और आज तो हमें यह भी अनुभव होने लगा है कि, यदि तुम्हारे लिए अपने प्राणसमर्पण कर जयलाभ द्वारा तुम्हें राज्यासीन कर भी दिया, तो भी इसमें हम लोगों को भविष्य में कोई हित प्रतीत नहीं हो रहा। तुम्हारे उस भावी राज्यपद का हम अब इसलिए समर्थन नहीं कर सकते कि, तुम्हारी तो एकमात्र आसक्ति का प्रियविषय 'द्यूतकर्म्म' बना हुआ है। (किसे विदित है कि, पुनः अपनी इस द्यूतासक्ति को कार्य्यरूप में परिणत करते हुए तुम राज्य को पुनः हार जाओ और हमारा सब कुछ पुरुषार्थ व्यर्थ चला जाय) । युधिष्ठिर ! द्यूत जैसे महा निन्द्य-शास्त्रविरुद्ध-नीच मनुष्यों के द्वारा अनुष्ठेय (अनार्य्यजुष्ट) महापातकात्मक जघन्य कर्म्म को अपनाते हुए तुम आज जो हम लोगों से अपने शत्रुओं से आत्मत्राण करने की चेष्टा कर रहे हो, वह किस मुख से ?, किस योग्यता-धार पर ? ॥ (१३२)—युधिष्ठिर ! तुम्हें स्मरण होगा कि, जिस समय धार्त्तराष्ट्रों के कूटनीतिपूर्ण 'द्यूत' जैसे निन्द्य कर्म्म के आमन्त्रण को स्वीकार करने के लिए तुम समुद्यत हो रहे थे, उस समय भीमादि तो शिष्टतावश मौन धारण किए हुए थे ? किन्तु सहजभावुक बालभावापन्न सर्वकनिष्ठ अनुज सहदेव ने आक्रोशपूर्वक द्यूतकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले दोषों का, एवं तत्सम्बन्धी अधर्म्म-विधर्म्मभावों का विश्लेषण

करते हुए तुम्हारे उद्बोधन की प्रबल चेष्टा की थी। किन्तु **'बालादपि सुभाषितम्'** पर कोई लक्ष्य न देते हुए तुमने एक न मानी। उस नीचजनसेवितयोग्य द्यूतकर्म्म के व्यामोहात्मक आमन्त्रण का निरोध तुम से न होसका, जिसके परिणामस्वरूप आज हम सब को इस दीन–हीन दशा का अनुगामी बनना पड़ा ॥ (१३३)—युधिष्ठिर! तुम से कभी हमें सुख-शान्ति प्राप्त हुई हो, यह तो कल्पना ही निरर्थक है। हाँ, अपने द्यूतकर्म्मव्यसन में सम्प्रवृत्त तुमने अपने आपको महादुर्व्यसनी–निकृष्टकर्म्मकर्त्ता–प्रमाणित करते हुए अपने आपको दुःखी सन्त्रस्त अवश्य बना लिया है और आश्चर्य्य है आज हमें इस बात पर कि, वह महादुर्व्यसनी आज हमें कटु–परुषवाणी सुना रहा है ॥ (१३४)—युधिष्ठिर! एकमात्र तुम्हारे द्यूतात्मक पापकर्म्म–दुर्व्यसन के कारण ही हमें उस अगणित शत्रुसेना का संहार करना पड़ा, जो क्षत्रीयवीर अपने क्षत–विक्षत शरीरों से भूगर्भ में समाविष्ट हो गए हैं। तुम्हारे उस नृशंस द्युतकर्म्म के ही दुष्परिणामस्वरूप युद्धसहयोगी अन्य क्षत्रियवीरों के साथ साथ अपने वंशज कौरवों का भी सर्वनाश हुआ। निष्कर्षतः तुम्हारे पाप के कारण तुम तो नष्ट हुए सो हुए ही, हम, हमारे वंशबन्धु, एवं अन्य राजागण भी विनष्ट हुए, सन्त्रस्त बने ॥ (१३५)—हमने तुम्हारी विजयकामना से उत्तरप्रान्तीय वीरों का संहार किया, पश्चिमप्रान्तीय खल्वाट नीवराजाओं × का संहार किया, पूर्वदेशीय राजाओं का सर्वनाश किया, एवं दाक्षिणात्य सैन्यबल को स्मृतिगर्भ में विलीन किया। इस प्रकार हमने लोकोत्तर साहसपूर्वक अप्रतिम पुरुषार्थ का अनुगमन किया। साथ ही हमारे तथा शत्रुपक्ष के महावीर योद्धाओं ने युद्ध में अन्यतम पराक्रम प्रदर्शित किया। सभी ने सब कुछ किया, किन्तु तुमने क्या किया? ॥ (१३६)—तुमने जो किया?, वह सर्वविदित है। तुम प्रसिद्ध द्यूतकर्म्मा (बड़े जुआरी) हो, तुम्हारे अनुग्रह से सम्पूर्ण भारत-राष्ट्र के वैभव का सर्वनाश हुआ, तुम्हारे सङ्गदोष से हमें 'कायर' उपाधि से विभूषित होना पड़ा। बस करो युधिष्ठिर! अब हम पर क्रूरवचन प्रहार का दुःसाहस तुम जैसे **'मन्दभाग्य'** को कदापि भविष्य में नहीं करना चाहिए, नहीं करना चाहिए ॥

(१३७)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र! अपने प्रतिज्ञापालन के आवेश से कुछ समय के लिए स्थिरप्रज्ञ बन जाने वाले सव्यसाची अर्जुन ने उक्तरूप से धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति सर्वथा रूक्ष–कर्कश–उद्वेगकर–परुष वाक्प्रहार कर ही तो डाला। किन्तु तत्काल पुनः अर्जुन में सहसा सहज भावुकता जागरूक हो पड़ी। परिणामस्वरूप भर्त्सना के अनन्तर ही अर्जुन इस प्रकार उद्विग्न–क्षुब्ध हो पड़े, जैसे कोई प्राज्ञ (समझदार) मानव कोई बहुत बड़ा पापकर्म्म करके सहसा क्षुब्ध–विमना–उद्विग्न बन जाया करता है ॥ (१३८)—सन्तप्त हो पड़े अर्जुन इस प्रकार अपने ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर की इस प्रकार भर्त्सना करके। सुरराजपुत्र अर्जुन बार बार महाश्वास लेने लगे। इनकी इस प्रकार की दुरवस्था–उद्वेग को

× तस्मादेदस्यां प्रतीच्यां दिशि ये केचन नीच्यानां राजानः, ये अपाच्यानां, स्वाराज्यैव तेऽभिषिच्यन्ते–'स्वराट्' इत्येतानभिषिक्तानाचक्षते।

—ऐतरेय ब्रा० ८।१४।

लक्ष्य बनाकर पुनः भगवान् कृष्ण को इनकी भावुकता का इस प्रकार उद्बोधनोपक्रम करना पड़ा कि—अर्जुन ! यह क्या होने लगा, पुनः तुम यह क्या करने लगे । अपनी सत्य प्रतिज्ञापूर्त्ति करने के अनन्तर जहाँ तुम्हें सन्तुष्ट होना चाहिए था, वहाँ तुम आज पुनः अपने शोकोच्छ्वासों से आकाश को विकम्पित कर रहे हो (आकाश–पृथिवी एक कर रहे हो) ॥ (१३९)–कहो, अर्जुन ! पुनः कह डालो, जिससे तुम्हारे इस आश्चर्यप्रद शोक के निवारण के लिए पुनः हम कोई मार्ग निकालें । सञ्जय कहने लगे कि, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के द्वारा इस प्रकार सान्त्वना–वचन सुनकर दुःखसंविग्नमानस अर्जुन केशव से कहने लगे कि–(१४०)––भगवन् ! (इस समय मुझे कुछ भी प्रतीत नहीं हो रहा) । जिस इस शरीर ने अपनी प्रतिज्ञापालन के आवेश में आकर जिस प्रकार अपने ज्येष्ठबन्धु युधिष्ठिर का अपमान कर डाला, उस शरीर को मुझे अवश्य ही नष्ट कर देना है । सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अर्जुन की तथाकथित स्त्रैण वाणी सुन कर धर्म्मभृतां वरिष्ठ भगवान् वासुदेव धनञ्जय से कहने लगे कि––

(१४१)—अर्जुन ! धर्म्मराज युधिष्ठिर को केवल अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए इस प्रकार 'त्वम्' सम्बोधनपूर्वक भर्त्सित कर क्यों इस प्रकार घोरघोरतम कश्मलभाव (बुद्धि–मनोमालिन्य) का अनुगमन कर रहे हो । हे किरीटिन् ! हे शत्रुविमर्दिन् ! (अरिघ्न !) यों जो तुम सहसा बिना कारण ही 'आत्महत्या' जैसे घोरघोरतम दुष्कर्म्म में प्रवृत्त होने जा रहे हो, क्या तुम्हारा यह घोरपथ शिष्ट–महापुरुषों के द्वारा अनुगमनीय है ?। कदापि नहीं ॥ (१४२)—कल्पना करो अर्जुन यदि तुम अपने ज्येष्ठभ्राता धर्म्मात्मा युधिष्ठिर का खड्ग से वध कर डालते, वास्तव में उन्हें मार ही डालते, तो उस दशा में तुम्हारी क्या अवस्था होती ?, उस समय की धर्म्मभीरुता तुम्हें किस ओर, कैसे प्रायश्चित्त की ओर आकर्षित करती ? (केवल भर्त्सनामात्र करने से तो प्रायश्चित्तस्वरूप तुम आत्महत्या कर रहे हो । सचमुच में ही यदि मार ही डालते, तो विदित नहीं कौनसे प्रायश्चित का तुम कैसे अनुष्ठान करते ?) । तुम ही जान सकते हो अर्जुन इस प्रकार की धर्म्मभीरुता से सम्बन्धित प्रायश्चित्त के मर्म्म को ॥ (१४३)–अर्जुन ! (धर्म्मव्याख्यास्वरूपविश्लेषण करते हुए पूर्व में हमने तुम्हें बतलाया था कि) धर्म्म सुसूक्ष्म तत्त्व है । केवल शब्दमात्र के आधार पर, प्रत्यक्षानुगता भावुकतापूर्णा कल्पना के आधार पर यथेच्छ विधि–विधान बना डालना , यथेच्छ प्रायश्चित्तों की कल्पना कर बैठना क्या उचित होगा ? । जो आचार्य्य धर्म्म के सुसूक्ष्म विशेष रहस्य के ज्ञाता हैं, उनके द्वारा उक्त धर्म्मनिर्णय ही सुनना चाहिए, तदनुसार ही प्रायश्चित्तादि की व्यवस्था करनी चाहिए । धर्म्म सुसूक्ष्म तत्त्व है । अतएव अज्ञ सामान्य जनों की दृष्टि में दुर्विद बना हुआ है । अज्ञजन इसे दुर्विद कहते हैं । अतएव वे अपनी स्थूलदृष्टि से धर्म्मनिर्णय करने में असमर्थ हैं । तुमने अपनी कल्पना से जिस प्रायश्चित का सहसा संकल्प कर डाला है, जानते हो उस सम्बन्ध में धर्म्मरहस्यज्ञों के क्या उद्गार है ? । नहीं, तो सुनो ! । अपने कश्मलभावापन्न (मलीमस, अतएव मोहावृत–विज्ञानात्मरूप सौर) देवात्मा के (अविद्याबुद्धिरूप क्षरात्मा के) संकल्पमात्र से अपने भूतात्मा (देहाभिमानी जीवात्मा) का (हत्वा आत्मना आत्मनं–विज्ञानात्मना भूतात्मानं देहिनं हत्वा) वध करने से तुम्हें

उस घोरनरकात्मिका असुर्य्यगति का अतिथि बनना पड़ेगा, जहाँ से आकल्पान्त पुनरावर्त्तन सम्भव नहीं है * । क्या यही है तुम्हारे प्रायश्चित्त का सुपरिणाम ! ॥

(१४४)—तुम्हें अपने ज्येष्ठबन्धु के अपमान से आत्मग्लानि का अनुभव हो रहा है । ठीक है । हम बतलाते हैं इसका वास्तविक शिष्टजनसम्मत प्रायश्चित्त । तुम सन्नद्ध बनकर अपने ज्येष्ठभ्राता के सम्मुख खड़े होजाओ और अपने ही मुख से अपने वास्तविक (किंवा—एषणात्मक कल्पित) गुणों का बड़े आवेश के साथ वर्णन कर डालो । इसी से तुम्हारा 'आत्महत्या' रूप प्रायश्चित्त सफल बन जायगा । **जैसे छोटे से अपमान होने पर बड़ा जीवन्मृत मान लिया जाता है । तथैव बड़े के सम्मुख यदि छोटा अपना महत्त्वख्यापन करने लगता है, तो इससे यह छोटा जीवन्मृत मान लिया जाता है, यही निष्कर्ष है ।** सञ्जय कहने लगे कि, भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट इस प्रायश्चित्त के प्रति 'जैसी आज्ञा भगवन् !' इस प्रकार से अपनी प्रणत भावना व्यक्त करते हुए धनञ्जय ने अपना (अपने ही वध के लिए संधान किया हुआ) धनुष अवनत कर लिया ॥ (१४५)—एवं—धर्म्मधारण करने वालों में श्रेष्ठ धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति—'सुनिए धर्म्मराज युधिष्ठिर ! अब आप मेरे वास्तविक गुणों का महदर्शन', इस प्रकार भूमिकापूर्वक शक्रसूनु (इन्द्रपुत्र) कहने लगे कि—हे नरदेव ! (आपको सम्भवतः यह विदित नहीं होगा कि)—

पिनाकपाणी भगवान् शङ्कर के अतिरिक्त मुझ जैसा अन्य दूसरा धनुर्द्धर समस्त भूमण्डल में ही क्या, त्रैलोक्य में नहीं है ॥ (१४६)—यदि भगवान् शङ्कर की मुझे आज्ञा प्राप्त हो जाय, तो यह महात्मा अर्जुन क्षणमात्र में शङ्करवत् सम्पूर्ण चराचर जगत् का सर्वनाश कर डाले । राजन् ! दिक्पतियों को उनकी दिशाओं के सहित परास्त कर इस अर्जुन ने ही तो उन सबको आपका वशवर्त्ती बनाया है ॥ (राजसूययज्ञ में सम्पूर्ण दिशाओं के नृपतियों को पराभूत कर उनके द्वारा आपके राजसूय यज्ञ को किसने सफल बनाया था ?, इसी अर्जुन ने) ॥ (१४७)—अन्तिम कर्म्मात्मक दक्षिणाप्रदान के द्वारा सर्वात्मना सुसम्पन्न हो जाने वाला आपका वह त्रैलोक्यविश्रुत राजसूययज्ञ, देवसभाओं को भी अपने वैशिष्ट्य से लज्जित कर देने वाली आपकी वह दिव्यसभा (मयद्वारा विनिर्म्मित सभाभवन) एकमात्र मेरे ही ओज का प्रभाव था । सुदृढ़ प्रत्यञ्चासहित तना हुआ बाणयुक्त मेरा धनुष, मेरा ओज, इन सब का ही तो यह प्रभाव था कि, राजसूययज्ञ को सफल बना डालना, दिव्यसभा का निर्म्माण करा डालना, सब–कुछ मेरे हाथों में एक बिन्दुवत् समा रहे थे । (अर्थात् यह तो मेरे वामहस्त का क्रीड़ाकौशलमात्र था) ॥ (१४८)—रथारूढ़ सुदृढ़ पैरों के प्रचण्ड आघात ने, मेरी अप्रतिम रथध्वजा ने जैसे जैसे युद्धों में विजय प्राप्त की

*** असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।**
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
—ईशोपनिषत् ।

है, वह अप्रतिम है। मैंने उदीच्य-प्रतीच्य-प्राच्य-दाक्षिणात्य-चारों दिशाओं के वीर योद्धाओं को अपने इस अप्रतिम पराक्रम का स्वाद चखाया है॥

(१४६)—अपने प्रचण्ड पराक्रम में लोकविश्रुत-प्रसिद्ध संशप्तकों के महावीर-संघ में से अब कुछ ही शेष रह गए हैं। कुरुक्षेत्र के समरप्राङ्गण में युद्ध के लिए समुपस्थित शत्रुपक्ष की एकादश अक्षौहिणी सेना में से प्रायः आधी सेना का तो मैंने ही संहार कर डाला है। देवसेना के साथ समता करने वाली इस भारतीय सेना का अर्द्धभाग आज मेरे द्वारा सदा के लिए धरातल पर निद्रानिमग्न बन गया है॥ (१५०)—इस महासमर में जो महारथी मन्त्रपूत देवविद्यात्मक अस्त्रों के स्वरूप से परिचित हैं, मैं उन्हें अपने देवविद्यात्मक उनसे भी कहीं प्रखरण्ड पाशुपतादि महास्त्रों से भस्मसात् कर देता हूँ।

(इस प्रकार युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर प्रत्यक्षरूप से यशोगान करने के अनन्तर अब अर्जुन वासुदेवकृष्ण को लक्ष्य बनाकर परोक्ष रूप से युधिष्ठिर को अपना महिमा-वर्णन सुनाने के अभिप्राय से कहते हैं कि—)—"हे वासुदेव कृष्ण! भीमाकार जयशील, अतएव 'जैत्र' नाम से प्रसिद्ध सुविशाल रथ में (आप जैसे त्रैलोक्याप्रतिम सारथिश्रेष्ठ के सारथित्त्व में) आरूढ़ होकर अब अपन शीघ्र से शीघ्र सूतपुत्र कर्ण का संहार करने के लिए समरभूमि में चल ही तो रहे हैं॥ (१५१)—हे कृष्ण! धर्मराज युधिष्ठिर भले ही आज से ही अपने आपको राजा मान लें, क्योंकि समरभूमि में आज निश्चयेन अपने गाण्डीवधनुष से विनिर्गत सुतीक्ष्ण बाणों से मैं कर्ण का विनाश करने ही वाला हूँ"। सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार कृष्णव्याज से परोक्षरूपेण युधिष्ठिर को अपना महत्त्व सुनाकर पुनः युधिष्ठिर को ही पूर्ववत् साक्षाद्रूपेण लक्ष्य बनाते हुए धर्मभृतांवरिष्ठ युधिष्ठिर से अर्जुन कहने लगे कि—

(१५२)—हे धर्मराज युधिष्ठिर! आप यह निश्चय मानिए कि, प्रथम तो आज 'सूतमाता' (कर्णमाता) कुन्ती अपुत्रा बन जायगी। यदि कारणवश हम युद्धशय्या में सदा के लिए आरूढ़ होगए, तो 'अर्जुनमाता' कुन्ती अपुत्रा बन जायगी। कुन्ती दोनों में से किसी न किसी एक पुत्र के हनन से अपुत्रा अवश्य बना दी जायगी॥

(१५३)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अपना दृढ़ निश्चय युधिष्ठिर के प्रति अभिव्यक्त कर, धर्मभृतांवरिष्ठ युधिष्ठिर को ही पुनः लक्ष्य बनाकर पार्थ अर्जुन ने अपने सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों का परित्याग कर, धनुष को हटाकर, खड्ग और तूणीर एक ओर रखकर॥ (१५४)—बड़ी ही लज्जापूर्वक अवनतशिरस्क बनते हुए अञ्जलि बाँधकर (दोनों हाथ जोड़कर) कहने लगे कि—हे धर्मराज! अब आप मुझ पर अनुग्रहदृष्टि कीजिए। मैंने आपके प्रति जो परुष कहने की धृष्टता कर डाली, उन्हें क्षमा करते हुए मुझ पर प्रसन्न बनें। मैंने इस समय जो कुछ भी आक्रोश अभिव्यक्त किया है, उस के मूल में मेरी कोई दुर्वासना न थी, जैसा कि कालान्तर में स्वयं आपको अनुभव हो जायगा। मैं आपको कृताञ्जलि बन कर नमन कर रहा हूँ आपके चरणों में॥ (१५५)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अपने साञ्जलि-बन्ध प्रणतभाव से अपने शत्रुओं के आक्रोश को भी अपनी सहनशीलता के कारण सहने वाले सहनशील

युधिष्ठिरराज को प्रसन्न कर थोड़ा स्वस्थ–स्थितप्रज्ञ बनते हुए वीर श्रेष्ठ अर्जुन पुनः धर्म्मराज को सम्बोधन करते हुए कहने लगे कि, हे युधिष्ठिर ! अब आप कर्णचिन्ता की ओर से सर्वथा निश्चिन्त बन जाइए। अब अधिक विलम्ब नहीं है। बहुत ही शीघ्र अब सब कुछ आपकी इच्छा के अनुरूप ही होने वाला है। मैं अब जा ही रहा हूँ उस कर्ण को लक्ष्य बना कर ॥ (१५६)––सर्वप्रथम तो प्रचण्ड–वेग से युद्धकर्म्म में रत भीम को (थोड़ा विश्राम लेने के लिए) युद्धकर्म्म से उन्मुक्त करता हूँ और पुनः आपको प्रसन्न करने के लिए सूतपुत्र कर्ण को मारने का उपक्रम करता हूँ। राजन् ! आप इस अर्जुन की यह सत्य प्रतिज्ञा ही समझिए। मै जीवितदशा में–आत्मसाक्षी से यह प्रतिज्ञा कर रहा हूँ॥

(१५७)–सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार कर्णविनाशार्थ समरभूमि में जाने के लिए कृतसंकल्प कृप्रतिज्ञ, ऐसी वीरप्रतिज्ञा के आवेश से तेजोमय बनते हुए किरीटी अर्जुन धर्म्मराज युधिष्ठिर के दोनों चरणों का स्पर्श कर खड़े हो गए। (यह तो हुई अर्जुन की तुष्टि की गाथा। हे धृतराष्ट्र ! अब युधिष्ठिर की सामयिक गाथा सुनिए।)। धर्म्मराज पाण्डव इस प्रकार अपने अनुज फाल्गुन अर्जुन की तथोपवर्णिता परुष–वाणी सुन कर ॥ (१५८)––सहसा अपनी शय्या* से उठ खड़े हुए, एवं दुःखसंविग्नमानस बनते हुए अर्जुन से इस प्रकार कहने लगे कि–––

हे पार्थ अर्जुन ! वास्तव में हमने यह कोई शुभ कर्म्म नहीं किया, जो कि तुम्हारे कथनानुसार सर्वथा निकृष्ट 'द्यूत' जैसे घोर व्यसन का अनुगमन कर डाला (जिस इस हमारे दुर्व्यसन से आज तुम सब की ऐसी दुरवस्था हो गई है) ॥ (१५९)––अतएव अर्जुन ! हम तुम्हें यह आदेश दे रहे हैं आज कि, तुम अपने खड्ग से इस पापात्मा पापपूर्ण द्यूतव्यसन में संलग्न सर्वथा हतबुद्धि–विमूढ़–महाआलसी–अकर्म्मण्य-अत्यन्त डरपोक–अपने कुल के क्षय के निमित्तरूप–अधमपुरुष–मुझ युधिष्ठिर का मस्तक काट ही डालो॥ (१६०)––अर्जुन ! मैं तुम से अनुरोध कर रहा हूँ कि, अपने से ज्येष्ठ पुरुष के अपमान करने में कुशल तुझ अर्जुन को अब इस मेरे शिरश्छेदरूप पुण्यकर्म्म में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। इस निष्ठुर रूक्ष अपने ज्येष्ठभ्राता का अब अधिक समय पर्य्यन्त गतानुगतिक बने रहना उचित नहीं तुझ जैसे बुद्धिमान् के लिए। (यदि तुझ में खड्ग से मेरे मस्तक काटने का साहस नहीं है, तो यह पापात्मा तेरा ज्येष्ठभ्राता स्वयं सबकुछ परित्याग कर अरण्य में चला जाता है। मुझ जैसे पापात्मा के दुष्ट सङ्ग से विमुक्त होकर अब भविष्य के लिए तुम लोग सुखी बनो, पुण्य–सञ्चय करो, यही मेरी कामना है॥ (१६१)–तुम तो स्वयं यह प्रकट कर ही चुके हो कि, तुम्हारा ज्येष्ठभ्राता भीमसेन मुझ से कहीं अधिक योग्य है, शूर है, पराक्रमी है। ऐसी स्थिति में मुझ जैसे स्त्रैण–कापुरुष–हीनवीर्य्य–भीरु–युधिष्ठिर का राज्यपद से क्या सम्बन्ध ? अर्जुन ! बस करो, क्षमा करो मुझे तुम। अब

*कर्णशराभिसन्तप्त युधिष्ठिर युद्धभूमि से पराङ्मुख बन कर अपने युद्ध के विश्रामस्थल में शय्या पर विश्राम कर रहे थे। इसी अवस्था में अर्जुन ने इनकी भर्त्सना की थी।

मैं क्रोधाविष्ट तुम्हारे इन क्रूर परुषवाक्प्रहारों को सहने के लिए अधिक शक्ति नहीं रखता ॥ (१६२)—अब मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि, भीमसेन ही राज्यपद पर आसीन हो। हे वीर अर्जुन! सर्वथा अपमानित अब मेरे लिए अधिक समय पर्य्यन्त जीवित रहना सर्वथा व्यर्थ है।

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अर्जुन को लक्ष्य बना कर उक्त मन्तव्य प्रकट करते हुए धर्म्मराज युधिष्ठिर सहसा खड़े हो ही तो गए। शय्या छोड़ कर आवेशपूर्वक नीचे उतर आए ॥ (१६३)–(१६४)–एवं (सब कुछ शस्त्रास्त्रादि परिग्रहों का परित्याग कर वानप्रस्थी की भाँति) वनगमन के लिए उद्यत हो ही तो पड़े। (इस भयावह काण्ड को लक्ष्य बना कर तत्काल एकान्तनैष्ठिक अतिमानव भगवान्) वासुदेव कृष्ण ने बड़े ही प्रणतभाव से निम्नलिखित रूप से युधिष्ठिर का उद्बोधन आरम्भ किया—

वासुदेव कहने लगे कि, राजन्! गाण्डीवधनुर्द्धारी अर्जुन ने अपने गाण्डीवधनुष के सम्बन्ध में जो यह प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि—"जो मुझे यह कह देगा कि, तू तेरा गाण्डीवधनुष दूसरे को दे दे, वह पुरुष मेरे लिए वध्य है", उस प्रतिज्ञा का स्वरूप आप जान ही चुके हैं। अपनी उस प्रतिज्ञा के आवेश को उपशान्त करने के लिए अर्जुन ने इस प्रकार आपकी भर्त्सना कर डाली है। एवं इस भर्त्सनारूप उपाय के माध्यम से अर्जुन ने अपनी भावुकतापूर्णा प्रतिज्ञामात्र पूरी की है ॥ (१६५)—सो भी राजन्! अर्जुन ने अपनी इच्छा से नहीं अपितु—"बड़े ज्येष्ठ पुरुषों का अपमान कर देना ही उनकी मृत्यु है" मेरे इस सुझाव के आधार पर ही (मच्छन्दात्) अर्जुन ने आपका अपमान कर डालने का साहस किया है। जिसमें वस्तुतः अर्जुन का कोई दोष नहीं है। यदि दोष है भी, तो मेरा ॥ (१६६)—इसलिए हे राजन्! हे महाबाहो युधिष्ठिर! आप मेरे, और पार्थ अर्जुन के दोनों के सत्यप्रतिज्ञासंरक्षणद्वारा कृत अपराध के लिए जो भी दण्ड–नियम करें, उसे अवनतशिरस्क बन कर हम दोनों सहन करने के लिए सन्नद्ध हैं ॥ (१६७)—**हे महाराज! हम दोनों आज आप के शरण में समागत हैं। आप हमें इस अपराध के लिए क्षमा करें। हम सर्वथा प्रणतभाव से आप से यह क्षमा–भिक्षा मांग रहे हैं** ॥ (१६८)—साथ ही आपको यह विश्वास दिला रहे हैं कि, कुरुक्षेत्र की समरभूमि अब अवश्य राधेय कर्ण के शोणित का पान कर तृप्त बनेगी। यह कृष्ण आज आप से यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा है कि, (जिस कर्ण के माध्यम से ऐसा विषम वातावरण बन गया है वह) कर्ण आज अवश्य ही मारा जायगा। (१६९)—आपकी जैसी भी इच्छा है, तदनुसार ही आप समझ लीजिए कि, अब कर्ण की जीवनलीला समाप्त हो गई है ॥

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार भगवान् कृष्ण के सर्वथा विनयभावापन्न उक्त वचन सुन कर धर्म्मराज युधिष्ठिर (१७०)—सहसा सम्भ्रम में पड़ गए (कुण्ठित से बन गए) सहसा आगे बढ़े। एवं प्रणतभावापन्न वासुदेवकृष्ण को उठा लिया, इनके सम्मुख हाथ जोड़ कर प्रणतभाव से यह कहने लगे कि—

(१७१)—भगवन् ! आपने जैसा अभी जो कुछ कहने का अनुग्रह किया, वास्तव में यह सब कुछ मेरा अतिक्रम ही मान लें भगवन् । हे गोविन्द ! आपने आज इस युधिष्ठिर को सचमुच में अपना लिया है । हे माधव ! आज आपने इसे वास्तव में पापकर्म्म से बचा लिया है ॥ (१७२)–हे अच्युत ! आज आपने हम पाण्डवों का इस घोरकर्म से सन्त्राण कर लिया है । आपको अपना संरक्षक प्राप्त कर हम दोनों आज इस महा भयानक दुष्कर्म्मसागर से पार हो गए हैं ॥ (१७३)—**सर्वथा अज्ञानविमोहित हम** दोनों एकमात्र आपकी निष्ठाबुद्धिबलरूपा नौका को प्राप्त कर दुःखशोक–परिपूर्ण इस पार्थिव अर्णवसमुद्र–दुस्तरसमुद्र से हमने सन्तरण कर लिया है ॥ (१७४)—न केवल हम दोनों ही, अपितु सम्पूर्ण सेना के साथ, अपने मन्त्रिगणों के साथ, किंवा सबके साथ हम इस दुःखार्णव में डूबते–डूबते एकमात्र आपके अनुग्रह से सुरक्षित बच निकले हैं । हे अच्युत भगवन् ! सचमुच आज पाण्डव आपको प्राप्त कर सनाथ हैं ।

(१७५)–(१७६)–(१७७)–(१७८)—सञ्जय कहने लगे कि, धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रीतिपूर्ण–विनय-भावापन्न–उक्त उद्गार सुन कर (युधिष्ठिर की ओर से तो भगवान् निश्चिन्त हो गए, किन्तु अभी एक उद्देश्य शेष रह गया । उस उद्देश्य को लक्ष्य बना कर) धर्म्मात्मा धर्म्मसंरक्षक यदुनन्दन गोविन्द के लिए अर्जुन से ओर भी कुछ कहना अनिवार्य्य बन गया । (हे धृतराष्ट्र ! पूर्व में यह कहा जा चुका है कि, अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए वासुदेव कृष्ण की प्रेरणा से युधिष्ठिर के प्रति परुषवाणी का प्रयोग करने के अनन्तर पार्थ अर्जुन उसी प्रकार उद्विग्न–क्षुब्ध–खिन्नमना बन गए थे, जैसे कि पापकर्म्माचरण के अनन्तर सात्त्विक मानव विमना बन जाया करता है । (अर्जुन इसी पाप से तो आत्महत्या के लिए सन्नद्ध हो पड़े थे । इसी सङ्कट से उन्मुक्त करने के लिए तो कृष्ण ने अर्जुन को यह आदेश दिया था कि, 'तू अपने मुख से अपनी बड़ाई कर । यही तेरा प्रायश्चित है' । तदनुसार ही अर्जुन ने किया था । इसी अवसर में सहसा युधिष्ठिर रुष्ट हो गए । उन्हें प्रणतभाव द्वारा प्रसन्न किया गया । इस प्रकार इस प्रसङ्ग में इन दोनों की सहज भावुकता के कारण परस्पर विरुद्ध ऐसे प्रसङ्ग उपस्थित हो गए कि, दोनों तुष्ट भी हुए, तो रुष्ट भी हुए । सर्वात्मना अभी दोनों का हृदयसम्मिलन नहीं हो सका । इस शेष उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ही सर्वप्रथम) अर्जुन को लक्ष्य बना कर मानों इसकी बालसुलभ सहज भावुकता का उपहास ही करते हुए वासुदेव कहने लगे—**'ततोऽब्रवीद् वासुदेवः प्रहसन्निव पाण्डवम्' (अर्जुनम्)॥**

वासुदेव कहने लगे कि, हे अर्जुन ! यह तो सम्भव ही कैसे था कि, तू अपने उत्तानित खड्ग से धर्म्म में व्यवस्थित धर्म्मराज युधिष्ठिर को अपनी उपांशुप्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए मार डालता । अतएव इस सम्बन्ध में खड्गवधप्रसङ्ग की उपेक्षा कर हमारे सुझाव के अनुसार 'त्वम्' इस अपमानात्मक सम्बोधन से तुमने युधिष्ठिर की गर्हणा करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पूरी की । इस प्रतिज्ञापूर्त्ति के अनन्तर तुमने यह अनुभव किया कि, अपने ज्येष्ठबन्धु का अपमान कर इस अर्जुन ने बहुत बड़ा पाप कर डाला है । इसी काल्पनिक आवेश से पुनः तू कश्मलभावापन्न बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ होकर आत्महत्या के लिए सन्नद्ध हो पड़ा ॥

(१७६)—पार्थ अर्जुन ! धर्म्मराज युधिष्ठिर को यदि वास्तव में खड्ग से ही तू मार डालता, तो उस दशा में तू कौनसा प्रायश्चित करता ?। इसीलिए तो हमने कहा है कि, सामान्यप्रज्ञ सामान्य मानवों के लिए धर्म्म का सूक्ष्मरहस्य दुर्विज्ञेय ही बना रहता है ॥ (१८०)—यदि तू अपनी **'धर्म्मभीरुता'** के आवेश से प्रतिज्ञापालन के लिए खड्ग से युधिष्ठिर का वध कर डालता, साथ ही प्रायश्चित्तस्वरूप तू स्वयं भी यदि अपनी कल्पना से आत्महत्या कर बैठता, तो कल्पान्तपर्य्यन्त उस असुर्य्य नरकगति में तुझे रहना पड़ता, जहाँ से पुनरावर्त्तन सम्भव नहीं है ॥ (१८१)—अस्तु, तुमने भावुकतावश अब तक जो कुछ जैसा कुछ किया, वह इस लिए क्षम्य है कि, हमारी प्रेरणा के अनुसार उस महत्पातक से बचे रहने के उपायों को तुमने मान्यता प्रनान कर दी। अब हमारी ओर से इस प्रसङ्ग में एक प्रेरणा और शेष रह गई है। वह यही है कि, यद्यपि हमारे अनुरोध से युधिष्ठिर ने वनगमन का संकल्प तो छोड़ दिया है। किन्तु वे अभी तुझ पर पूर्णरूपेण प्रसन्न नहीं हुए हैं। अब तेरा यही कर्म्म शेष रह जाता है कि, अपने प्रणतभाव से, विनयावनता वाणी से धर्म्मराज कुरुश्रेष्ठ उस युधिष्ठिर को प्रसन्न कर, यह मेरा अपना मन्तव्य शेष है—**'प्रसादय कुरुश्रेष्ठं-एतदत्र मतं मम'** ॥ (१८२)—सावधान ! यह प्रसाद-कर्म्म तुझे आत्मप्रवणलक्षणा-प्रपत्तिलक्षणा भक्ति के माध्यम से अन्तःकरण से ऋजुतापूर्वक करना है। युधिष्ठिर को जब तू इस प्रकार भक्तिपूर्वक प्रसन्न कर लेगा, तो जानता है तदनन्तर अपन क्या करेंगे ?। बस तत्काल अपन बहुत शीघ्र सूतपुत्र कर्ण के वध के लिए यहाँ से रथ पर चढ़कर चल ही तो पड़ेंगे÷ ॥ (१८३)—वहाँ चलकर क्या करेंगे ?, जानते हो तुम ?। नहीं, तो सुनो ! युद्धभूमि में तुम अपने सुतीक्ष्ण बाणों से कर्ण का वध कर डालोगे। और इस प्रकार मानार्ह धर्म्मराज युधिष्ठिर से तुम महदनुग्रह—महत्-प्रीति प्राप्त कर लोगे (युधिष्ठिर के अपमान का प्रायश्चित्त यह नहीं है कि, तुम आत्महत्या कर लो। जिस कर्ण के कारण ये सन्तप्त हुए हैं, अपमानित हुए हैं, जिस निमित्त को—कर्ण को—परोक्ष कारणता से तुमने निमित्त बनाते हुए युधिष्ठिर का अपमान कर डाला है, उस कर्ण का संहार ही इस अपमानरूप पाप का वास्तविक प्रायश्चित्त माना जायगा। वही तुम्हें आज करना है। किन्तु इससे पूर्व युधिष्ठिर को प्रसन्न कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर लेना है) ॥ (१८४)—हे महाबाहो अर्जुन ! यही मेरा इस अवसर के लिए सर्वथा उपयुक्त, एवं आवश्यक अभिमत है। ऐसा कर लेने पर ही, ऐसा करके ही तुम्हारी अभीष्टसिद्धि (कर्ण-संहार) शक्य बन सकेगी।

(१८५)—सञ्जय कहने लगे कि, हे महाराज धृतराष्ट्र ! (वासुदेव कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिरप्रसाद-प्राप्तिरूप प्राप्तकाल अनिवार्य्य कर्म्म की प्रेरणा प्राप्त कर) अर्जुन लज्जा से अवनतशिरस्क बनते हुए

÷ "मेरे राजा ! तुम मानलो मेरा यह कहना। देखो तो, फिर अपन साथ साथ उत्सव में चलेंगे, खेल देखेंगे" इत्यादि उपलालनभाव से ही तो भावुक के बालभाव की भावुकता सुरक्षित रहा करती है।

धर्म्मराज के चरणों में अपने आपको प्रणतभाव से समर्पित कर—(१८६)—भरतश्रेष्ठ धर्म्मराज के प्रति 'आप मुझ पर प्रसन्न हों, क्षमा करें मेरा अपराध' यह बार बार अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—

हे राजन्! धर्म्मकाम इस भीरु (धर्म्मभीरु)' अनुज अर्जुन ने आपके प्रति जो कुछ परुष कहने की धृष्टता की है, इसके लिए आप इस धर्म्मभीरु को क्षमा करें ॥

(१८७)-(१८८)—सञ्जय कहने लगे कि, **इस प्रकार धर्म्मराज युधिष्ठिर ने अपने अनुज धनञ्जय को, इस शत्रुहन्ता कनिष्ठ भ्राता को अविरल अश्रुपात* करते हुए जब अपने चरणों में पड़ा देखा तो, (सहज भावुक युधिष्ठिर ने सर्वात्मना विगलित होते हुए) अर्जुन को उठा लिया, वक्षस्थल से समन्वित कर लिया, एवं स्वयमपि युधिष्ठिर उच्चस्वर से रो पड़े ॥** (१८६)—चिरकाल पर्यन्त दोनों भ्राता दोनों से संश्लिष्ट बने रहते हुए रुदन करते रहे। दोनों अपनी मूर्खतापूर्णा भावुकता के लिए पश्चात्ताप अभिव्यक्त करते रहे। हे महाराज धृतराष्ट्र! इस प्रकार दोनों का आवेश-मनोमालिन्य इस रुदन से उपशान्त हो गया, एवं अन्ततोगत्वा दोनों परस्पर प्रीतियुक्त बन गए ॥ (१६०)—(दोनों के इस प्राप्तकाल सहज आवेश के सुशान्त होने पर) धर्म्मराज युधिष्ठिर अर्जुन का समालिङ्गन कर बड़े ही वात्सल्यप्रेम से मस्तकाघ्राण कर निरतिशय वात्सल्यप्रेम से संयुक्त बनते हुए स्वयं अपनी और अर्जुन की पूर्वभुक्ता, तथा वर्त्तमान परस्परात्यन्तविरुद्धा पूर्वापरस्थितियों के संस्मरण-दर्शन से पुनः पुनः विस्मय करते हुए अपने अनुज महेष्वास अर्जुन से कहने लगे कि—

(१६१)-(१६२)-(१६३)-(१६४)—हे महबाहो अर्जुन! (अब तुम्हें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि) सम्पूर्ण सेना के देखते देखते कर्ण ने अपने सुतीक्ष्ण बाणों से तुम्हारे इस ज्येष्ठ भ्राता के कवच--ध्वजा--धनुष--शक्ति--अश्व--सतूणीर बाणसमूह--काट फैंके। हे महेष्वास! मैं युद्ध में अपने आपको संभालूँ--इससे तो पहिले ही उस दुरात्मा कर्ण ने मुझे सम्पूर्ण युद्धपरिग्रहों से शून्य बना कर मुझे सर्वात्मना क्षत--विक्षत कर डाला। इस प्रकार युद्ध में कर्ण के उस प्रचण्ड रणकौशल को भलीभाँति जान कर मैं अपने अन्तःकरण में निरतिशयरूपेण सन्तप्त हो गया हूँ। मुझे अपना जीवित रहना भी रुचिकर प्रतीत नहीं हो रहा। अर्जुन! तुम्हें मेरी इस बात पर विश्वास कर लेना चाहिए कि, यदि तू उस अप्रतिम वीर कर्ण को युद्ध में न मार डालेगा, तो मैं अपने प्राण विसर्जित कर दूँगा। कर्ण की विद्यमानता में मेरे जीवित बने रहने का अर्थ ही क्या रह जाता है ॥

* यह है भावुकों की भावुकता के हृदयसम्मिलन का अन्तिम परिणाम। यदि दुर्भाग्य से भावुकों का परस्पर समन्वय नहीं होता, तो दोनों का सर्वनाश हो जाता है, दोनों ही दोनों के सर्वनाश में प्रवृत्त हो जाते हैं। यदि सौभाग्य से किसी नैष्ठिक के माध्यम से दोनों समन्वित हो जाते हैं, तो दोनों हीं विगलित होकर गले मिलकर रोने लगते हैं, जैसे कि भावुक बालक, एवं भावुक स्त्रियाँ।

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा उद्बुद्ध उपलालित अर्जुन (कर्णवध की प्रतिज्ञा से धर्म्मराज को निश्चिन्त बनाते हुए) कहने लगे कि—(१९५--१९६)—हे राजन् ! आपकी शपथपुरस्सर एकमात्र आपके ही आशीर्वाद के बल पर आपका यह अनुज प्रतिज्ञा कर रहा है कि, "भीमसेन, तथा नकुल--सहदेव के सहयोग से युद्धभूमि में आज मैं उस कर्ण का निश्चयेन वध करूँगा, जिसने आपको यों सन्तप्त किया है। मैं मर भले ही जाऊँ, किन्तु उसे भूमिसात् अवश्य कर दूँगा", यह प्रतिज्ञा--सत्यव्रतग्रहण--अपने गाण्डीवधनुष का स्पर्श करता हुआ मैं आपके सम्मुख व्यक्त कर रहा हूँ।

(१९७)—सञ्जय कहने लगे कि, सत्यप्रतिज्ञा से युधिष्ठिरराज को इस प्रकार सन्तुष्ट कर वासुदेव की ओर अभिमुख बनते हुए अर्जुन कहने लगे कि, हे कृष्ण ! मैं आज युद्ध में अवश्य ही कर्ण का संहार करूँगा, इसमें आप कुछ भी सन्देह न करें * ॥ (१९८) किन्तु इस कर्म्म में सफलता प्राप्त होगी एकमात्र आपके बुद्धिबल से ही। भगवन् ! आपके लिए मैं मङ्गलकामना कर रहा हूँ। आप वैसा अनुग्रह कीजिए, जिसके बल पर मैं उस दुरात्मा का संहार कर सकूँ ॥ सञ्जय कहने लगे कि–अर्जुन के इस प्रकार अनुनय करने पर वासुदेव पुनः अर्जुन से यों कहने लगे कि–(१९९–२००)—हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! हम मानते हैं कि, तुम महाबली कर्ण के संहार में समर्थ हो। किन्तु हे महारथ ! 'तुम युद्ध में अपने प्रतिद्वन्द्वी कर्ण का संहार किस कौशल से करोगे ?' इस मीमांसा के उत्तरदायित्त्व से पूर्णरूपेण तुम्हें परिचित हो ही जाना चाहिए। (क्योंकि कर्णसंहार कर डालना कोई बालकर्म्म नहीं है) ॥

---

*क्षण क्षण में आवेश, क्षण क्षण में शान्ति, पूर्वक्षण में आवेश, उत्तरक्षण में शान्ति, तदुत्तरक्षण में पुनः आवेश, पुनः प्रतिज्ञाघोषणा, शपथग्रहण, आदि सम्पूर्ण तात्कालिक भाव एकमात्र उस मानसिक अनुभूति के ही भावुकतापूर्ण दुष्परिणाम हैं, जिनका अन्त एकमात्र सर्वनाश को ही लक्ष्य बनाता है। अपनी केवल एक उपांशु प्रतिज्ञा, भावुक अर्जुन की केवल एक उपांशु प्रतिज्ञा के कारण ही तो आज सम्पूर्ण पाण्डव सर्वनाश के अतिथि बनने जा रहे थे। वह काण्ड जैसे--तैसे कृष्ण के निष्ठाबल से अभी पूर्ण–रूपेण सुशान्त भी नहीं होने पाया था कि, दोनों भावुकों ने पुनः आवेश में आकर नवीन प्रतिज्ञाएँ कर डालीं। एक ने (युधिष्ठिर ने) यह प्रतिज्ञा कर डाली कि—(१९३)—**"यदि तू आज युद्ध में कर्ण का संहार न करेगा, तो मैं अपने प्राण ही छोड़ दूँगा"**। उधर भावाविष्ट अर्जुन पुनः यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि--**"मैं आपके चरण स्पर्श कर यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूँ कि, आज कर्ण का संहार किए बिना मैं युद्ध से ही परावर्त्तित नहीं होऊँगा"**। भगवान् अनुभव कर रहे थे भावुकों की भावुकतापूर्ण इस भावुक प्रतिज्ञा के भावी परिणाम का। किन्तु यह अवसर नहीं था, इस सम्बन्ध में उद्बोधन कराने का। यहाँ तो भगवान् ने केवल—**'कथं भवान् रणे कर्णं निहन्यात्'** इत्यादि रूप से परोक्षरूप से अर्जुन का ध्यान इस भीषण प्रतिज्ञा के भावी भीषण दुष्परिणाम की ओर आकर्षितमात्र कर दिया है। कर्ण का वध स्वयं भगवान् भी एक महती समस्या मान रहे थे। और यह यथार्थ है कि, कर्ण के अमुक शरप्रहार के समय यदि भगवान् रथ को भूमि में निमज्जित न कर देते, तो तत्काल कर्णद्वारा प्रक्षिप्त शर अर्जुन का

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार (परोक्षरूप से अर्जुन का उद्बोधन कराने के अनन्तर) वासुदेव कृष्ण अर्जुन से कहने लगे कि, (२०१)—हे अर्जुन ! कर्णशराभिताप से सन्तप्त, कर्ण की ओर से पाण्डवविजय में सशङ्कित भयसन्त्रस्त युधिष्ठिर को तुम सान्त्वना प्रदान करो, एवं दुरात्मा कर्ण के संहार के लिए इस ज्येष्ठ महात्मा पुरुष का आशीर्वाद प्राप्त करो ॥ (२०२)—अर्जुन ! तुम्हें इस प्रकार–इस कौशल से–युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करना है कि,—"हे पाण्डुनन्दन धर्मराज ! जब मैंनें और कृष्ण ने युद्धभूमि में यह सुना कि, आप दुरात्मा कर्ण के शरों से उत्पीड़ित होकर विश्राम करने चले गए हैं, तो हम दोनों को बड़ी चिन्ता हुई। तत्काल युद्ध को छोड़कर हमें सर्वप्रथम आपके समीप आपकी कुशलक्षेमजिज्ञासा के लिए आजाना पड़ा (नहीं तो, हम कर्ण का संहार करके ही आपके दर्शन करते) ॥ (२०३)—हे राजन् ! आप अपनी सहज विशाल दृष्टि से हम पर अनुग्रह करें। हमें अनुग्रहपूर्वक अपनावें। आप हमें जयलाभ का आशीर्वाद प्रदान करें"। (अर्जुन ने इसी प्रकार बीभत्सु (भयत्रस्त) युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान की। इस सान्त्वना से निर्भय बनते हुए युधिष्ठिर गद्गद होकर अर्जुन से कहने लगे कि—)

(२०४)—अपने ज्येष्ठभ्राता के आक्रोश से भयत्रस्त बने हुए हे पार्थ अर्जुन ! आओ ! आओ !! मेरा समालिङ्गन करो पाण्डुपुत्र !!! मैंनें तुम्हारी भर्त्सना नहीं की है। अपितु जिससे तुम में शौर्य्य का उदय हो, वैसी हितवाणी का ही प्रयोग किया है। तुम भी अपने आक्रोश को भूल जाओ, एवं मैं भी अपनी गर्हणा को विस्मृत कर देता हूँ ॥ (२०५)—मैं जानता हूँ अर्जुन तुम्हारे मनोभावों को,

---

— १०८ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश —

शिरश्छेद कर डालता। एवमेव यदि कौशलपूर्वक भगवान् एकपुरुषघातिनी शक्ति से घटोत्कच का संहार न करवा डालते, तो कर्ण निश्चयेन अर्जुन की जीवन–लीला समाप्त कर देते। अर्जुन की अपेक्षा कर्ण का पराक्रम कैसा और क्या था ?, इसके ज्ञाता तो भगवान् ही थे। अतएव इस वर्त्तमान क्षोभात्मक वातावरण के सुशान्त होने के अनन्तर भगवान् को कर्ण, तथा कर्ण के त्रैलोक्याप्रतिम सारथी शल्य का स्वरूप-परिचय कराते हुए अर्जुन का उद्बोधन कराना पड़ा है, जैसाकि तत्प्रकरण के निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से प्रमाणित है —

अवश्यं तु मया वाच्यं यत् पथ्यं तव पाण्डव !
मावमंस्था महाबाहो ! कर्णमाहवशोभिनम् ॥
त्वत्समं–त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम् ॥
सर्वैरवध्यो राधेयो देवैरपि सवासवैः ॥
अशक्यः सरथो जेतुं सर्वैरपि युयुत्सुभिः ॥

इत्यादि

वास्तविक शौर्य्य को। हे धनञ्जय ! कर्ण पर विजय प्राप्त करो। मैंनें आवेश में आकर तुम्हें जो कुछ कटु-वचन कह दिए, उनके प्रति रोष मत करो ॥

(२०६–२०७)—सञ्जय कहने लगे कि, (युधिष्ठिर के स्नेहालिङ्गन से वस्तुगत्या अपने आक्रोश को विस्मृत करते हुए) अर्जुन शिरसा प्रणत बन गए। दोनों हाथों से ज्येष्ठभ्राता के चरण पकड़ लिए। इसे इस प्रकार प्रणत देख कर युधिष्ठिर ने उठा लिया, अपने से समालिङ्गित कर लिया, मस्तकाघ्राण-पूर्वक पुनः युधिष्ठिर कहने लगे कि—(२०८)—हे धनञ्जय ! हे महाबाहो ! तुमने मुझे आज सर्वात्मना सम्मानित कर दिया है। मेरा तुम्हें यही आशीर्वाद है कि, तुम युद्ध में यश प्राप्त करो, शाश्वत विजय प्राप्त करो ॥

(२०९)—(ज्येष्ठभ्राता के आशीर्वाद से अपने आपको कर्णवध के लिए सर्वसमर्थ अनुभव करते हुए) अर्जुन कहने लगे कि, हे धर्मराज ! अपने आसुरबल से बलगर्वित बने हुए पापात्मा पापकर्म्मा राधेय कर्ण को उसके पुत्रादि सहित मैं आज निःशेष कर डालूँगा ॥ (२१०)—जिन सुतीक्ष्ण शरों से उस दुरात्मा ने दृढ़रूप से धनुष तान कर आपको पीड़ित किया है, उस कुकर्म का फल–दारुणफल--आज मेरे द्वारा युद्धभूमि में कर्ण अवश्य प्राप्त कर लेगा ॥ (२११)—हे महीपते ! मैं तो आज इसी समय आपके कर्ण का संहारकर्त्तारूप से ही दर्शन कर रहा हूँ। (आप समझ लीजिए–अर्जुन ने कर्णसंहार कर दिया ॥ (२१२)—आप यह विश्वास रक्खें कि, संग्राम में कर्ण का संहार किए बिना आज अर्जुन विनिवर्त्तित नहीं होगा, यह सत्यप्रतिज्ञा मैं आपके चरणों का स्पर्श करके कर रहा हूँ ॥

सञ्जय कहने लगे—(२१३)—कि, अर्जुन की इस प्रकार की सत्यप्रतिज्ञा सुनकर सुमना–स्वस्थ बनते हुए युधिष्ठिर किरीटी अर्जुन को लक्ष्य बनाकर बृहत्तर (महत्त्वपूर्ण) आशीर्वचन अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—मैं तुम्हारे अक्षय यश की कामना कर रहा हूँ, तुम्हारे जीवन की कामना कर रहा हूँ, तुम युद्ध में सदा जयलाभ करो, तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जाएँ ॥ (२१४)—मङ्गलगमन करो मेरे प्रिय-अनुज अर्जुन, आकाश के देवता तुम्हारे लिए ऋद्धि–वृद्धि–समृद्धिप्रदाता बनें, मैं जैसी (कर्णवध) कामना कर रहा हूँ, तुम्हारे लिए वही कामना सफल हो। शीघ्र युद्ध के लिए प्रस्थान करो, पाण्डववंश की सर्वसमृद्धि के लिए समरभूमि में कर्ण का उसी प्रकार संहार करो, जैसे कि देववंश की समृद्धि के लिए तुम्हारे अंशी इन्द्र ने वृत्रासुर का संहार किया था ॥

—श्लोकार्थसमन्वय उपरत—

वीर–करुणा–अद्भुत-हास्य–बीभत्स–भयानक–आदि साहित्योपवर्णित मनोनिबन्धन, अतएव भावुकतापूर्ण रसों से सम्बन्धित उक्त रोमहर्षजनक तृतीयोदाहरणात्मक महाभारतप्रसङ्ग में पाण्डुपुत्रों की भावुकता का जैसा स्वरूपविश्लेषण हुआ है, वह सम्पूर्ण भावुक–मानवसमाज के उद्बोधन का मूलस्तम्भ माना जा सकता है। भावुकताप्रधान वर्त्तमान भारतीय हिन्दूमानव–जीवन के वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक, एवं राष्ट्रिय, सभी तन्त्रों में तृतीयोदाहरणोपवर्णिता भावुकता सर्वात्मना प्रधान

बनी हुई है। स्वयं एकाकी व्यक्ति इसी भावुकता के अनुग्रह से अहोरात्र में अनेक बार विविध रसों का अनुगमन किया करता है। कभी अपनी भावुकता से वह अपने आपको वीर मानने लगता है, कभी करुणा का अनुगामी बन जाता है, कभी आश्चर्य--विभोर हो जाता है, कभी अट्टाट्टहास में निमग्न बन जाता है, तो कभी भयानक निष्ठुर–निर्दय बन जाता है। तत्त्वतः उसमें कोई भी स्थिरभाव है ही नहीं। अपनी मानसिक कल्पनामात्र से कल्पनासाम्राज्य में विचरण करता हुआ एक प्रमादी की भाँति–स्वप्नाभिभूत * स्वप्नद्रष्टा की भाँति स्वयं ही अपनी कल्पना के बल पर अपने मनोराज्य में सम्भव–असम्भव–सब-कुछ निर्म्मित करता रहता है, एवं उत्तर क्षण में हीं स्वयं ही सब--कुछ विनष्ट करता रहता है। आद्यन्तरूप से आपादमस्तक अस्थिर–अशान्त–उद्विग्नमना व्यक्ति का क्षण–क्षण में परिवर्त्तित दृष्टिकोण इसे कदापि निश्चित स्थिर दृढ़ लक्ष्य पर आरूढ़ नहीं रहने देता। कभी धर्म्माभिनिवेश, तो कभी कामाभिनिवेश। कभी अर्थाभिनिवेश, तो कभी आत्मशान्तिलक्षण मोक्ष का अन्वेषणाभिनिवेश। कभी महादुःखी, तो कभी हर्षातिरेक में प्रमत्तोन्मत्त। कभी महा उदार, तो कभी कृपणश्रेष्ठ। कभी हासपरायण, तो कभी आक्रोशपरायण। इत्यादि इत्यादि रूपेण क्षणे तुष्टाः—क्षणे रुष्टाः रूप से सदा अपने मनोभाव के परिवर्त्तनात्मक भावुकताचक्र से चक्रायित मानव का व्यक्तितन्त्र वर्त्तमान युग में सर्वथा अश्रुपूर्णाकुलेक्षण ही बन रहा है।

ठीक यही स्थिति आज भारतीय मानव के पारिवारिक जीवन की है। व्यक्तियों के समूह का ही नाम तो 'परिवार' है। यह ठीक है कि, बालक, स्त्री, नववयस्क तरुण पुत्र, कन्या, आदि सहजभावुक अनेक व्यक्तियों का पारिवारिक सीमा में समावेश रहता है। अतएव सहजरूप से पारिवारिक सीमामण्डल में अनेक प्रकार के उच्चावचभावों का समन्वय प्राकृतिक है, मान्य है। किन्तु प्रश्न है उस पारिवारिक कुलज्येष्ठ पुरुष के सम्बन्ध में, जिस पर समस्त परिवार का उत्तरदायित्त्व अवलम्बित माना गया है भारतीय कौटुम्बिक व्यवस्थातन्त्र में। यदि नेता नैष्ठिक है, तब तो पारिवारिक भावुक व्यक्तियों का सम-समन्वयपूर्वक सञ्चालन होता रहता है, पारिवारिक व्यवस्थातन्त्र सुसमन्वित बना रहता है। दुर्भाग्यवश यदि पारिवारिक कुलज्येष्ठ केवल अवस्था से ही पलितशिरस्क बनता हुआ अपने आपको सर्वज्येष्ठ–सर्वश्रेष्ठ-

---

*** न तत्र रथाः, न रथयोगाः, न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान्–रथयोगान्–पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति। अथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति। अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्त्ता। तदेते श्लोका भवन्ति—**

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाशकीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।१०,११,।

मानने–मनवाने की भयावह भ्रान्ति करता हुआ, अपने आश्रित पारिवारिक व्यक्तियों की परस्परात्यन्त-विरुद्धा सहज भावुकता के समन्वय में असमर्थ बना रहता हुआ स्वयं भी पारिवारिक भावुक व्यक्तियों की गणना में समाविष्ट हो जाता है, तो तथाविध परिवार सर्वात्मना अव्यवस्थित–विशकलित–उच्छृंखल–अमर्य्यादित बन जाता है। बाल–स्त्रीवर्ग की भाँति स्वयं भी क्षणे क्षणे अश्रुपातकर्म्म में कुशल, अस्थिर-प्रज्ञ, केवल अपनी वयोऽनुगता ज्येष्ठता के मदगर्व से उन्मत्त, अपने आश्रितों की भावुकता का केवल दोषमीमांसक ऐसा कुनायक भावुक मानव जहाँ पारिवार का सञ्चालक बन जाता है, वहाँ वैसे व्यक्तिस्वातन्त्र्य का प्रादुर्भाव सहज बन जाता है, जिससे परिवार का सर्वनाश विनिश्चित है। ऐसे पलितशिरस्क भावुक नायक की तत्पत्नी–पुत्र–पौत्र–अनुचर–अनुजादि यच्चयावत् पारिवारिक भावुक व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षा कर दी जाती है। न वह सुखी शान्त रहता, न तदाश्रित सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पारिवारिक अन्य व्यक्ति। यही है नैष्ठिक नायक के निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व से वञ्चित केवल भावुकताप्रधान वर्त्तमानयुग के भारतीय हिन्दू–मानव के पारिवारिक जीवन के इतिहास की उद्वेगकरी रूपरेखा।

परिवारसमष्टि का ही तो नाम समाज है। जब परिवार ही निष्ठाबल से शून्य--वञ्चित है, तो तत् समष्टिरूप समाज–जाति में निष्ठा का उदय कैसे सम्भव बन सकता है? लोकैषणा–मात्रानुगत समाज-नेतृत्त्व की वासना का साम्राज्य, किन्तु निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्त्व का आत्यन्तिक अभाव। अतएव अनेक भावुक नायकों का समाज पर आधिपत्य। अतएव च सामाजिकतन्त्र का स्वरूपोच्छेद। भारतीय पञ्चायती व्यवस्था उस नैगमिक 'पर्षत्' व्यवस्था से समतुलित थी, जो व्यवस्था समन्वयपूर्वक समाजव्यवस्था के उत्तरदायित्त्व का सञ्चालन कर सकती थी, एवं–पञ्चपरमेश्वररूप से जिस सामाजिक व्यवस्था के मूल में–**'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्'** रूप सर्वभूतहितरतिलक्षण ईश्वरनिबन्धन 'धर्म्म' मूलाधार बना हुआ था। केवल लोकैषणाकामुक समाजसञ्चालक भावुक समाजनेताओं के अनुग्रह से धर्म्मनिष्ठाशून्या समाज-व्यवस्था अपने सामाजिक आदर्श से स्खलित होती हुई केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधना का ही निमित्त बनी रह गई है, जिसकी प्रतिक्रिया ने हीं भारतीय नैगमिक सहज जीवन से एकान्ततः विरुद्ध--ईश्वरभाव-बहिष्कृत सर्वस्वघातक उस 'समाजवाद' नामक कल्पित वाद को जन्म दे डाला है, जिसके मूल में प्रच्छन्नरूप से स्वार्थसंसाधनमूला व्यक्तिगता लोकैषणा ही पुष्पित--पल्लवित हो रही है, एवं यही वर्त्तमान भारतीय हिन्दूमानवसमाज की रूपरेखा का प्रासङ्गिक दृष्टिकोणस्वरूपविश्लेषण है।

अनेक समाजों की समष्टि को ही तो राष्ट्रतन्त्र, किंवा सत्तातन्त्र माना गया है। भावुकतापूर्ण व्यक्तितन्त्र, तत्-समष्टिरूप भावुकतासमर्थक समाजतन्त्र, तत्समष्टिरूप तथाविध ही राष्ट्रतन्त्र। इस परम्परा से ही राष्ट्रतन्त्र की रूपरेखा, वर्त्तमान सत्तातन्त्र की यशोगाथा, एवं भारतीय मानव की सत्तातन्त्रगाथा सर्वात्मना विस्पष्टतमरूप से अभिव्यक्त बन रही है, जिसकी आलोचना–प्रत्यालोचना की योग्यता से हमारे जैसे नितान्त भावुक का संस्पर्श भी नहीं है। हाँ, इस जिज्ञासा का सम्यक्–समाधान सदा सर्वत्र सब अवस्थाओं में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–सार्वभौम-सर्वसत्तासमर्थ–गणतन्त्रात्मक–भारत के सत्तातन्त्र से सम्यगुरूपेण सभी प्राप्त कर सकते हैं, कर रहे हैं, करते रहेंगे यावच्चन्द्रदिवाकरौ?

तात्पर्य्य निवेदन का यही है कि, महाभारतयुगानुगत तृतीयोदाहरण वर्त्तमान भारत के भारतीय हिन्दूमानव की सहज भावुकता का सर्वात्मना समर्थक बन रहा है। पाण्डवपरिवार का समस्त उत्तर-दायित्त्व जिस कुलज्येष्ठ–श्रेष्ठ धर्म्मराज युधिष्ठिर से सम्बन्धित था, वे नितान्त भावुक थे। यदि पाण्डुराज के पुण्य से इस पाण्डवपरिवार का नेतृत्त्व एकान्तनैष्ठिक भगवान् कृष्ण ग्रहण न करते, तो पुराणपुरुष भगवान् व्यास को अपने इतिहासग्रन्थ की सम्पूर्ण दिशा ही आमूलचूड़ परिवर्त्तित कर देनी पड़ती। एक भावुक (अर्जुन) का उद्बोधन कराया जाता है, तो दूसरा भावुक (युधिष्ठिर) उत्तेजित हो पड़ता है। वह भावुक उत्तेजित हो पड़ता है, जिस पर समस्त पाण्डवपरिवार का उत्तरदायित्त्व अवलम्बित है। छोटों की भूल क्षम्य है, किन्तु बड़ों की भूल कदापि इसलिए क्षम्य नहीं मानी जा सकती कि, **"बड़ों की नादानी ही बच्चों की शैतानी है"** इस लोकसूत्रानुसार बड़ों की भूल से ही छोटे भूल किया करते हैं। छोटे की भूल का उत्तर बड़े का भूल करना नहीं है, अपितु छोटे को बड़ा मान लेना ही छोटे की भूल का सुधार करना है, एवं बड़े का अपना स्वरूपसंरक्षण करना है। दुर्भाग्यवश बड़े युधिष्ठिर, छोटे अर्जुन, दोनों भावुकता के आवेश में भूलपरम्परा के सर्जन में आत्मविस्मृत बन रहे थे। एवं कृष्ण अपने निष्ठाबल से पदे पदे इनका संरक्षण कर रहे थे। यदि अतिमानव साक्षात् पूर्णेश्वर यदुनन्दन प्रणतभाव के द्वारा भावुक युधिष्ठिर की उत्तेजना शान्त न कर देते तो, निश्चयेन युधिष्ठिर अरण्य में कहीं भी मर-खप जाते। तदनुगामी अर्जुन भी निःशेष बन जाते। भीम युद्ध करते करते युद्ध में मर जाते, अथवा तो इतस्ततः भटकते रहते। नकुल--सहदेव को कौरवसेना इस असहायावस्था में जीवित छोड़ती ही कैसे। द्रौपदी का जीवन स्वतः ही समाप्त बन जाता। माता कुन्ती का निधन तो सहज बन ही जाता। इस प्रकार कैसा दुष्परिणाम घटित हो जाता इस विषमप्रसङ्ग में, यदि वासुदेव पाण्डुपुत्रों की इस भावुकता का उपशमन न करते तो ? तदित्थं महासन्दर्भात्मक यह तृतीयोदाहरण पाण्डवों की सहज भावुकता का सर्वात्मना समर्थक बनता हुआ प्रश्नकर्त्ता भावुक अर्जुन का अवश्य ही समाधान कर रहा है। और इस समाधान के साथ ही नितान्त भावुक अर्जुन की अस्थिरप्रज्ञा से पुनः यह प्रश्न कर ही सकता है कि,– अर्जुन ! इस उदाहरणस्वरूपविश्लेषण के अन्तर भी क्या तुम अपने आपको नैष्ठिक मानने--मनवाने की भ्रान्ति कर सकते हो ?। कदापि नहीं।

—३—

(१८)—पाण्डवों की भावुकता का चतुर्थ-पंचम-षष्ठोदाहरण—

सुनते हैं, सदा सर्वदा इतस्ततः परिभ्रमणशील धर्म्मोद्बोधक नारदमुनि एक बार पाण्डुपुत्रों के राज्य में पधारे। आतिथ्य-स्वीकारानन्तर प्रासङ्गिक उद्बोधन कराते हुए नारद ने--**'तिलोत्तमार्थं संक्रुद्धावन्योऽन्य-मभिजघ्नतुः'** इत्यादि पुरातन ऐतिहासिक उदाहरण के माध्यम से—**"यथा वो नात्र भेदः स्यात्–सर्वेषां द्रौपदीकृते ! तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत् प्रियमिच्छत"** इत्यादि रूप से द्रौपदी के सम्बन्ध में परस्पर पाँचों भ्राताओं को सदा सौहार्द सुरक्षित रखने का, कभी कलह न करने का आदेश दिया। इसी

आदेश के आधार पर ततकाल इस दिशा में भावावेश में आकर ये भावुक पाण्डव परस्पर इस प्रतिज्ञा में आबद्ध हो गए थे कि,—"एक भ्राता के सान्निध्य में समुपस्थिता द्रौपदी के एकान्त निवास में यदि दूसरा भ्राता भ्रान्तिवश चला जायगा, तो उसे द्वादश (१२) वर्षपर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यव्रतपूर्वक बनवास का अनुगमन करना पड़ेगा*"। प्रतिज्ञा की अवधि को, तथा 'ब्रह्मचर्य्य' व्रत को लक्ष्य बनाइये। कल्पना कीजिए, यदि युधिष्ठिर–भीम–अर्जुन--, तीनों में से किसी एक से भी वैसी भूल हो जाय, तो राज्यतन्त्रानुगत सत्तातन्त्र की व्यवस्था पर कैसा प्रभाव हो ?। प्रायश्चित्त के धर्म्मशास्त्रसम्मत और भी अन्यान्य विविध प्रकार थे। क्या उनके माध्यम से प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती थी ? किन्तु इन भावुकों को उस अवसर पर यह समझाता कौन कि, श्रीमन् ! बारह वर्ष की अवधि के नियमन से सत्तातन्त्र में विप्लव उपस्थित हो जायगा। हाँ, भगवान् कृष्ण अवश्य ही इस प्रतिज्ञा की अवधि में संशोधन करवा सकते थे, अथवा तो अन्य प्रायश्चित्त-विधान के माध्यम से उनकी इस तात्कालिक भावुकता का समाधान कर सकते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय कृष्ण द्वारिका विराज रहे थे। प्रतिज्ञा कर ही तो ली गई। आनृशंस–धर्म्मसंरक्षण की दृष्टि से अवश्य ही प्रतिज्ञा अभिनन्दनीया मानी जायगी। किन्तु 'अवधि' की दृष्टि से तो प्रतिज्ञा को नितान्त भावुकतापूर्णा ही कहा जायगा और इस भावुकप्रतिज्ञा को ही पाण्डवों की भावुकता का चतुर्थ उदाहरण माना जायगा।

प्रतिज्ञा केवल 'प्रतिज्ञा' रूप से ही सुरक्षित न रही। अपितु भावुक अर्जुन के द्वारा एक वैसे प्रसङ्ग को लक्ष्य बनाकर प्रतिज्ञा कार्य्यरूप में भी परिणत करदी गई, जिस प्रसङ्ग का आपद्धर्म्मरूप से शास्त्र–दृष्ट्या समन्वय शक्य बन रहा था। एक दुष्ट तस्कर ने ग्रामवासी किसी ब्राह्मण की कुछ एक गाएँ छीन लीं। इस गोधन के अपहरण से ब्राह्मण क्रोधावेश से मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा से जाग्रत होने पर ब्राह्मण विलाप करता हुआ, साथ ही क्षतात्त्राण करने वाले पाण्डव क्षत्रियों के प्रति परुषवाक् का (आक्रोश–पूर्वक) प्रयोग करता हुआ खाण्डव प्रस्थ आया। यह सम्पूर्ण स्थिति अर्जुन ने लक्ष्य बनाई। अर्जुन के शस्त्रास्त्र संयोगवश उस शालाकक्ष में रक्खे हुए थे, जहाँ युधिष्ठिर–द्रौपदी के साथ स्नेहालाप में तल्लीन थे। अर्जुन, भावुक अर्जुन समस्या की मीमांसा में तल्लीन बने रहे कुछ समय पर्य्यन्त। अनन्तर

---

* वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ॥
'समयं' चक्रिरे राजंस्तेऽन्योऽन्यवशमागताः ॥
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजसः ॥१॥
"द्रौपद्या नः सहासीनानन्योऽन्यं योऽभिदर्शयेत् ॥
स नो द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत्" ॥२॥
—महाभारत, आदिपर्व्व २१२ अ० २८, २९ श्लोक।

सहसा शालाकक्ष में चले ही तो गए। शस्त्र उठाया, तस्कर का वध हुआ, ब्राह्मण को उसका गोधन प्राप्त हुआ। सर्वं सुस्थम्।

किन्तु इस पुण्यकर्म्म के अनन्तर परावर्त्तित होते ही अर्जुन ने ज्येष्ठभ्राता से तत्प्रतिज्ञानुसार १२ वर्षपर्य्यन्त **'ब्रह्मचर्य्य'** पूर्वक वननिवास-परिभ्रमण की आज्ञा माँग ही तो ली। सहसा युधिष्ठिर स्तब्ध होगए, और कहने लगे, अर्जुन ! तुमने कोई अधर्म्म नहीं किया है। केवल पुण्यकर्म्म के लिए शस्त्र-मात्रग्रहण किए हैं, जिसका तत्प्रतिज्ञा से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोकदृष्टि से भी-ज्येष्ठपुरुष ऐसी दशा में कनिष्ठ पुरुष के एकान्तनिवासगृह में जाता हुआ अवश्य ही अधर्म्मभाक् माना जासकता है। किन्तु कनिष्ठ यदि ज्येष्ठ के आवासगृह में चला जाय, तो इसमें उसका कोई अधर्म्माचरण नहीं है। बहुत समझाया धर्म्मभृतांवरिष्ठ धर्म्मराज ने। किन्तु भावुक अर्जुन- **'मेरी प्रतिज्ञा सत्य है, मैं धर्म्म को धोखा नहीं दे सकता'** इस प्रकार अपना धर्म्माभिनिवेश अभिव्यक्त करते हुए अनिच्छन् युधिष्ठिर से आज्ञा प्राप्त कर वन में चले ही तो गए। यही पाण्डवों का पाँचवाँ भावुकतोदाहरण माना जासकता है।

इसी सम्बन्ध में अर्जुन की निष्ठा का आगे चल कर जिस प्रकार स्खलन होता है, वह भी एक प्रकार से भावुकता का ही उदाहरण बन रहा है। ब्रह्मचर्य्यव्रतपूर्वक यत्र-तत्र वनविचरण करते हुए सत्य-प्रतिज्ञ अर्जुन के साथ नागराजकन्या अप्रतिम सुन्दरी 'उलूपी' से साम्मुख्य हो जाता है। साधारण भावुक प्राणी (अर्जुन) का एक असाधारण भावुक-जन्मजात भावुक-प्राणी (उलूपी) से समसाम्मुख्य हो पड़ता है। उलूपी ज्यों ज्यों पत्नीव्रत की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करती है, त्यों त्यों **'ब्रह्मचर्य्यानुगता'** प्रतिज्ञा के माध्यम से अर्जुन अपनी निष्ठा पर सुदृढ़ रहने का प्रयत्न अभिव्यक्त करने लगते हैं। अन्ततोगत्वा भावुकश्रेष्ठा उलूपी की प्रतिद्वन्द्विता में सामान्य भावुक अर्जुन परास्त हो जाते हैं। युधिष्ठिर के आग्रह की **'न व्याजेन धर्ममाचरेत्'** घोषणा से उपेक्षा कर वनगमन करने वाले अर्जुन उलूपी के **"वने चरेद्-ब्रह्मचर्य्य—इति वः 'समयः' कृतः। तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योऽन्यस्य प्रवासनम्"** इस तर्काभासमात्र से प्रभावित अर्जुन ब्रह्मचर्य्यव्रत से उन्मुख हो जाते है। क्या यहाँ अर्जुन को **'न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्'** यह सत्त्वभाव स्मृत न हुआ ? ब्रह्मचर्य्यात्मक सत्यप्रतिज्ञांश को-**'वह प्रतिज्ञा तो केवल द्रौपदी से सम्ब-न्धित है'** उलूपी के इस तर्काभास से विस्मृत कर देने वाले दृढ़प्रतिज्ञ अर्जुन की भावुकता का क्या यह षष्ठ उदाहरण नहीं माना जासकता ?। अवश्य माना जासकता है, माना जाना चाहिए, माना गया है स्वयं पुराणपुरुष के शब्दों द्वारा।

उलूपी-कथा के समाप्त होने के अनन्तर उलूपी से वर प्राप्त कर* विविध तीर्थों में भ्रमण करते हुए अर्जुन मणिपूरेश्वर चित्रवाहन राजा के अतिथि बनते हैं, जिनकी 'चित्राङ्गदा' नामकी चारुदर्शना

*** आगतस्तु पुनस्तत्र गङ्गाद्वारं तया सह ॥**
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ॥१॥
दत्त्वा वरमजेयस्त्वं जले सर्वत्र भारत ! ॥
साध्या जलचराः सर्वे भविष्यंति न संशयः ॥२॥

सुन्दरी कन्या से अर्जुन प्रभावित हो जाते हैं। उलूपी के सम्बन्ध में तो फिर भी अर्जुन को आरम्भ में अपने ब्रह्मचर्य्यव्रत का संस्मरण हो पड़ा था। किन्तु यहाँ तो स्वयं अर्जुन—**'देहि मे खल्विमां राजन्! क्षत्रियाय महामते'** इत्यादि रूप से प्रतिज्ञा का सर्वात्मना विस्मरण कर स्वयं ही प्रार्थयिता बन जाते हैं। इन्हीं से 'बभ्रुवाहन' नामक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता में अर्जुन युद्धानन्तर युधिष्ठिर के द्वारा विहित अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में मूर्च्छित हो जाते हैं, एवं बभ्रुवाहन शान्त हो जाते हैं। चित्राङ्गदा के विलाप करने पर सहसा भूगर्भ से नागकन्या उलूपी विनिर्गत होती है, एवं 'सञ्जीवनमणि' संस्पर्श से इस सङ्कट का निवारण करती है। (देखिए, महाभारत आश्वमेधिकपर्व ७४ से ८१ अध्याय पर्य्यन्त)। इसी प्रसङ्ग को लक्ष्य में रख कर ' शान्तं पापम् ' रूप से जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं, उन्हें हम भी 'आलप्यालम्' ÷ रूप से उपेक्षणीय हीं मान लेते हैं।

—४, ५, ६,—

(१६)—पाण्डवों की भावुकता का ससमोदाहरण—

एकादश महारथियों के सम्मिलित प्रयासात्मक क्रूर–जघन्य–क्षात्रधर्म्मविरुद्ध भीषण आक्रमण से आक्रान्त, द्रोणाचार्यद्वारा विरचित अभेद्य चक्रव्यूह के निबिड़ सीमापाश में आबद्ध वीरपुङ्गव षोडशवर्ष-वयस्कमात्र बालयोद्धा बालसूर्य्य अर्जुनपुत्र सौभद्रेय अभिमन्यु निधनावस्था को प्राप्त होते हुए अपनी अमर यशोगाथा व्यासदेव के भूर्जपत्रों पर उनकी स्वर्णलेखिनी से गणपतिमाध्यम से समङ्कित करवा जाते हैं। इस अप्रत्याशित घटना से सभी पाण्डव, विशेषतः अर्जुन आकुल–व्याकुल–संविग्नमानस बन जाते हैं। चक्रव्यूह द्वार के संरक्षक जयद्रथ का मस्तक ही अर्जुन के इस प्रचण्डरोष का अनन्य लक्ष्य बन जाता है। शस्त्राभ्यासपरीक्षणानुगत वृक्षशाखाग्रे स्थित चटकशिरोवत् तत्क्षण अपने भावुकतापूर्ण सहज आवेश से अर्जुन यह प्रतिज्ञा कर ही तो बैठते हैं कि,–"* **यदि सूर्य्यास्त से पूर्व पूर्व इस पापात्मा का हम शिरश्छेद न कर डालेंगे, तो हम स्वयं अपने आपको हुताशन में आहुत कर लेंगे"**। प्रत्यक्ष–प्रभावमूला अर्जुन की इस सुदारुण प्रतिज्ञा का श्रवण कर अवश्य ही वासुदेव कृष्ण प्रतिज्ञा के भयङ्कर परिणाम को लक्ष्य बनाते हुए अपने इस बालसखा की भावुकता से चिन्तित हो पड़े होंगे। अर्जुन को क्या विदित था कि, उसके इस प्रतिज्ञा–पालन की मीमांसा दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक कौरवों के द्वारा किस प्रकार एक भयावह जटिल समस्या बना दी जायगी।

÷ आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत् स दारानपाहरत्॥
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः॥

* "यद्यस्मिन्नहते पापे सूर्य्योऽस्तमुपयास्यति॥
इहैव सम्प्रवेष्टाहं ज्वलितं जातवेदसम्॥
—म० द्रो० प० १७३ अ० ४७ श्लो०।

प्रतिज्ञा के आवेश से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः क्रोधाविष्ट बने हुए अर्जुन की सर्वसंहारात्मिका रुद्रमूर्त्ति के स्वरूप का परिचय कर्णाकर्णि जब जयद्रथराज को विदित हुआ, तो वे 'त्राहि मां त्राहि मां' की आर्त्तवाणी का आश्रय लेते हुए आमूलचूड़ विकम्पित बनते हुए कौरवराज दुर्य्योधन, तथा सेनापति द्रोणाचार्य्य के प्रति स्वसंरक्षण के लिए प्रपन्न बन गए। कौरवप्रमुखोंनें जयद्रथ को आश्वासन प्रदान किया। जयद्रथ को अर्जुन के प्रतिज्ञाकोप से बचाने के लिए उन्होंनें दृढ़ व्यूह रचना करते हुए कोई प्रयत्न शेष नहीं छोड़ा। वासुदेव स्वयं यह जान रहे थे कि, "षड्यन्त्रकर्म्मों में निसर्गतः सिद्धहस्त कुशल कौरवों का प्रयास इस दिशा में कभी निष्फल न जायगा। एवं सूर्यास्त से पूर्व वे जयद्रथ का अर्जुन से समसाम्मुख्य होने हीं नहीं देंगे। एवं उस अवस्था में अवश्यंभावी सूर्य्यास्त भावुक अर्जुन को महान् अनिष्ट की ओर प्रवृत्त कर देगा"। स्थिति का आमूलचूड़ आमन्थन कर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योगमाया-निबन्धना देवविद्यात्मिका (परोक्षप्रभावविद्या) के द्वारा कल्पित आवरण से अस्तसमय से पूर्व ही सूर्य्य को आवृत कर दिया ÷।

सर्वत्र असमय में ही निबिडान्धकार का साम्राज्य स्थापित हो गया। योद्धा लोग सायं सन्ध्याकाल मान कर शस्त्रास्त्रों का विसर्जन कर सायंकर्म्म में प्रवृत्त होने लगे। सायंसन्ध्या सर्वात्मना सुविकसित हो पड़ी। इस अनुरूप वातावरण के उपस्थित होने से जयद्रथ ने सन्तोष का निःश्वास ग्रहण किया। जयद्रथवधाशङ्का से निश्चिन्त बने हुए कौरवदल में हर्षातिरेक उत्पन्न हो गया। साथ ही प्रतिज्ञाबद्ध अर्जुन के निश्चित हुताशन--प्रवेश की कल्पना से कौरवोंनें उत्सव आरम्भ कर दिया। स्वयं जयद्रथ निःशंक बनते हुए उस स्थान पर धृष्टतापूर्वक आ पहुँचे, जहाँ अर्जुन अपने आपको आहुत करने के लिए चिताप्रवेश का कार्यसम्पादन कर रहे थे, एवं कृष्ण भावुकतावश अश्रु पूर्णाकुलेक्षण बनते हुए अपने स्नेही सखा को सान्त्वना प्रदान करते हुए मानो इनकी अनन्यनिष्ठा का उपहास ही कर रहे थे। सहसा योगमाया का आवरण निवृत्त हो जाता है, सूर्य्य व्यक्त हो जाते हैं। जयद्रथ भयसंत्रस्त बन जाता है। भगवान् के आदेश से कौशलपूर्वक अर्जुन सिन्धुराज का शिरश्छेद कर डालते हैं। और यों एकमात्र कृष्ण के निष्ठाबलानुग्रह से अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण में समर्थ बन जाते हैं।

आवेशपूर्वक,—प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर की गई प्रतिज्ञा वास्तव में धर्म्मनिबन्धना प्रतिज्ञा है ही नहीं। यह तो बाल–स्त्रीसुलभ अहोरात्र में बात बात में घटित–विघटित भावुकतापूर्ण तानूनपत्र (शपथ ग्रहण) है। ऐसी आविष्ट प्रतिज्ञा अतीत एवं भविष्यत् की परिस्थितियों के समतुलन से बहिष्कृत बनती

÷ ततोऽसृजत्तमः कृष्णः सूर्य्यस्यावरणं प्रति॥
योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः ॥१॥
सृष्टे तमसि कृष्णेन गतोऽस्तमिति भास्करः ॥
—म० द्रोणपर्व १४६ अ० ६७, ६८ श्लो०।

हुई कभी सफल नहीं हुआ करती। अतएव प्रत्यक्षप्रभावमूला आवेशपूर्णा ऐसी प्रतिज्ञा का तत्त्वतः कोई धार्म्मिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि, अर्जुन की वह प्रतिज्ञा धर्म्मसम्मता ही थी। तदपि अर्जुन से यह तो आशा रक्खी ही जा सकती थी कि, बुद्धियोगोपदेशश्रवण-प्रसङ्ग में युद्ध से पूर्व योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने परोक्ष विभूतिलक्षण सर्वसमर्थ कर्त्तुम-कर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ विराट्स्वरूप के प्रदर्शन के द्वारा जो शाश्वत अभयदान किया था, उसकी-निरापद छत्रच्छाया में ये सदा ही अपने आपको सुरक्षित मानते रहते। अर्जुन समझते होंगे कि, मैंने जयद्रथ का वध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। यह कैसी अहम्मन्यता थी अर्जुन की?। उसे क्या विदित था कि, यदि मायाद्वारा सूर्य्यास्त न होता, तो कौरवों के महाव्यूह से सुरक्षित सिन्धुराज की छाया का भी अर्जुन स्पर्श नहीं कर सकते थे। साथ ही भगवान् यदि जयद्रथ के पिता के द्वारा प्रदत्त इस अभिशाप के—'जो जयद्रथ का मस्तक काटेगा, स्वयं उसका मस्तक भी शतधा विभक्त होकर भूमिसात् हो जायगा' माध्यम से अर्जुन को कौशलपूर्वक जयद्रथशिरश्छेद का आदेश न देते, तो बिना हुताशनप्रवेश के भी क्या अर्जुन जीवित रह जाते? जिसके नामस्मरणमात्र से अतिमानव भीष्म विदुर उद्धवादि जैसे परम भागवत अपने को जीवन्मुक्त मानते थे, वह जिसका सारथी हो, और वह यों एक असहाय की भाँति पुनः पुनः अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनता रहे, इससे अधिक अर्जुन की भावुकता, अस्थिरप्रज्ञता, परप्रत्ययनेयता और क्या होगी?। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

(१०)—पाण्डवों की भावुकता का अष्टम उदाहरण—

आबाल–वृद्ध–वनिता, मूढ–अज्ञ–अल्पज्ञ–अर्द्धविदग्ध–विद्वान्, सभी प्रायः इस सहज धर्म्मनिष्ठा से सुपरिचित हैं कि, **"व्यष्टि"** रूपा **'व्यक्ति'** के स्वरूपसंरक्षण–स्वरूपविकास–से सम्बन्धित ज्ञानकर्म्मो–भयलक्षण पौरुष (पुरुषार्थ) की संसाधिका **'ब्रह्मचर्य्य–गृहस्थ–वानप्रस्थ–संन्यास–'**भेद से चतुर्द्धा विभक्ता **'आश्रम–व्यवस्था'** के साथ साथ विदितवेदितव्य अधिगतयाथातथ्य निगमाम्नायपरायण–संरक्षक भारतीय नैगमिक समाजशास्त्रियोंनें **'समष्टि' रूप 'समाज'** के स्वरूपसंरक्षण–स्वरूपविकास के लिए मानवीय प्राकृतिक गुण–धर्म्मयोग्यता के अनुपात से समाज के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित **'ज्ञान–शौर्य्य–वित्त–भूतबल'**, इन चार आवश्यकताओं की सुव्यवस्थित–मर्य्यादित–छन्दोबद्ध–वंशानुगतिक–व्यवस्था की पूर्त्तिकामना से भारतीय सामाजिक मानववर्ग का **ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–सच्छूद्र'** इन चार भागों में वर्गीकरण करते हुए 'वर्णव्यवस्था' व्यवस्थित की है। दूसरों शब्दों में प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय चातुर्वर्ण्य को संस्कारविशेषद्वारा मर्य्यादित व्यवस्था का स्वरूप प्रदान किया है। इस प्रकार वर्णत्वेन जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य के आधार पर संस्कारत्वेन कर्म्मसिद्धा वर्णव्यवस्था व्यवस्थित हुई थी, जैसा कि–**'प्रकृतिविशिष्टं**

चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि वसिष्ठवचन से प्रमाणित है * । तत्तद्वर्णाश्रम के तत्तत् प्रातिस्विक वर्णाश्रमस्वरूपानुगत–वर्णाश्रमस्वरूपसंरक्षक विकासक–तत्तद् गुण–कर्म्मभावों के स्वरूपसंरक्षण–विकास के लिए वर्णाश्रमभेदानुपातभेदभिन्ना विभक्ता योग्यता के अनुपात से जो प्राकृतिक नियमोपनियम-विधिविधान व्यवस्थित हुए, उन विधिविधानों की समष्टि ही **'वर्णाश्रमधर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध हुई । स्व स्व आश्रम–वर्णस्वरूपसंरक्षण–विकास की पारम्परिक अभिवृद्धि–समृद्धि के लिए इस धर्म्मव्यवस्था के अनुपालन में कटु नियन्त्रण अनिवार्य्य माने गए, जिनका–**'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः'-'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्'–'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् से (गीता से) समर्थन हुआ है ।

जन्मजात, अतएव अभिजात÷ क्षत्रियवर्णविभूषित, वर्णानुगत श्रौतस्मार्तसंस्कारसुसंस्कृत, अतएव च प्रकृत्या, तथा संस्कारेण, उभयथा कृत्स्न-भावापन्न-विकसित आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण अर्जुन को क्या यह विदित न होगा कि, वे उस क्षत्रियवर्ण को समलङ्कृत कर रहे थे, जिस वर्ण का स्वधर्म्मात्मक एकमात्र मुख्य–लक्ष्य माना गया है "स्वबलपौरुषवीर्य्यपराक्रमद्वारा अशान्तिप्रवर्त्तक–दुष्टबुद्धि–कुनैष्ठिक आततायीवर्ग के द्वारा इनके सहज आसुरभाव के कारण होने वाले निरीह–अनपराध–निर्द्दोष–असमर्थ–मानवसमाज के क्षत–विक्षत भावों से इस समाज का त्राण करते हुए 'क्षतात् त्रायते' रूप से लोक में प्रसिद्ध उदग्र 'क्षत्रिय' शब्द को चरितार्थ करते रहना," फिर भले ही वह आततायी वर्ग निकटतम सम्बन्धी ही क्यों न हो । जबकि 'आततायी' की सहजपरिभाषा में सभी वर्गों का समावेश शास्त्रसिद्ध माना गया है यह कि—(गुरु हो, बच्चा हो, बुड्ढा हो, किंवा वेदान्तशास्त्र का परपारगामी विद्वान् ही क्यों न हो, यदि वह आत-

---

*** प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च । "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥" इति निगमो भवति । गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम् । न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्य्यो विज्ञायते ॥ (वसिष्ठस्मृति ४।१,२,३,।)**

व्यष्टिरक्षा–विकासमूला 'आश्रमव्यवस्था', समष्टिरक्षा–विकासमूला 'वर्णव्यवस्था,' दोनों का विषद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत अन्तरङ्गपरीक्षानुबन्धी 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामके चतुर्थ–खण्ड के **'भारतीय आश्रमव्यवस्थाविज्ञान'**, एवं **'भारतीय वर्णव्यवस्थाविज्ञान'** नामक अवान्तर प्रकरणों में द्रष्टव्य है ।

÷ – **" मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! "**

—गीता० १६ । ५ ।

तायी हैं, यदि उसके द्वारा सामाजिक जीवन अशान्त क्षत–विक्षत होता है, तो क्षणमात्र भी विलम्ब–विचार किए बिना तत्काल ऐसे आततायी का वध ही कर डालना चाहिए) + ॥

सहस्रदीधिति भगवान् सूर्य्यनारायणवत् प्रकाशमान **'हन्यादेव-अविचारयन्'** आदेश से पूर्णतया अभिज्ञ, क्षत्रियानुगत भूतात्मावबोधनिष्ठ ऐसे क्षत्रियश्रेष्ठ अर्जुन आततायी समूह के संहार के लिए शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर समराङ्गण में अवतीर्ण होते हैं। वहाँ इनके सम्मुख उपस्थित बन्धुजन सहसा इन को भावाविष्ट बना देते हैं। भावुकतापूर्ण बन्धुस्नेह से इनकी सहज भावुकता उत्तेजित हो पड़ती है, क्षात्र–निष्ठा पराभूत हो जाती है, स्त्रैणभावानुगता भावुकता उद्दीप्त बन जाती है, जिसके प्रबल आक्रमण के विरोध में असमर्थ बन जाने वाले इस क्षत्रियश्रेष्ठ के मुख से अनार्य्यजुष्टा यह कातर–कायर–वाणी विनिःसृत हो पड़ती है कि—**'न योत्स्ये'**। क्या यही था अर्जुन की धर्म्मनिष्ठा को, क्षत्रियवर्णोचिता स्वधर्म्म–निष्ठा को अभिव्यक्त करने का एकमात्र विशिष्टतम ?, शास्त्रीय ?? प्रकार ???। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना-किंवा भावुकता-अर्जुनस्य नितान्तभावुकस्य !!!। कृतज्ञ हैं हम अर्जुन की इस सहज भावुकता के प्रति हृदय से, जिसे निमित्त बना कर एकान्तनैष्ठिक वासुदेव कृष्णद्वारा मानवसमाजोद्बोधन-अभ्युदय-निःश्रेयस् की अन्यतम साधनरूपा 'बुद्धियोगनिष्ठा' का पुनः संस्करण हुआ, जो निष्ठा देवयुगारम्भ में सर्व-प्रथम इसी अव्ययेश्वर के द्वारा विवस्वान् मनु के प्रति उपदिष्ट हुई थी। अलमतिपल्लविलेन।

(२१)—कौरवपाण्डवानुगता निष्ठा–भावुकता, एवं इतिहासोपरति—

कौन कह सकता है, किसने देखा सुना है कि, अपनी दृढ़प्रतिज्ञा–दृढ़निश्चय–दृढ़निष्ठा की घोषणा करने वाले अर्जुन के उद्बोधन के लिए नैष्ठिक कृष्ण द्वारा कितने असंख्य उदाहरण अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुए होंगे, एवं कौन जाने, अथवा तो कृष्ण ही जाने, उन अगणित उदाहरणों से उद्बुद्ध बने हुए अर्जुन की प्रज्ञा में वासुदेव का यह सिद्धान्त कब और कैसे तथा कबतक सुप्रतिष्ठित रहा होगा कि— **"सर्वगुणसम्पन्न धर्म्मनिष्ठ, अतएव सुनिष्ठ भी पाण्डव प्रत्यक्षप्रभावमूलक 'भावुकता' रूप एक दोष से जहाँ आद्यन्त (सदा) के दुःखी बने हुए हैं, वहाँ सर्वदोषसम्पन्न–अधर्म्मनिष्ठ, अतएव कुनिष्ठ भी कौरव परिस्थितिप्रभावमूलक 'निष्ठा' रूप एक गुण से आद्यन्त के सुखी प्रतीत हो रहे हैं"**।

प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता जहाँ 'अवसर' प्राप्त लाभ से वञ्चित करती हुई विफलतारूपा रुष्टि की जननी बन जाती है, वहाँ परिस्थितिमूला निष्ठा 'अवसर' प्राप्त लाभ से समन्वय कराती हुई सफलतारूपा

+ गुरुं वा बालं वा वृद्धं वा–अपि वेदान्तपारगम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥
—वसिष्ठस्मृतिः ३।२०।

तुष्टि की जननी बनी रहती है, भावुकता जहाँ कालप्रतीक्षानुगामिनी बनती हुई लक्षीभूत उद्देश्य को पुरुषार्थ से असंस्पृष्ट रखती हुई लक्ष्य को यातयाम–गतरस–निष्फल प्रमाणित कर देती है, वहाँ निष्ठा प्राप्तकालानुगामिनी बनती हुई लक्षीभूत उद्देश्य को पुरुषार्थ से समन्वित करती हुई लक्ष्यपूर्त्ति का साधक प्रमाणित होती रहती है। भावुकता जहाँ केवल अनुभूतिपरायण मानवीय ऐन्द्रियक मन की चलितप्रज्ञा को उत्तेजित करती हुई मानव को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनाए रहती है, वहाँ निष्ठा पूर्वापरवर्त्तमानस्थिति-परिस्थिति-परायण मानवीव बुद्धि की स्थिरता को प्रोत्साहित करती हुई मानव को कर्त्तव्यकर्म्म पर आरूढ़ बनाए रखती है। भावुकता जहाँ मानव को बाह्यदृष्टिपरायण बनाती हुई इसे प्रावाहिक जगत् का गतानुगतिक–अन्धानुकरणकर्त्ता बनाए रहती है, वहाँ निष्ठा मानव को अन्तर्दृष्टिपरायण बनाती हुई इसे स्थिर स्वार्थ-संसाधक लक्ष्य पर आरूढ़ रखती हैं।

अर्जुन ! यही है भावुकतादोष से, तथा निष्ठागुण से सम्बन्ध रखने वाले भावुक पाण्डवों, तथा नैष्ठिक कौरवों का वास्तविक स्वरूप–विश्लेषण करने वाला वह असदाख्यान, जिसके माध्यम से तदुत्तरयुगभावी (महाभारतोत्तरभावी) मानव अपने भुक्त–प्रक्रान्त युगधर्म्म के माध्यम से (यदि वह चाहेगा, तो) स्व-स्वरूपोद्बोधन के लिए तुम कौरव–पाण्डवों के निष्ठा–भावुकतारूप ऐतिहासिक तथ्य के परिणाम को लक्ष्य बनाता हुआ अपना कर्त्तव्यकर्म्म निर्द्धारित कर सकेगा, इसी भावी मङ्गलभाव की आशंसा के साथ यह ऐतिहासिक प्रसङ्ग उपरत हो रहा है। ओमित्येतत्।

(२२)—प्रत्यक्षोदाहरणमाध्यम से भावुक अर्जुन का उद्बोधन, एवं प्रक्रान्त असदाख्यानोपरति—

प्रत्यक्षप्रभावोत्पादिका सामाजिक सम–विषम परिस्थिति के प्रभाव से भावुक बने हुए पार्थ अर्जुन आरम्भ में अपनी अभिनिवेशमूला भावुकता के कारण यह स्वीकार कर लेने में कथमपि प्रवृत्त नहीं हुए कि, 'सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव भावुक हैं, अतएव एकमात्र इसी दोष से ये दुःखी हैं'। उधर 'सर्वदोष-सम्पन्न भी कौरव नैष्ठिक हैं, अतएव एकमात्र इसी गुण से वे सुखी हैं'। समस्या की निदानपूर्वक चिकित्सा करने वाले आध्यात्मिक भिषगाचार्य्य भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन की भावुकता पर प्रहार न करते हुए किसी भी युक्ति से परोक्षरूप से जब तक उद्बोधन का प्रयास करते रहे, तब तक अर्जुन का उद्बोधन सम्भव न बन सका। अन्ततोगत्वा उन्हें भावुक अर्जुन की सहज–प्रत्यक्षप्रभावपरिपूर्ण–भावुक–मनोवृत्ति को–तन्मूला प्रत्यक्षदृष्टि–(प्रत्यक्षोदाहरणरूपा प्रत्यक्षदृष्टि)–को माध्यम बनाते हुए सप्रमाण इस भावुक अर्जुन के सम्मुख वैसी उदाहरणपरम्परा उपस्थित करनी पड़ी, जिसके आगे विवशतावश अर्जुन को अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ा कि, "वास्तव में पाण्डव एकमात्र भावुकतादोष से ही दुःखी रहे हैं, एवं वास्तव में कौरव निष्ठागुण से ही ऐश्वर्योपभोग करने में समर्थ बन सके हैं"। इस अनुप्रमाणन के साथ साथ ही निबन्धोपक्रम में प्रतिज्ञात आज से अनुमानतः पञ्चसहस्रवर्ष पूर्व में घटित महाभारतयुगानुगत वह ऐतिहासिक 'असदाख्यान' सत्परिणाम की ओर भावुकों का ध्यान आकर्षित करता

हुआ उपरत हो रहा है, जिसे मूल बना कर ही हम–**"भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता"** को उपक्रान्त करने के लिए अपनी भावुकता की प्रेरणा से सङ्कल्पमना बन रहे हैं ।

(२३)—निबन्धानुगता सामयिक उपयोगिता के सम्बन्ध में—

पञ्चसहस्र वर्ष से पूर्व के युग में घटित, कृष्णार्जुनप्रश्नोत्तरविमर्शात्मक, महाभारतयुगानुगत 'ऐतिहासिक असदाख्यान' के आधार पर सुखदुःखप्रवर्त्तिका जिस निष्ठा–भावुकता के संक्षिप्त स्वरूप–विश्लेषण की अब तक चेष्टा हुई है, वह वर्त्तमान युग के सर्वथा परप्रत्ययनेय भावुक मानव के मनःपरितोष के लिए इसलिए पर्य्याप्त नहीं मानी जासकती कि—

साम्राज्यलिप्सात्मिका लोकैषणालिप्सा से आमूलचूड़ लिप्त प्रतीच्य देशों की भूतसमृद्धिलिप्सा-प्रधाना संस्कृति–सभ्यता–शिक्षा–विज्ञापनपद्धति, एवं तदनुगत आचार–व्यवहार–जीवनकौशल–आदि आदि भावपरम्पराओं का अन्धानुकरण करने वाले वर्त्तमान युग के प्राच्य भारतराष्ट्र के मानव ने, विशेषतः भारतीय हिन्दू–मानव ने धर्म्मनीतिशून्य इस राजनैतिक सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ कर लिया है कि—**" विजेता राष्ट्रों की संस्कृति-सभ्यता-शिक्षा आदि ही विजित राष्ट्रों की संस्कृति-सभ्यता-शिक्षा आदि बनी रहती है"** ।

यह मान्य है कि, नियतिचक्रानुगत 'भगीरथभागीरथीन्याया' नुग्रह से, किंवा भूतबल की कालान्त-र्भाविनी सहज पराभूति के व्यक्त हो जाने से आज भारतराष्ट्र उस सर्वस्वघातक 'विजित' मण्डल की सीमा-परिधि–से शरीरमात्र का त्राण करता हुआ अपने आपको 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' घोषित करने के अतिमानात्मक गर्व से उन्नतशिरस्क प्रमाणित हो रहा है । किन्तु विजेताओं की, केवल नीतिनिष्ठ निष्ठाबलसमन्वित, अतएव नीतिकुशल प्रतीच्य राष्ट्रों की संघर्षमूला जिस नीति ने, जिस बौद्धिक कौशल ने भारतराष्ट्र की आत्मबुद्धि-मनःशरीरसमन्विता जिस धर्म्म–नीतिनिष्ठाभावापन्ना तदनुगता सभ्यता–संस्कृति–शिक्षापद्धति--परम्परा को अपनी प्राणापहारिणी पद्धतियों से सर्वात्मना अभिभूत कर इस राष्ट्र को मनः--शरीरदासता के साथ साथ जिस निर्म्मम–जघन्य--पद्धति से आत्मबुद्धिदासता का अन्यतम सत्पात्र ? बना लिया है, वह दासता अन्त-र्य्यामसम्बन्ध से इस प्रकार इस राष्ट्र का मूलधन प्रमाणित हो गई है, जो इस वर्त्तमान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र युगमें भी सर्वात्मना 'स्वरक्षित' बनती हुई प्रतीच्यशासनकालानुगत 'सुरक्षित' भाव को भी लज्जित कर रही हैं । उनके शासनकाल में हमारी आत्मदासता जहाँ उनके द्वारा रक्षित होती हुई **'सुरक्षित'** थी, वहाँ हमारे अपने 'गणतन्त्रात्मक–सर्वतन्त्रस्वतन्त्रात्मक–सर्वसत्ता–प्रभुसत्तात्मक शासन' काल में वही दासता स्वयं हमारे ही अपने–स्व–भाव–से ही रक्षित बनती हुई अश्माखण (पाषाणशिला) रूप से **'स्वरक्षित' है,** सर्वात्मना अपनी रक्षा से रक्षित है । इसी स्वरक्षितात्मिका आत्मदासतामूला इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता की हम यह प्रासङ्गिक स्वरूपव्याख्या कर सकते हैं कि—

नाममात्र के लिए, उच्चघोषणामात्र के लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, किंवा उच्छृंखल--अमर्य्यादित–देश–जाति–कुलधर्म्मविरोधी यथेच्छाचारविहारमात्र के लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, मूलतः सर्वात्मना परतन्त्रता,

शरीरमात्रनिर्वाह जैसे सामान्य कर्म्म के अनुबन्ध से भी क्षणे-क्षणे पदे-पदे स्थाने-स्थाने परमुखावलोकनरूपा आत्महनन-समतुलिता घोरघोरतमा परतन्त्रता, वही सभ्यता, वही संस्कृति, वही वेशभूषा, वही भाषाव्यामोहन, वही आचारविचारपरम्परा, सर्वात्मना यच्चयावत् क्षेत्रों में प्रतीच्यभावपरम्पराओं का ही, उनके आदर्शों का ही अन्यतमा भावुकता के आकर्षणानुग्रह से गतानुगतिक विधिपूर्वक अन्धानुकरण। सर्वथा परप्रत्ययनेयता–लक्षणा–आत्मबुद्धि–मनः–शरीर–पारतन्त्र्यरूपा–आत्मदासतानुगता--सर्वदासता – परतन्त्रावस्था – एवंविधा उत्पीड़ितावस्था के निग्रहानुग्रह से आत्यन्तिकरूप से उत्पीड़ित वर्त्तमान भारतीय हिन्दू-मानव के लिए पुरातन-युगानुगता सर्वथा प्राच्यसंस्कृति के आधार पर उपकल्पित कृष्णार्जुन–प्रश्नोत्तरविमर्शात्मक असदाख्यान–मात्र के द्वारा सङ्केतमात्र से समुपस्थित समाधान से किसी भी जटिल समस्या का यथावत् समाधान प्राप्त कर उसे कर्त्तव्यनिष्ठा रूप से बुद्धिनिष्ठ बना लेना असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य ही है। अवश्य ही समस्या के वर्त्तमानयुगानुगत प्रत्यक्षप्रभावमूलक दृष्टिबिन्दु के माध्यम से हमें विशेष स्पष्टीकरणपूर्वक लौकिक भुक्त–प्रक्रान्त उदाहरणों के साथ, लोकसंग्रहधिया अंशतः प्रतीच्य क्षणिक–विज्ञान–दर्शनसम्मत सिद्धान्ताभासों का आश्रय ग्रहण करते हुए समन्वयबुद्धिपूर्वक ही विषय का अनुगमन करना पड़ेगा। तभी वर्त्तमान युग के सुसंस्कृत !, शिक्षित ! मानव का अनुरञ्जन सम्भव बन सकेगा, जिस अनुरञ्जनात्मिका विषयपरम्परा का दिग्दर्शन संक्षिप्तदिशापरिचय प्राक्कथनरूप से इस जिज्ञासासूत्र–माध्यम से उपक्रान्त हो रहा है कि—

"भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता" नामक निबन्धनिर्म्माण का संकल्प क्यों हुआ ?, क्या आवश्यकता अनुभूत की इस भावुक ने इस भारभूतनिबन्धनिर्म्माण की ?, एवं इसका एवंविध नामकरण किस आधार पर हुआ ?"।

जिज्ञासासूत्र–माध्यम का तात्पर्य्य स्पष्ट है। "क्यों !, क्या !, कैसे ?" इत्यादि भावुकतापूर्णा प्रश्नपरम्परा का (भावुकतास्वरूपसंरक्षकमात्र) समाधान किए बिना आज का सुशिक्षित मानव केवल प्रमाणभक्ति के आधार पर कुछ भी तो सुनने सुनाने के लिए सन्नद्ध नहीं बना करता। आज के बहु-कर्त्तव्यनिष्ठ ! बहुप्रवृत्युन्मुख बुद्धिमान् ! मानव के समीप 'व्यर्थ' समय का नितान्त अभाव है। प्रत्येक समस्या, प्रत्येक विषय, प्रत्येक कर्त्तव्य में प्रवेश करने से पहिले कार्य्यकालपक्षवादी आज का मानव * 'क्यों ?' का समाधान प्राप्त कर लेना चाहता है, समाधानानन्तर भी वह प्रवृत्त भले ही न हो उस कर्त्तव्य में। हाँ, समाधान से उसकी तत्कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव अवश्य मान ली जा सकती है। वही सहज 'क्यों ?' प्रश्न प्रस्तुत निबन्ध में भी सहजरूप से उपस्थित होता हुआ समाधान–जिज्ञासा अभिव्यक्त कर रहा है।

---

* शब्दशास्त्रप्रमाणाधार पर कर्त्तव्यारूढ़ बन जाने वाले आस्थाश्रद्धायुक्त मानव का पक्ष शास्त्र में **'यथोद्देशपक्ष'** कहलाया है, एवं तर्क--युक्ति--कारणता--परिज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यप्रवृत्ति की जिज्ञासामात्र को अक्षुण्ण बनाए रखने वाले मानव का पक्ष **'कार्य्यकालपक्ष'** कहलाया है।

—परिभाषेन्दुशेखर

सुनते हैं, प्राकृतिक–सहज–वृत्तियों के सम्बन्ध में—**'प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति'** (गीता) इस सहज उत्तर के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं हो सकता। वही उत्तर इस निबन्ध के सम्बन्ध में भी समन्वित माना जायगा, जिसका स्पष्टीकरण यों किया जा सकता है कि, अपने वर्णोचित वेदस्वाध्यायरूप दीक्षाकाल से ही दीक्षारूप स्वाध्याय के साथ साथ दीक्षित विषय को लिपिबद्ध करते रहने का सहज स्वभाव सदा से प्रक्रान्त रहा है। पढ़ना, और लिखना, दोनों हीं, किंवा दो ही हमारे नैसर्गिक नित्यकर्म्म रहे हैं, जिन नित्यविधियों के सम्बन्ध में—क्यों ?, कैसे ?' इत्यादि प्रश्नों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध ही माना गया है। इसी अभ्यासवश, किंवा प्रकृतिमूलक नैसर्गिक प्रवृत्ति के वश शतपथादिभाष्यों के साथ साथ सामयिक प्रवाह के संरक्षण के लिए 'मानवाश्रम' नामक पाक्षिक पत्र भी अव्यवस्थितरूप से प्रकाशित होता रहा, जिसमें अन्यान्य सामयिक विचारधाराओं के साथ इस सामयिक निबन्ध की रूपरेखा भी प्रकृत्या समाविष्ट हो पड़ी। आगे चल कर कतिपय सहयोगियों की प्रेरणा से वह रूपरेखात्मक निबन्ध अनुमानतः शतपृष्ठकायरूप से स्वतन्त्ररूप से भी प्रकाशित कर दिया गया। पुनः सहयोगियों का इस सम्बन्ध में प्रबल आग्रह हुआ कि, "इस स्वल्पकाय निबन्ध से समस्या का सर्वात्मना समन्वय नहीं हो सका है। अतः विशद ग्रन्थरूप से इसे सम्पन्न किया जाय"। आग्रह मान लिया गया, एवं अपनी उसी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण वह लघुकायनिबन्ध प्रस्तुत बृहत्कायरूप में निर्म्मित हो पड़ा। 'क्यों लिखा गया यह निबन्ध ?' प्रश्न का यही नैसर्गिक समाधान है।

अब प्रश्न शेष रह जाता है इसके नामकरण के तथाविध स्वरूप से सम्बन्धित 'क्यों ?' का, जिसके सम्बन्ध में भावुकतास्वरूपसंरक्षण की दृष्टि से कुछ विशेष वक्तव्य अनिवार्य्य बन रहा है। लोकदृष्टि से सम्बन्धित वर्त्तमान मानव की भावनापरम्पराओं समस्यापरम्पराओं के साथ, वर्त्तमान राजनीतिवाद--समाजवाद--आदि वादपरम्पराओं के साथ किसी भी काल में हमारा कोई भी विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है। अतएव इन वादों के तात्त्विक ? स्वरूपपरिचयबोध से हम सर्वथा पुष्करपलाशवन्निर्लेप ही रहे हैं। हाँ, तथाविध सङ्ग--सुसङ्ग--परम्पराओं की यथाकाल प्राप्त सुविधा से यदाकदा कर्णाकर्णिपरम्परया इन वादों के तात्कालिक स्वरूप श्रवणमात्र का सौभाग्य अवश्य प्राप्त होता रहा है। लेखनकर्म्म की एकमात्र अनन्य लक्ष्यभूमि रही है प्राच्यसंस्कृति, तत्रापि विशेषतः वैदिक संस्कृति। इस पावन संस्कृति की चिरकालिक उपासना के अनुग्रह से किसी आकस्मिक समय में आकस्मिकरूप से ही अपने भावुक मनोराज्य में सहसा इस प्रकार की भावुकतापूर्णा अनुभूति जागरूक हो पड़ी कि, जिस वैदिक संस्कृति-साहित्य का वाङ्मय कलेवर इस प्रकार ज्ञान--विज्ञान परिपूर्ण हो, जो साहित्य सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तत्त्वों का भी पूर्ण समन्वय करने की अद्भुत अश्रुतपूर्व अदृष्टान्यत्र क्षमता रख रहा हो, **जिसके वाङ्मय पावन क्रोड में धर्म्म, नीति, सभ्यता, आचार, ज्ञान, कर्म्म, उपासना, संगीत, शिल्प, कला, वाणिज्य, पौरुष, आदि आदि विश्व की यच्चयावत् ज्ञातव्य–विज्ञातव्य–निधियाँ विद्यमान हों, ऐसी इस सर्वसम्पन्ना सर्वसमृद्धा परिपूर्णा ज्ञाननिधि के विद्यमान रहते हुए भी तदुपासक आस्तिक भारतीय हिन्दूमानव इस प्रकार सन्त्रस्त क्यों ?।**

अभ्युपगमवादाश्रय से थोड़ी देर के लिए हम संस्कृतवाङ्मयकोश के निगम, आगम, पुराण, स्मृति, दर्शन, निबन्ध, कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्तादि भागों की गणना ही न करते हुए केवल 'गीताशास्त्र' को ही लक्ष्य बना कर स्थितिमीमांसा में प्रवृत्त होते हैं। गीताशास्त्र की मौलिकता पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें सहसा आश्चर्य्यचकित--थकित--स्तब्ध हो जाना पड़ता है। और सहसा इस प्रकार के उत्तेजक उद्गारों का अनुगामी बन जाना पड़ता है हमें कि, **"जिस राष्ट्र के कोश में 'गीता' जैसा 'बुद्धियोगशास्त्र' सुगुप्त हो, जिसका एक एक सिद्धान्त ही मानव के कायाकल्प की पूर्ण क्षमता रखता हो, वह राष्ट्र, एवं उस राष्ट्र का गीताभक्त मानवसमाज आज इस प्रकार आर्त्त-दुःखी-त्रस्त-सन्त्रस्त क्यों ?"**

सभी प्रकार के आध्यात्मिक साधन सुलभ, भौतिक साधनों की भी इस भारत-वसुन्धरा के पावन-प्राङ्गण में प्रचुरमात्रा से समुपलब्धि, वसन्तादि ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सर-प्रजापति का भी इस कृष्णमृग-देश-भारत पर पूर्ण अनुग्रह-सामयिक अनुग्रह, सभी कुछ तो यहाँ सहजरूप से विद्यमान है। वैय्यक्तिक उपासना-साधन के लिए उत्तुङ्ग शिरोधवलकीर्त्ति सत्त्वगुणसमतुलित स्वच्छ शुभ्र हिमगिरि की पावन कन्दरा-उपत्यकाएं, सामूहिक उपासना को चरितार्थ करते रहने वालीं दक्षिणोत्तरभारत की अभूतपूर्व शिल्प-कौशल की सगुणमूर्त्तिरूपा देवमन्दिरपरम्पराएँ, विविध शास्त्रोपशास्त्र-शिक्षण-स्वाध्यायानुगामिनीं शत-शत-सहस्र-सहस्र संस्कृतपाठशालाएँ, धर्म्मोपदेशनिष्णात ? सर्वसाधनसुसम्पन्न-(अपने लौकैश्वर्य्य से सत्तामद का भी उपहास करने वाले भूतैश्वर्य्य से सदा ओतप्रोत)-सन्त-महन्त-मठाधीश-पीठाधीश--सम्प्रदाचार्य्य-आदि की धर्म्मोपदेष्टृपरम्पराएँ, **'उपह्वरे गिरीणां-संगमे च नदीनाम्'** इत्यादि श्रौत आदेश को अक्षरशः चरितार्थ करते रहने वालीं कुत्रचन भागीरथी-तटे, कुत्रचन यमुनातटे, कुत्रचन कावेरीतटे, कुत्रचन वृन्दा-वने, कुत्रचन अन्यत्रान्यत्र महतासमारम्भेण प्रतिष्ठिता-ऋषिकुल-गुरुकुल-बोधाश्रम-स्वर्गाश्रम-योगाश्रम-ब्रह्मअखाड़ा--आदि विविध-अभिधासमन्विता तत्त्वशिक्षणस्वाध्यायशालापरम्पराएँ, मानव के वर्त्तमान जन्म के ही नहीं, अपितु अनेक जन्मों के सञ्चित पापों को क्षणमात्र में निर्म्मूल बना देने वालीं पावनतमा तीर्थ-क्षेत्रपरम्पराएँ, सभी कुछ तो सुलभतया समुपलब्ध है इस भारतराष्ट्र में। सुख-शान्तिप्रवर्त्तक-संसाधक-अभिवर्द्धक-सम्पूर्ण साधन जिस राष्ट्र में सुलभतया समुलब्ध हों, और तदपि वहाँ का आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण आस्तिक मानव तथाकथित रूप से सन्त्रस्त बना रहे !, कैसा आश्चर्य्य है !, कैसी विषम समस्या है !, एवं कैसा है यह भाग्यहीन भारतीय आस्तिक हिन्दू-मानव, जो सब कुछ विद्यमान रहते भी दीन-हीन-सा, हतप्रभ-सा, विगलित-शौर्य्य-सा, क्षुब्ध-विक्षुब्ध-सा, असहाय-परसहायानुगत-सा, भ्रान्त-विभ्रान्त-सा, अशुचि-अशिष्ट-अभद्र-अमङ्गल-मूर्त्ति-सा, अशिक्षित-अपठित सा, सर्वसमृद्धि-ऋद्धिशून्य-सा प्रमाणित होता हुआ आज अन्य देशीय नैष्ठिक मानवों के, एवं तदुच्छिष्टभोगी निष्ठाभावपरायण भारतीय मानवों के द्वारा तिरस्कृत-उपेक्षित-भर्त्सित-आलोच्य बनता हुआ इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है, दन्द्रम्यमाण है।

सङ्गदोष के प्रभाव से यदा-कदा ऐसा भी कुछ सुना जा रहा है कि, अमुकामुक विषम समस्यापरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से न केवल भारतीय मानव ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के मानव आज इसी प्रकार किसी न

किसी विषम समस्या से आक्रान्त बने रहते हुए सन्त्रस्त हैं। इस जनश्रुति का लोकसंग्रहबुद्ध्या समादर कर लेने मात्र के अतिरिक्त इसकी समस्या के प्रति इस नितान्त भावुक व्यक्ति का कोई कर्त्तव्य इसलिए शेष नहीं रह जाता कि, हम विश्वगर्भीभूत अन्य राष्ट्रों की दैशिक–कालिक–नैतिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक–लोकव्यावहारिक–बौद्धिक–सामाजिक–आदि आदि व्यवस्था–सुव्यवस्थाओं के स्वरूपज्ञानलव से भी सम्पर्क नहीं रख रहे। अपने सहजभावावेश से करुणामयान्तःकरण बने रहने वाले, पदे पदे 'विश्वबन्धुत्त्व' की उदात्त–आदर्श घोषणाओं से महिमामय अनन्ताकाश को विकम्पित करते रहने वाले अन्तर्राष्ट्रिय-ख्याति–पथानुगामी किसी भावाविष्ट सर्वज्ञ--सर्ववित्--वर्त्तमान मानव से ही तथाकथिता जनश्रुतिमूला समस्या का निदान कराना चाहिए। **हमारा तो लक्ष्य है एकमात्र भारतराष्ट्र, एवं इस राष्ट्र का भारतीय–मानव समाज, तत्रापि 'हिन्दू–मानव समाज', जो तथाकथितरूप से सर्वसाधन–परिग्रह–सुसम्पन्न बनता हुआ भी आततायीवर्ग से पदे पदे प्रतारित–ताड़ित–भर्त्सित–अपमानित होता हुआ सर्वथा अशान्त बनता जा रहा है, अथवा तो बन गया है। ऐसा क्यों ?**

तथाविध 'क्यों ?' प्रश्न की परम्परा ने हीं प्रस्तुत निबन्ध के तथाविध नामकरण के लिए प्रोत्साहित किया, एवं यही प्रोत्साहन इस निबन्धनिर्म्माणोत्तेजना का भावुकतास्वरूपसंरक्षक कारण बना। सब कुछ साधन–परिग्रह विद्यमान रहते हुए भी मानव के आद्यन्तानुगत दुःखभाव का एकमात्र कारण मानव की मनोऽनुगता वह 'भावुकता' ही मानी जायगी, जिसका भावुकहृदय शृङ्गारकरुणारसमूर्त्ति भारतीय काव्य-साहित्यमर्म्मज्ञोंनें मानव के महान् गुणरूप से उपवर्णन किया है। तत्त्वतः नैगमिक निष्ठाक्षेत्र की दृष्टि से 'भावुकता' के समान भयानक, सर्वगुण--योग्यता--स्वरूपसंहारक अन्य दोष और कोई है ही नहीं। शारीरिक जीवनयात्रा के निर्वाह से सम्बन्धित अन्नवस्त्रादि की चिन्तानिवृत्ति के लिए भारतीय समाजशास्त्रियों की ओर से जो निश्चिन्त--अनुकूल--साधन सुव्यवस्थित बनें, उनकी उस अनुकूलता ने हीं कालान्तर में भारतीय मानव को सहज--प्राकृतिक--जीवनाधारभूत--निष्ठाबलसंरक्षक--संघर्ष से बहिष्कृत कर इसे अकर्म्मण्य बना दिया। यों इसका गुण (शरीययात्रानिश्चिन्ततात्मक अनुकूलभावात्मक गुण) ही सीमातीत बनता हुआ कालान्तर में महादोषरूप में परिणत होता हुआ सर्वगुणसम्पन्न–सर्वसाधनसम्पन्न भी भारतीय नैष्ठिक--मानव की भावुकता का जनक बनता हुआ सर्वविनाशक प्रमाणित हो गया।

एकमात्र इसी आधार पर हमें निबन्धोपक्रम में महाभारतयुगानुगत कृष्णार्जुनसंवादरूप असदाख्यान का समावेश करना पड़ा। **प्रत्यक्षप्रभावमूला–परदर्शनानुगता–अतएव स्वदर्शनवंचिता भावुकता ने ही भारतीय हिन्दू मानव को नैगमिक निष्ठालक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा से महाभारतयुग से ही वंचित करते हुए इसे भावुक पाण्डवों की भांति उत्पीड़ित बना रक्खा है।** पाण्डवों का उद्बोधन तो शक्य बन गया था भगवान् मधुसूदनके निष्ठाबलोपदेशानुग्रह से। किन्तु तदुत्तरवर्त्ती युगों में कोई वैसा नैष्ठिक महापुरुष अवतीर्ण न हुआ, जिसने वासुदेवोक्ता बुद्धियोगनिष्ठा का स्वरूप भावुक भारतीय मानव के सम्मुख रक्खा हो। इन पूर्वयुगों में जो भी शास्त्रनिर्म्माता–शास्त्रोपदेष्टा–शास्त्रस्वरूपव्याख्याता

अवतीर्ण हुए, उन सब ने न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण इस भावुक मानव की भावुकता से अनुचित लाभ उठाते हुए इसे उत्तरोत्तर सुषुप्ति में हीं निमग्न किया, जिन नवग्रहात्मक इन नवधा विभक्त उपदेशकों की यशोगाथा का उपवर्णन आगे विस्तार से होने वाला है।

(२४)—मान्य सहयोगियों का उद्बोधन—

विगत कुछ एक वर्षों के प्रचारानुबन्धी अपने परिभ्रममाण क्या, दन्द्रम्यमाण—कालमें—**'यथाकाष्ठ'** न्याय से * सम्प्राप्त जिस भूतसमागम का सौभाग्य भोग हुआ, उस समागम—प्रसङ्ग में बहुकाल से मनोराज्य में चर्विता संकल्पित—निबन्धानुगता समस्या के सम्बन्ध में भी पारस्परिक विचार—विनिमय—परामर्श स्वाभाविक ही था। कितने एक सहयोगी इस समस्या की ओर आकर्षित हुए, कितने एक अभिजात व्यवहारनिष्ठोंनें इस विषय में अपनी कौशलपूर्णा—परप्रतारणाकुशला—स्वार्थैकसाधननिपुणा लोकबुद्धि से सम्बद्ध वाक्पटुता के परिचयप्रदान से अपने आपको गौरवान्वित अनुभूत किया। और अपने आपको सर्वात्मना बुद्धिनिष्ठ मान बैठने की भयावह भ्रान्ति में निमग्न कतिपय 'महा' मान्य सहयोगी मानों इस महती समस्यासमाधान के परमाचार्य्य ही बनते हुए उस ऐकान्तिक निष्ठापथ के निष्ठुर पथिक बन गए, जो ऐकान्तिक निष्ठापथ, भावुकताशून्य—अतएव क्रूर—रूक्ष—शुष्क—निष्ठुरभावापन्न असन्निष्ठापथ (उपनाम-कुनिष्ठापथ) आरम्भ में असन्निष्ठ दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों की भाँति लोकसफलताभास का जनक प्रमाणित होता हुआ भी वैसे असन्निष्ठ—भावुकताशून्य—अतएव आस्थाश्रद्धाशून्य—अतएव कुत्सित जघन्य स्वार्थपरायण नीरस रूक्ष मानव के सर्वनाश का ही कारण प्रमाणित हो जाया करता है। दुर्भाग्यवश, किंवा (लोकैषणा से उद्बोधन कराने की अपेक्षा से) सौभाग्यवश ही अधिकांश में वैसे ही परीक्षण अबतक हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं, जिनका स्वरूपरिचय—स्वरूपोद्बोधन प्राप्त हुआ है कालान्तर में हमें सुप्रसिद्ध **'भस्मासुर-न्याया'नुग्रह** से। आस्थाश्रद्धापरिपूर्णा भावुकतागर्भिता तत्समतुलिता—सुनिष्ठा (सन्निष्ठा) के आध्यात्मिक मर्म्मज्ञान—लव से भी वञ्चित, श्रद्धा—आस्थाशून्या—भावुकता—विरहिता, अतएव नितान्त रूक्षा कुनिष्ठा (असन्निठा) को ही 'निष्ठा' का तात्विक स्वरूप मानने—मनवाने की महाभ्रान्ति में निमग्न, तथाविध उन व्यवहारनिष्ठ—लोकनैष्ठिकोंनें निष्ठासूत्रों का भ्रान्त अर्थ लगाते हुए परीक्षण के लिए सर्व-प्रथम इस भावुक को ही अपना लक्ष्य बनाने में अपने 'महा' महिम गौरव का संरक्षण अनुभूत किया। और इस दिशा में प्राप्त होने के अनन्तर हमें सहसा आर्षमहर्षि के उद्बोधनात्मक इस सूत्र का संस्मरण हो पड़ा कि—

" विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ॥
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्य्यवती तथा स्याम् ॥"

—यास्कनिरुक्त २।४।१।

*** यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ।**
व्यपेत्य च समेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्ष० १ अ०।१५ श्लो०।

तथाविध व्यवहारनिष्ठों की, प्रत्यक्ष में अपने आपको हमारे अन्यतम 'महा' सहयोगी घोषित करने वाले उन 'महा' मानवों की लोकसंसर्गानुगता परनिन्दा-परआलोचना-प्रत्यालोचना–लक्षणा 'असूया' ने, इसी असूयावृत्ति से समुत्पन्न मानसिक संकल्प, प्राणनिबन्धन कर्म्म, वाचिक वैखरीवाङ्मय शब्द, आत्मपर्वत्रयी-मूलक इन तीन आत्मभावों से वक्ररूप में परिणत 'अनृजु' भाव ने, अतएव निश्चितरूपेण समुत्पन्न बौद्धिक-मानसिक–ऐन्द्रियक शारीरिक स्खलनरूप 'असंयम' ने उन्हें इस 'निष्ठासूत्रस्वाध्याय' के द्वारा अध्यात्म–दिशा के सर्वथा विपरीत–सर्वविघातिका कुदिशा का ही अनुगामी बना डाला। आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठा–विद्या (राजर्षिविद्यात्मिका बुद्धिविद्या) यों कतिपय असूयकाय–अनृजु–असंयत–अनधिकारियों के मानस-पटल पर खचित होती हुई सर्वात्मना अवीर्य्यवती बन ही गई, जिस भावुकतापूर्ण गुरुतम अक्षम्य अपराध के लिए आर्षमहर्षियों से मुहुर्मुहुः क्षमा-याचना करते हुए भविष्य के लिए निष्ठापथजिज्ञासु–निष्ठापथानु-गामी अपने मान्य पाठकों से हम इस सम्बन्ध में यह नम्र आवेदन कर देना अपना अनिवार्य्य कर्त्तव्य घोषित करने की धृष्टता कर रहे हैं कि—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' लक्षण इस निष्ठारूप दुर्गम पथ के पथिक बनने से पूर्व रहस्यपूर्ण भावुकता–निष्ठा शब्दों की तत्त्वात्मिका प्रत्यक्षपरोक्ष मार्म्मिक व्यञ्जनाओं को हृदयङ्गम बना कर ही सहयोगियों को अपने जीवन का लक्ष्य सुस्थिर करने का अनुग्रह करना चाहिए। पूर्वापर, तथा मध्य भावापन्न (भूत-भविष्यत् तथा वर्त्तमानभावापन्न) स्थिति-परिस्थितियों के सतर्कता–अवधानपूर्वक शुभाशुभपरिणाममीमांसविमर्शद्वारा ही भावुकता, तथा निष्ठा के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए। अपनी कल्पनामात्र के समावेश से यत्किञ्चित् भी स्खलितप्रज्ञ बन जाने से इन दोनों रहस्यपूर्ण शब्दों की मार्म्मिक व्यञ्जना, इन दोनों का विरोधात्मक समन्वय निश्चयेन अनर्थपरम्परा का सर्जक बन जाया करता है। एवं उस दशा में हमारा मानवोद्बोधनानुगत यह माङ्गलिक प्रयास मानव के अपने ही प्रज्ञापराध से उसी प्रकार महा अमाङ्गलिक प्रमाणित हो जाता है, जैसे कि स्वस्तिभावसम्पादक समत्त्व-योगानुगत अशनपान हीन–अति–मिथ्या–अयोगात्मक विरुद्ध योगों से अस्वस्तिभाव-सम्पादक बन जाया करते हैं। अपने लोकपाण्डित्य के बुद्धिविनाशनात्मक पथानुसरण की अपेक्षा शास्त्रैकशरणतामूला आप्तोपदेशपरम्परा की अनन्य आस्थाश्रद्धपूर्वक अनुगति ही इस दिशा में सफलता प्राप्त करने की एकमात्र अजिह्मा-अकुटिला राजपद्धति है, निष्कण्टक राजपथ है। इस सामयिक आवेदन को लक्ष्य बना कर ही सहृदय पाठकों को प्रस्तुत निबन्ध की आलोचना–प्रत्यालोचना, किंवा अनुगमन–विरोध में प्रवृत्त होना चाहिए।

(२५)—श्रद्धेय विद्वानों का व्यामोहन—

पारम्परिक आम्नाय के विलुप्तप्राय हो जाने से केवल अङ्गशास्त्रभक्त-व्याकरण-न्याय-साहित्यनिष्ठ भारतीय विद्वान् भी इस दिशा में इस नैगमिक भावुकता-निष्ठा-मीमांसा की पारम्परिक उपयोगिता से आज पराङ्मुख बन गए हैं। उनकी दृष्टि में भी यह मीमांसा एक समस्या प्रमाणित हो सकती है, जैसे कि पूर्वघटित यात्राप्रसङ्गों में हीं इस स्थिति का भी साक्षात्कार हो चुका है।

घटना का स्थान–समय विस्मृत है, किन्तु घटना अद्यावधि स्मृतिपटल पर जागरूक बनी हुई है। किसी स्थान–अवसर–विशेष में विशेष प्रसङ्ग के माध्यम से तत्रोपस्थित कतिपय सहयोगियों से इसी विषय का प्रसङ्ग प्रक्रान्त बन रहा था। वहीं हमारे राजपत्तनप्रान्त के एक वयोवृद्ध पूर्ण अनुभवी संस्कृतज्ञ विद्वान् भी समुपस्थित थे, जिनका वात्सल्य प्रेम हमें सहज रूप से ही सम्प्राप्त था, एवं जिनके प्रति हमारी श्रद्धा शाश्वतीभ्यः समाभ्यः अजस्त्ररूप से प्रवाहित है। कर्णाकर्णिपरम्परया ऐसा सुना गया कि, किसी समय उन्होंनें अपने कुलयजमानों के (एवं हमारे सहयोगियों के) प्रति इत्थंभूत उद्गार प्रकट करने का अनुग्रह किया कि,—"हमनें तो अद्यावधि किसी ग्रन्थ में निष्ठा–भावुकता की ऐसी व्याख्या देखी सुनी नहीं। विदित नहीं, ये बच्चे कैसे इस प्रतारणा के अनुगामी बन जाते है। निष्ठा और भावुकता, भावुकता और निष्ठा, रूप यह व्यामोहक जाल हमें तो व्यामोह में ही डाल रहा है—इत्यादि"। श्रद्धेय वयोवृद्ध पण्डितजी महाराज से तो इस श्रुतोपश्रुता आलोचना के सम्बन्ध में उनके सम्मान को सर्वात्मना सुरक्षित रखने की कामना से इससे अधिक और क्या निवेदन किया जा सकता है कि, यदि कभी साक्षाद्रूप से हम पर उनका अनुग्रह होता तो, हमें यही निवेदन करना पड़ता कि, भगवन्! भावुकता और निष्ठा ही क्या, वाङ्मयप्रपञ्चात्मक समस्त शब्दशास्त्र ही केवल बालकों का उपलालनमात्र ही तो है। **वाचो विग्लापनं हि तत्।** प्रसिद्ध ही है कि—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

—भर्तृहरिः (वाक्यपदी)

आलप्यालमिदम्। हाँ, सहयोगी सहृदय पाठकों से इस सम्बन्ध में यह सामयिक आवेदन कर देना अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होगा कि, बिना शब्दप्रमाण के केवल लौकिक–वाचिक–हेत्वाभासमूलक मान्यभाव के आधार पर कभी किसी भी पारलौकिक–लौकिक मान्यता के प्रति अन्धःश्रद्धापूर्वक गतानुगतिकता के आवेश में आकर आस्था नहीं कर लेनी चाहिए। मानव की, विशेषतः विविध मतवाद-समाकुलित वर्त्तमानयुग के स्खलित–चलितप्रज्ञ मानव की सहज भावुकता को समाकर्षित करने में सहज कुशल आज के प्रवञ्चनापथनिपुण कौशलतत्त्ववेत्ताओं नें सम्पूर्ण क्षेत्रों में अनुरञ्जनात्मक–व्यामोहक उस

प्रकार के आविष्कारों का सर्जन कर लिया है, जिनके तात्कालिक सामयिक प्रभाव से प्रभावित होकर, दूसरे शब्दों में 'प्रत्यक्षस्थिति' से प्रभावित हो कर भावुक मानव सर्वात्मना लक्ष्यच्युत बन जाया करता है।

"भारतीय हिन्दू मानव अपने विलुप्त-विस्मृतप्राय नैगमिक निष्ठापथ पर आरूढ़ बने, मानव की सहज भावुकता पलायित हो, नैगमिक निष्ठा के द्वारा मानव अपने ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय निःश्रेयस् का सफल भोक्ता प्रमाणित हो, एकमात्र इसी उद्बोधनोद्देश्य से असदाख्यानमाध्यम से प्रस्तुत सामयिक निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है, जिसे अथ से इति-पर्य्यन्त लक्ष्य बना कर ही मानव निष्ठापथानुसरण में समर्थ बन सकता है।"

भावुकतास्वरूपसंग्राहक कृष्णार्जुन–प्रश्नोत्तरविमर्शात्मक जिस ऐतिहासिक असदाख्यान को आधार बना कर प्रस्तुत निबन्ध उपक्रान्त हो रहा है, उस असदाख्यान के समन्वय के लिए विविध दृष्टिकोणों को लक्ष्य बनाया गया। आख्यान–माध्यम से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई कि, मानव, भारतीय मानव, तत्रापि आस्तिक हिन्दूमानव जहाँ अपनी भावुकता से वर्त्तमानयुग में आद्यन्त का दुःखी प्रमाणित हो रहा है, वहाँ संघर्षनिष्ठ एतद्देशीय इतर मानवसमाज (यवनादयः); एवं परदेशीय मानव संघर्षात्मिका निष्ठा के अनुग्रह से ऐहिक सुखसाधन–परिग्रह (मात्र) से संयुक्तवत् प्रतीत हो रहे हैं। अर्जुन, किंवा पाण्डव जहाँ इसी प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से लोकसुख से वञ्चित बन गए थे, वहाँ दुर्य्योधनप्रमुख कौरव परिस्थितिप्रभावमूला लोकनिष्ठा से सुसमृद्धवत् बन गए थे। इस आख्यानविजृम्भण के आधार पर ही अन्ततोगत्वा सर्वप्रथम हम अपनी प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के आधार पर इस प्रश्न का सर्जन कर रहे हैं कि—

(२६)—निबन्ध के मीमांस्य विषयों की रूपरेखा—

"विश्वेश्वर के शरीररूप विश्व में निवास करने वाला, विश्वेश्वर की ज्ञान–क्रिया–अर्थ-शक्तियों से परिपूर्ण भी बना रहता हुआ प्रज्ञाशील भी मानव दुःखी क्यों ?"

उक्त सहज प्रश्न का निरूपित 'असदाख्यान' के माध्यम से सहजरूप से यही समाधान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि—**"सर्वशक्ति–सर्वसाधनपरिग्रहसम्पन्न भी विश्वमानव एकमात्र प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से ही आद्यन्त का दुःखी बना रहता है"**। इस प्रश्नोत्तरविमर्श के माध्यम से हमारे सम्मुख **१–विश्व, २–भावुकता, ३–मानव, ४–दुःख,** ये चार तन्त्र मुख्यरूप से उपस्थित हो जाते है। ये चारों ही शब्द सर्वथा सापेक्ष हैं। 'विश्व' शब्द के साथ विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर का स्वरूप अपेक्षित बना हुआ है, 'भावुकता' शब्द के साथ 'निष्ठा' शब्द का स्वरूपार्थ अपेक्षित बना हुआ है। 'मानव' स्वयं ग्राम्यपशु है, जैसा कि असदाख्यानमीमांसा के आरम्भ में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। ग्राम्यपशुता ही मानव की 'सामाजिकता' है, इसी आधार पर मानव 'सामाजिकप्राणी' माना गया है। कुटुम्ब–जाति–समाज–राष्ट्र–आदि भेद से सामाजिक मानव के साथ अनेक अपेक्षाभाव न्यूनाधिकरूप से सम्बद्ध हैं। 'दुःख' शब्द भी अपने प्रतिद्वन्द्वी 'सुख' शब्द की नित्य अपेक्षा रख रहा है।

इस प्रकार विश्वादि चारों हीं शब्द नित्य सापेक्ष बनते हुए अपने अपेक्षित क्रमशः **१-विश्वात्मा-२-निष्ठा-३-समाज-४-सुख** इन चारों शब्दों की तात्त्विक मीमांसा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

उक्त चार मुख्य मीमांसाओं के अतिरिक्त निबन्ध के मुख्य प्रतिपाद्य निष्ठा-भावुकता-द्वन्द्व का लौकिक-व्यावहारिक-समन्वय भी सर्वथा आपेक्षिक बन जाता है, जिसके आधार पर ही सर्वथा लोकसूत्रों, लौकिक व्यवहारों के माध्यम से मानव की भुक्त-प्रक्रान्त दैनिक जीवनधारा व्यवस्थित (निष्ठा से), किंवा अव्यवस्थित (भावुकता से) बनती रहती है। तदित्थं, निबन्ध के अन्यान्य प्रासङ्गिक गौण विषयों के साथ साथ निम्नलिखित पाँच तत्त्वमीमांसाएं मुख्य बन जातीं हैं, जिन्हें लक्ष्य बना कर ही हमें निबन्ध के बाह्यशरीर का निर्म्माण करना है—

१—विश्वेश्वर समन्वित–विश्व की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
२—निष्ठासमन्वित——भावुकता की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
३—समाजसमन्वित——मानव की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
४—सुखसमन्वित——दुःख की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
५—लोकनिष्ठासमन्वित--लोकभावुकता को व्यावहारिक स्वरूपमीमांसा

किंवा—

१—विश्वस्वरूपमोमांसा (क्रमप्राप्त द्वितीयस्तम्भ)
२—भावुकतास्वरूपमीमांसा (तृतीयस्तम्भ)
३—मानवस्वरूपमीमांसा (चतुर्थस्तम्भ)
४ – दुःखस्वरूपमीमांसा (पञ्चमस्तम्भ)
५—लौकिकभावुकतास्वरूपमीमांसा (षष्ठस्तम्भ)

निष्कर्षतः—

१—असदाख्यानस्वरूपमीमांसा	(१-स्तम्भ)	प्रथमखण्ड १
२—विश्वेश्वरविश्वस्वरूपमीमांसा	(२-स्तम्भ)	
३—निष्ठाभावुकतास्वरूपमीमांसा	(३-स्तम्भ)	द्वितीयखण्ड २
४—समाज–मानवस्वरूपमीमांसा	(४-स्तम्भ)	
५—सुखदुःखस्वरूपमीमांसा	(५-स्तम्भ)	तृतीयखण्ड ३
६—लौकिकनिष्ठा–भावुकतास्वरूपमीमांसा	(६-स्तम्भ)	
*—संदर्भसंगति, और निबन्धोपराम	(७-स्तम्भ)	

सैषा खण्डत्रयात्मकस्य सामयिकनिबन्धस्यास्य स्वरूपदिशा, रूपरेखा वा

सप्तस्तम्भात्मक सामयिक उद्बोधनभावापन्न प्रक्रान्त निबन्ध के सात स्तम्भों में से प्रथम-खण्डान्तर्गत **१–असदाख्यानमीमांसा** नामक प्रथम स्तम्भ उपरत हुआ। अब क्रमप्राप्त प्रथमखण्डान्तर्गत **२–'विश्वस्वरूपमीमांसा'** नामक द्वितीय स्तम्भ की तात्त्विकमीमांसा की ओर ही नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। नैगमिक रहस्यपूर्ण परिभाषाओं की विलुप्ति से अवश्य ही विश्वस्वरूप-मीमांसा आरम्भ में अमुक सीमापर्य्यन्त जटिलवत् प्रतीत हो सकती है। किन्तु निष्ठाबुद्धिसमन्विता अवधानता से क्रमबद्ध यदि विषय को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह हुआ, तो असंदिग्धरूपेण सभी मीमांस्य पारिभाषिक विषय सुसमन्वित हो जायँगे, इसी अभ्यर्थना के साथ प्रथमखण्डान्तर्गत यह प्रथम स्तम्भ उपरत हो रहा है।

उपरता चेयं—

निबन्धोपक्रमाधारभूता–प्रथमखण्डान्तर्गता—

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

— १ —

उपरता चेयं—

निबन्धोपक्रमाधारभूता-प्रथमखण्डान्तर्गता—

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

— १ —

श्री:

'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गता—

'विश्वस्वरूपमीमांसा'

प्रथमखण्डान्तर्गता

(विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा)

नामक

द्वितीयस्तम्भ

२

श्रीः

अथ सामयिकनिबन्धेऽस्मिन्–'विश्वस्य तात्त्विकस्वरूपमीमांसा'

(विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा)

द्वितीयस्तम्भ

२

(१)–मांगलिक संस्मरण—

१—किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

२—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

३—पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्म्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥

४—य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

५—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

६—छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥

७—य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

८—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥

९—एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ।

(२)—असदाख्यानानुगत सिंहावलोकन, एवं विषयोपक्रम—

महाभारतयुगानुगत असदाख्यान के माध्यम से पूर्व के प्रथमस्तम्भ में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि,—**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'**–**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**–**'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार विश्वेश्वर की सम्पूर्ण शक्तियों के प्रवर्ग्यांश का भोक्ता मानव सहजरूप से परि-पूर्ण–सर्वशक्तिसम्पन्न बना रहता हुआ भी एकमात्र उस भावुकता के निग्रहानुग्रह से ही उत्पीड़ित बना रहता है, जिस भावुकता का मानवीय मन की दुर्बलता से, एवं सहज निष्ठाबुद्धि की उपेक्षा से समय समय पर उदय होता रहता है। मानवीय मनकी इस दुर्बलता का कारण क्या ?, साथ ही सहजनिष्ठाबुद्धि के अभिभव का कारण क्या ?, क्यों परिपूर्ण भी मानव सहसा मनस्तन्त्रानुबन्धिनी भावुकता का अनुगामी बनता हुआ लक्ष्यच्युत बन जाता है ?, इत्यादि प्रश्नों की स्वरूपमीमांसा के लिए यह अनिवार्य्यरूप से आवश्यक है कि, सत्त्व–रजस्तमोभावसमाकुलित–त्रिवृद्भावापन्न–षोडशान्त–शतार्द्धार–पञ्चस्रोतात्मक–पञ्चयोन्युग्रवक्र–पञ्चप्राणोर्म्मिसमन्वित–पञ्चावर्त्त–पञ्चाषड्भेदभिन्न–मायामय उस पाञ्चभौतिक **विश्व की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा** का समन्वय कर लिया जाय, जिसके आधार पर ही तथाकथित प्रश्नों का समसमन्वय सम्भव है। **'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'** इत्यादि गौतमीय सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूप के तात्त्विक बोध पर ही अभ्युदय–निःश्रेयस् सम्भव है। त्रिगुणात्मक विश्व के नैगमिक तात्त्विक स्वरूप के बोधमाध्यम से मानव की भावुकता के साथ साथ अन्यान्य कई एक सम–विषम समस्याएँ क्योंकि समाहित बन जातीं हैं। अतएव **'असदाख्यानमीमांसा'** नामक प्रथमस्तम्भ के अनन्तर ही **' विश्वस्वरूप-मीमांसा '** विश्वेश्वर के माङ्गलिक संस्मरण के साथ उपक्रान्त हो रही है। समस्या का सम्बन्ध उस मानव के साथ है, जिसका प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण–स्थान सप्तवितस्तिपरिमाणात्मक–सप्तभुवनात्मक–पाञ्चभौतिक-मायामय विश्व है। अतएव **'सम्पूर्ण साधन–परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वगर्भीभूत मानव दुःखी क्यों ?'** प्रश्न के समाधान में प्रवृत्त होते हुए यह सर्वथा सामयिक है कि, दुःखकारणता की मीमांसा. के पहिले मानव के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण–लक्षण उस विश्व के तात्त्विक (वेदसम्मत) स्वरूप की संक्षिप्त स्वरूपदिशा पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दी जाय, जिससे अनेक समस्याओं का स्वतः एव समन्वय हो जाता है।

(३)—विश्व शब्द का निर्वचनार्थ—

प्रवेशनार्थक 'विश' धातु (तु० प० अ०) से **'क्वुन्'** प्रत्यय द्वारा निष्पन्न विश्व शब्द के **'विशत्यत्र आत्मा, तद् विश्वम्'** इत्यादि निर्वचनानुसार जिस पाञ्चभौतिक महिमलक्षण विवर्त्त में आत्म-देवता प्रविष्ट रहते हैं, वही 'जहाँ आत्मा प्रविष्ट रहता है' इस भाव से **'विश्व'** कहलाया है। यह है विश्वशब्द का सामान्य–सहजस्वरूपनिर्वचन, जिसे मूल बना कर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप की

मीमांसा में प्रवृत्त होना है। विश्वशब्द का विशति-भावात्मक यह निर्वचन * आगमानुगत है, जिसका निगम के साथ समन्वय माना जा सकता है। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तैत्तिरीयोपनिषत् २।६।) इत्यादि निगमवचन "अपने चर भाग से उसे उत्पन्न कर वह उसी में आधाररूप से प्रविष्ट हो गया" इत्यादिरूप से आगमीय **'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्'** इस सिद्धान्त का उपोद्बलक बन रहा है।

उक्त निर्वचन के अतिरिक्त विश्व शब्द का दूसरा तात्त्विक अर्थ एक विशेष दृष्टिकोण से **'सर्व'** भी है, जैसाकि—÷**विश्वानि देव०'** इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इसी मन्त्रप्रामाण्य के आधार पर **ब्राह्मणश्रुति** ने भी विश्वशब्द का—**'यद्वै विश्वं, सर्वं तत्'** (शत० ब्रा० ३।१।२।११।) यह निर्वचन **किया है।** एकत्त्व जहाँ आत्मनिबन्धन है, वहाँ अनेकत्त्व विश्वनिबन्धन माना गया है। अमृतलक्षण आत्मा अखण्ड है, एकाकी है। मृत्युलक्षण क्षरात्मक विश्व खण्ड—खण्डात्मक बनता हुआ नानाभावापन्न **है, जैसा कि—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति'** (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।१६।) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। परस्परात्यन्त्यविरुद्ध बलनिबन्धन—दिग्देशकालसीमित—योगमायात्मिका विष्णु-माया से अनुगृहीत—असंख्य—अनन्त पदार्थों की समष्टि ही, अनेक पदार्थों का समुच्चय ही तो विश्व है। अतएव विश्वशब्द का अर्थ 'सर्व' मान लिया गया है। इसी आधार पर विद्वानोंनें 'सर्व' शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया है—**'अनेकेषामशेषत्त्वं सार्व्यम्'**। इसी सर्वता का सूचक दूसरा शब्द है— **'कृत्स्न'**। एक ही वस्तु की परिपूर्णता के लिए 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत हुआ है। अतएव कृत्स्न शब्द का **'एकस्य-अशेषत्त्वं कार्त्स्न्यम्'** यह पारिभाषिक अर्थ हुआ है ×।

तात्पर्य्य यही है कि, सामूहिक पूर्णता के लिए 'सर्व' शब्द (सब) प्रयुक्त हुआ है, एवं वैय्यक्तिक पूर्णता के लिए 'कृत्स्न' शब्द (पूरा) प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए ११४४ शाखाओं में विभक्त वेद के समूह को (शाखासमूह को) 'सर्व' शब्द से व्यहृत किया जायगा, जैसा कि—**'सर्वे वेदा यत्-पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति'** (कौषी०उप० ५।१५।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। प्रत्येक शाखा की पूर्णता के लिए वैय्यक्तिकभावनिबन्धन 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत किया जायगा, जैसाकि—**वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना'** (मनुस्मृति, २।१६५।)) इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

*** विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं ब्रह्ममायया ॥**
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्त्तिना ॥
—भागवत ३।१०।१२।

÷ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥(यजु.संहिता ३।२०) **(विश्वानि—सर्वाणि दुरितानि परासुव)।**

× लोकभाषा (हिन्दी) में 'सर्व' के लिए **'सब'** शब्द, एवं कृत्स्न के लिए **'पूरा'** शब्द प्रयुक्त हुआ है। अनेक पदार्थों, किंवा अनेक व्यक्तियों के समूह के लिए 'सब' बोला जाता है, एवं एक ही वस्तु की पूर्णता के लिए 'पूरा' शब्द व्यवहार में आता है।

वैयक्तिक परिपूर्णता को ही लक्ष्य में रखकर श्रुति में—**"सोऽस्य कृत्स्नोऽमुष्मिँल्लोके आत्मा भवति"** (शत०ब्रा० ३।८४।३७) इस प्रकार आत्मा के लिए 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार **'स कृत्स्न एव देवानां हविरभवत्'** (शत० ३।६।४।१३) इस बचन के द्वारा भी एक हविः—पदार्थ की पूर्णता के लिए ही 'कृत्स्न' शब्द प्रयुक्त हो रहा है। अन्यत्र उभयविध (सामूहिक, एवं वैय्यक्तिक) परिपूर्णता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने **'सर्वः—कृत्स्नः-मन्यमानोऽगायत्, तस्मादग्निर्गायत्रः'** (शत० ६।१।१।१५।) इस रूप से दोनों भावों के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।

वक्तव्य यही है कि, सर्व शब्द उस तत्त्व का संग्राहक बन रहा है, जिसमें व्यष्टि—समष्ट्यात्मक सम्पूर्ण भाव समाविष्ट हैं। **षोडशकल प्रजापति** (शत० १३।२।२।१३)—**विश्वेदेव** (गोपथ ब्रा० पू०५।१५)—**आपोमय अथर्ववेद** (गो०पू० ५।१५)—**दक्षिणा** (५।१५।)—**एकविंशस्तोम** (५।१५)—**अनुष्टुप्छन्द** (५।१५)—**लोक और दिशा** (शत० ६।५।२।२।१३)—**अनिरुक्तभाव** (शत० १।३।५।१०।)—**अक्षय्य** (शत० १।६।१।१६)-**रूप और नाम**–(शत० ११।२।३।६) इत्यादि तत्त्व समष्टि के संग्राहक बनते हुए 'सर्व' शब्द से ही निगमशास्त्र में व्यवहृत हुए हैं। सर्वार्थक विश्व शब्द आत्मप्रवेशापेक्षया सापेक्ष शब्द है। अतएव 'विश्व' शब्द **'विश्व'** और **'विश्वात्मा'** दोनों का संग्राहक बना हुआ है। ÷ विश्वात्मा त्रिसंस्थ है, विश्व एकसंस्थ * है। तीन, और एक, इन चार संस्थाओं की (विश्वसंस्था एवं, त्रिकल विश्वात्मसंस्था की) समष्टि ही विश्व की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा है। इसी आधार पर—**'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** (कौ० ब्रा० २।१) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिसे मूल बना कर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप का समन्वय करना है।

(४)—आत्मबोध की नैगमिक परिभाषा—

'स्वात्मावबोधादपरं न किंचित्' × इस दार्शनिक सूक्ति का यदि यह अर्थ है कि, "सापेक्ष-भावापन्न 'आत्मा' शब्द की प्राकृतिक अपेक्षा को कृत्स्न बनाने वाला आत्मावरणरूप पाञ्चभौतिक विश्व

÷—**"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।**
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥"
—यजुःसंहिता। ३१।४।

*—**"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन!**
विष्टभ्याहमिदं 'कृत्स्न' मेकांशेन स्थितो जगत्॥"
—गीता १०।४२।

×—**इतो न किञ्चित्, परतो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।**
विचार्य्यमाणे तु जगन्न किञ्चित्, स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्॥
—प्राचीनसूक्तिः।

(ईश्वरापेक्षया), एवं पाञ्चभौतिक शरीर–(जीवापेक्षया)–रूप भूतभाग भी आत्मस्वरूपबोध–सीमा में अन्तर्भूत है" तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि निगमविरुद्ध जगन्मिथ्यात्ववाद के काल्पनिक अभिनिवेश से आविष्ट वेदान्तनिष्ठ दार्शनिकों की दृष्टि में उक्त सूक्ति का यह तात्पर्य्य है कि, "पाञ्चभौतिक विश्व, शरीर, भोग, आदि सब कुछ मिथ्या है, असत् है, काल्पनिक है। इनका आत्यन्तिक रूप से परित्याग कर नित्यबुद्ध–शुद्ध–मुक्त–निष्कैवल्य आत्मब्रह्म का बोध ही जीव का परमपुरुषार्थ है" तो हमें आपत्ति ही नहीं है, अपितु पूर्ण आक्रोश है। इसी ÷ अनीश्वरवादमूला वेदान्तनिष्ठा ने भारतीय मानव के सहज–परिपूर्ण–विकास को आत्यन्तिकरूप से अभिभूत कर दिया है। इसी कल्पितवाद ने निगमानुगत प्राकृतिक खण्डात्मवादसमन्वित अखण्डात्मवाद के वास्तविक स्वरूपबोध से आस्तिक भारतीय मानव को वञ्चित करते हुए धार्मिक–लौकिक–विधि–विधानों में पदे पदे संशयशील बना डाला है। इसी मिथ्या कल्पित ज्ञानदृष्टि के अनुग्रह से नैगमिक वह नित्यविज्ञानसिद्धान्त सर्वात्मना अभिभूत हो गया है, जिसके अभाव में भारतीय मानव ने केवल ज्ञानवाद की चर्व्वणा में हीं अपने आपको चर्वित रखते हुए अपना ऐहिक अभ्युदय विसर्जित कर दिया है। इसी आर्षनिष्ठाविरुद्ध दृष्टिकोण ने भारतीय मानव को विश्व-विभूति की ओर से उदासीनवदासीन बनाते हुए इसे संघर्षात्मक जीवनीय रस से पृथक् कर इसे वैसा भावुक बना डाला है, जो भावुकता आज इसके आत्यन्तिक पराभव का कारण प्रमाणित हो रही है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि, प्रस्तुत विश्वस्वरूपमीमांसा–परिच्छेद में सापेक्ष आत्मा के उस ज्ञानविज्ञानोभयनिष्ठ× तात्त्विक स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया जाय, जिसके बिना विश्वस्वरूपमीमांसा असर्व ही बनी रह जाती है। बड़े ही अवधानपूर्वक विश्वाधाररूप आत्मा की स्वरूपमीमांसा से समन्वित इस विश्वस्वरूपमीमांसा को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करेंगे हम आत्मबोधपथानुगत मानवों से। क्योंकि जिस नैगमिक आम्नायानुप्राणित आर्षदृष्टिकोण से यह मीमांसा मीमांसिता होने वाली है, वह आर्षदृष्टिकोण मतवादपरम्परा के आक्रमण से आज विलुप्तप्राय बन चुका है।

(५)—पाञ्चभौतिक विश्व के 'मूल' की जिज्ञासा—

विश्व का मूल कौन ?, प्रश्न नैगमिक महर्षियों के लिए भी जब एक महती समस्या बन रहा है, तो अस्मदादि सामान्य जनों का इस सम्बन्ध में ' इदमित्थमेव ' रूप से निर्णय व्यक्त करने का साहस

÷—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥
—गीता १६।८।

×—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीता ७।२।

केवल धृष्टता ही मानी जायगी। दुरधिगम्य सृष्टिमूल-प्रश्न के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित समस्यापूर्ण ऋषिवचनों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तत्, यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ १ ॥

ऋक्संहिता १०। ८१। ४।

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ २ ॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।९।७ कण्डिका

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ॥
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन् महिना विश्वचक्षाः ॥३॥

—ऋक्संहिता १०।८१।४।२

को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत् , कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः ॥
अर्वागदेवा विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव ॥४॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ॥
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥५॥

—ऋक्संहिता १० मण्डल नासदीयसूक्त (१२९)- ६,७ मन्त्र, एवं तैत्तिरीयब्राह्मण-
२।८।९।५।६, कण्डिका

ऋक्संहिता, तथा तैत्तिरीयब्राह्मण के उक्त पाँच मन्त्रों में बड़ी ही रहस्यपूर्ण गभीरभाषा में विश्व के मूल की जिज्ञासा, एवं समाधान हुआ है। **'किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०'** इत्यादि प्रथम मन्त्र में व्यक्त जिज्ञासा का अक्षरार्थ यही है कि,—'वह ऐसा कौनसा (महा) वन (अरण्य–जङ्गल) था, उस महा अरण्य का वह ऐसा कौनसा महावृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर यह पृथिवी एवं द्यु–रूप विश्व बना दिया गया ? हे मनीषी विद्वानो ! आप अपने मन से ही यह प्रश्न करें कि, जिसने इस प्रकार महावृक्ष से द्यावापृथिवीरूप विश्व के स्वरूप का निर्म्माण कर **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** न्याय से जो इन द्यावापृथिव्य भुवनों को धारण करता हुआ इन का आधार बन कर वृक्षवत् स्थिर बना हुआ है, वह कौन है ? ॥ १ ॥

प्रश्नात्मिका जिज्ञासा हुई ऋक्संहिता में। एवं इसका उत्तर प्राप्त हुआ हमें तैत्तिरीयब्राह्मण के द्वारा। उत्तर कैसा रहस्यपूर्ण है ?, उत्तर से हमारे जैसा साधारण व्यक्ति क्या समझ लेगा ?, यह समस्या भी कम जटिल नहीं है। उत्तरमन्त्र के अक्षरार्थ को लक्ष्य बनाइए। "ब्रह्मरूप ही एक महावन था, उसमें

ब्रह्मरूप ही एक महावृक्ष था, जिसे काट–छाँट कर यह द्यावा–पृथिवीरूप महाविश्व निर्म्मित कर दिया गया। हे मनीषी विद्वानो ! (हमने अपने मन में–अन्तर्जगत् में इस उत्तर की पर्याप्त मीमांसा करली है। उसी को मूल बना कर अपने) मन से ही आज हम यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, ब्रह्म ने ही ब्रह्म से द्यावा-पृथिवीरूप ब्रह्म का निर्म्माण किया है, ब्रह्म ही इसका आधार बना हुआ है, वही मूलप्रतिष्ठा बन रहा है ॥ २ ॥

ऋक्संहिता का एक अन्य मन्त्र (तृतीयमन्त्र) विभिन्न दृष्टिकोण से ही विश्वमूलजिज्ञासामात्र का विश्लेषण करता हुआ कहता है कि,—"इस महाविश्व का अधिष्ठान (आलम्बनकारण, मूलाधार, जिस आधार पर विश्व का निर्म्माण हुआ) क्या था, कैसा था ?। इस विश्व का आरम्भण (आरम्भक–उपादानकारण) क्या था कैसा था ?, एवं कैसे उस अधिष्ठान पर उस आरम्भण से किसने विश्व उत्पन्न कर दिया ?, किंवा इस द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न करते हुए जिस विश्वकर्मा (विश्वरचयिता–विश्व-निर्म्माणकर्त्ता) विश्वचक्षा (विश्वसाक्षी) ने अपनी महिमा से द्युलोक को अनन्ताकाशरूप से वितत कर दिया, उस विश्वनिर्म्माता (निमित्तकारण) का क्या स्वरूप था ?, कैसा स्वरूप था ?" ॥३॥

समस्या का कोई विस्पष्ट समाधान न कर समस्या को अधिकाधिक जटिल बनाती हुई वही ऋक्-संहिता आगे जाकर कहती है कि–"किसने विस्पष्ट रूप से–**'इदमित्थमेव, नान्यथा'** (यह निश्चितरूप से ऐसा ही है, इससे इसी रूप से ऐसा ही बना है) रूप से (इस विश्वमूल–रहस्य का) परिज्ञान प्राप्त किया है ? (अर्थात् किसी ने नहीं किया) । (जैसा भी जिसने जो कुछ इस सम्बन्ध में परिज्ञान प्राप्त किया, वैसा भी) किसने अपने मुख से इस सृष्टिमूलरहस्य का विस्पष्ट स्वरूप वर्णन किया ? (अर्थात् किसी ने नहीं किया) । कहाँ से किस अधिष्ठान पर किस आरम्भण से किसके द्वारा यह सृष्टि आविर्भूत हो पड़ी–आगई ?, यह कौन जान सका है ? (अर्थात् कोई नहीं जान सका है) । (कदाचित् इस सम्बन्ध में यह कहो कि, इन्द्र–वरुण–चन्द्र–अग्नि–सोम–वायु–आदि प्राणदेवताओं से इस सृष्टि का निर्म्माण–विकास हुआ, सो भी इसलिए सर्वथा असङ्गत, अतएव अमान्य है कि) प्राणदेवता तो स्वयं अर्वाक्-(सृष्टि के बहुत पीछे–सृष्टि के–विश्व के गर्भ में उत्पन्न होने वाले) हैं। भला वे कैसे सृष्टि के नाथ (रचयिता, किंवा आधार) माने जा सकते हैं। तत्त्वतः हमें अन्ततोगत्वा इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, यह कौन जान सकता है कि, जहाँ से जिससे जिस उपादान से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है ? (अर्थात् सृष्टिमूलविषयक प्रश्न सर्वथा असमाधेय बनते हुए अनतिप्रश्न ही प्रमाणित हो रहे हैं) ॥४॥

(जब सृष्टिमूलविषयक प्रश्नों का कोई निर्णयात्मक समाधान ही प्राप्त नहीं हो सकता, तो इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो तूष्णीं बन जाना ही श्रेयःपन्था है। यदि **'मुखमस्तीति वक्तव्यम्'** न्याय से कुछ कहने के लिए कोई आतुर ही है, तो वह अधिक से अधिक इस सम्बन्ध में और भी अधिक संशय को दृढ़मूल बनाता हुआ यही असम्बद्ध–अनर्गल–वाणी बोल सकता है कि)—

"यह सृष्टि जिससे प्रादुर्भूत हुई है, सम्भवतः उसी ने इसे धारण कर रक्खा है। अथवा तो सम्भवतः उसने इसे धारण नहीं कर रक्खा है। (अपितु यह स्वयं अपने स्वरूप से अपने आप में ही धृत है), यदि कोई इसका जो भी मूलप्रभव अध्यक्ष–अधिष्ठाता है, जो कि—परमाकाश में प्रतिष्ठित माना जाता हुआ 'परमे व्योमन्' नाम से प्रसिद्ध है, हमें तो यह कहने में भी अणुमात्र भी संकोच नहीं होगा कि, वह स्वयं सृष्टिकर्त्ता भी अपनी सृष्टि के इस मूलरहस्य को, सृष्टि कैसे–कब–किससे–किस पर बनी ? इस प्रश्न के निर्णयात्मक उत्तर को जानता है, अथवा नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा है यह दुरधिगम्य सृष्टिमूलविषयक जटिल प्रश्न" ॥ ५ ॥

(६)—मूलजिज्ञासासमाधान का मूलाधार—

क्या वास्तव में सृष्टिमूल ऐसा दुरधिगम्य है, जिसके सम्बन्ध में महर्षि को ये अप्रत्याशित उद्गार प्रकट करने पड़े कि–"**स्वयं सृष्टिकर्त्ता भी इस रहस्य को जानता है, अथवा नहीं; यह नहीं कहा जा सकता**" सर्वप्रथम इसी दृष्टिकोण की मीमांसा कीजिए। ऋषि के इन उद्गारों का क्या अभिप्राय ?, इस प्रश्न की मीमांसा में प्रवृत्त होने के साथ ही उन दो इच्छाविवर्त्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, जो क्रमशः '**उत्थिताकांक्षा**' एवं '**उत्थाप्याकांक्षा** नामों से प्रसिद्ध है। आत्माधारेण प्रतिष्ठिता विद्याबुद्धि-सहकृता सत्त्वगुणान्विता स्थिरप्रज्ञा से संयुक्त मन की सहज–प्राकृतिक इच्छा ही 'उत्थिताकांक्षा' कहलाई है, जिसके लिए '**कामना**'—'**काम**' शब्दप्रयुक्त हुआ है। आत्माधारवञ्चिता अविद्याबुद्धिसमन्विता रजस्तमोगुणान्विता अस्थिरप्रज्ञा से युक्त मनकी कृत्रिम–वैकारिक इच्छा ही 'उत्थाप्याकांक्षा' है, जो '**लालसा-लिप्सा-एषणा-इच्छा**–' इत्यादि नामों से यत्रतत्र प्रसिद्ध हुई है। '**अपने आप उठी हुई कामना**' ही उत्थिताकांक्षा है। एवं '**वासना की प्रेरणा से उठाई हुई इच्छा**' ही उत्थाप्याकांक्षा है।

कामनालक्षणा उत्थिताकांक्षा सहजसिद्धा है, नित्या है। इस कामना के सम्बन्ध में–कब ? किससे ?, कहाँ ?, कैसे ?, क्यों ?, इत्यादि प्रश्न सर्वात्मना असङ्गत हैं। क्योंकि यह कामना उस आत्मा से सम्बन्ध रखती है, जो प्रकृति के साथ समन्वित रहता हुआ भी तत्त्वतः प्रकृति से परे है, अतएव 'पर' (अव्यय) नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति से 'पर' विद्यमान आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में तर्क–प्रश्नादि का प्रवेश निषिद्ध * है। प्राकृतिक विश्वसीमामें दोनों इच्छाएँ प्रकान्त बनीं रहतीं हैं। इनमें परेच्छा (अव्ययात्मेच्छा) नित्या है, सहजसिद्धा है। अतएव वह अमीमांस्या है। सहजकामनालक्षणा इस ईश्वरेच्छा का विचार-विमर्श स्वयं इच्छाकर्त्ता ईश्वर को भी क्यों होने लगा। विमर्श होता है कृत्रिमता में, लोकनिबन्धना मान-सेच्छा में।

---

* अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥
—प्राचीनसूक्तिः।

महामायाशबलित मायी अव्ययेश्वर के केन्द्रीय रसबलात्मक हृद्य 'श्वोवसीयस्' नामक आत्ममन की कामना–सहजेच्छा–से बलपरम्परा रसाधाररूपेण नैसर्गिकभाव से ग्रन्थिबन्धन–ग्रन्थिविमोक–लक्षणा सिसृक्षा (सृष्टि–इच्छा)–मुमुक्षा (मुक्ति–इच्छा) के द्वारा व्यक्त–अव्यक्तरूप में परिणत होती रहती है, जिस इस सहज व्यक्ताव्यक्त–पुनः व्यक्त–पुनः अव्यक्तादिपरम्परा में सम्वत्सरानुगत दिग्देशकालचक्रवयी का कोई नियमन नहीं है। सहज स्वभाव है यह बलपरम्परा का, जिस परम्परा की मूलभूता सिसृक्षा-मुमुक्षा से अनुप्राणित सर्ग और लयपरम्परा के सम्बन्ध में कब ?, कैसे ?, कब तक ?, किससे ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकते। सहजेच्छानुसार हमें बुभुक्षा लगती है, सहजभाव से प्रातः भोजन कर लेते हैं। इसी सहजेच्छा से सायङ्काल का भोजनकर्म्म सम्पन्न बन जाता है। विश्रामेच्छा से शयन में प्रवृत्त हो जाते हैं। इत्यादिरूप से हमारे सहजेच्छानिबन्धन सभी सहज कर्म्म सहजरूप से **'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** रूप से प्रक्रान्त बने रहते हैं। इन सहज कर्म्मों के सम्बन्ध में कभी कब इच्छा हुई ?, किसने इच्छा की ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित नहीं होते। होता सब कुछ इच्छापूर्वक (उत्थिताकांक्षारूपा कामना-पूर्वक) ही, सर्वथा व्यवस्थित–मर्य्यादितरूप से ही। किन्तु इच्छा करने वाले स्वयं हम भी इस इच्छा के-सहज कामना के–सम्बन्ध में कभी उक्त प्रश्न–जिज्ञासा–समाधानादि के अनुगामी बनते हैं, ऐसा कभी अनुभव नहीं होता। अतएव हम अपनी इस सहजेच्छा के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि,–"जो हम इस इच्छा के अध्यक्ष–मूलप्रवर्त्तक हैं, वे हम भी इस इच्छानुगत इन सर्गप्रश्नपरम्पराओं को जानते हैं, अथवा नहीं जानते, यह कौन कह सकता है"। इस प्रकार इस कामनालक्षणा सहज इच्छा के–**'याथातथ्येनार्थान् व्यदधात्–शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'** (ईशोपनिषत्) इत्यादिरूप से शाश्वत सहजभाव को व्यक्त करने मात्र के अभिप्राय से ही ऋषि ने **"योऽस्याध्यक्षः परमेव्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद"** ये उद्‌गार प्रकट किए हैं। जिनका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि, 'स्वयं विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर भी जानते हैं, अथवा नहीं, इसमें सन्देह है'। क्योंकि अन्य श्रुतियों के द्वारा शतधा सहस्रधा इस सहज कामना का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। कामनारूपा सहजेच्छा ही अपने सहजभाव के कारण **'निष्कामभाव'** कहलाया है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, **"निष्कामकर्म्म किया नहीं जाता, अपितु निष्काम कर्म्म तो होता है"**। यही गीताप्रतिप्रादित बुद्धियोगरहस्यार्थ है। ऐसी कामनालक्षणा इच्छा आसक्तिपाशबन्धन से असंस्पृष्टा रहती हुई सर्वथा अबन्धना है, जबकि इच्छालक्षणा एषणा आसक्तिपाशबन्धनप्रवर्त्तिका बनती हुई सबन्धना घोषित हुई है। इन दोनों सहज–कृत्रिम-कामना–इच्छातन्त्रों के स्वरूपभेद को लक्ष्य बना कर ही हमें मन्त्रोक्त सृष्टिमूल की मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए।

(७)—सृष्टिमूलानुगता पञ्चमन्त्रस्वरूपदिशा का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय—

(१–२)—"किस महावन के किस महावृक्ष को काट–छाँट कर द्यावापृथिवीरूप महाविश्व बना दिया गया" ?, यह प्रश्न हुआ है ऋक्संहिता में, जिसका उत्तर इस रूप से उपलब्ध हुआ है हमें तैत्तिरीयब्राह्मण में कि—"ब्रह्मरूप महावन के ब्रह्मरूप महावृक्ष को काट–छाँट कर ही द्यावापृथिवीरूप

महाविश्व विनिर्म्मित हुआ है" । निश्चित ही प्रश्न, और उसका निश्चित ही समाधान । किन्तु प्रश्न भी रहस्यपूर्ण, एवं समाधान भी रहस्यपूर्ण, जिस रहस्यात्मिका प्रश्नोत्तरपरम्परा का सम्बन्ध उस **'ब्रह्माश्वत्थविज्ञान'** के साथ है, जिसके सम्बन्ध में उपनिषदों में यह घोषणा हुई है कि—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषत् ५।१।

"अपने मूल को ऊर्ध्वभाग * में अवस्थित रखने वाला यह ब्रह्माश्वत्थ÷ वृक्ष सनातन है । वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है । अमृत–ब्रह्म–शुक्रमूर्त्ति उसी सनातन अश्वत्थवृक्ष के आधार पर सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं । कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता" इस अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्माश्वत्थविद्या ही वेद की वास्तविक विद्या है, जिसका सम्यक् बोध प्राप्त करने वाला ही स्मार्त्ती उपनिषत् में 'वेदवित्' कहलाया है × । यही वह महावृक्ष है, जिसकी सहस्रवल्शा (शाखा) मानीं गई हैं, एवं जिसकी एक एक वल्शा एक एक स्वतन्त्र विश्व है । सहस्र स्वतन्त्र वल्शेश्वररूप उपेश्वरों की समष्टिरूप मायी महेश्वररूप एक अश्वत्थ वृक्ष जिस महावन के एक प्रदेश में अवस्थित है, वही विश्वातीत–मायातीत–परात्परब्रह्म नामक वह महावन है, जिसमें महामायावच्छिन्न–सहस्रवल्शामूर्त्ति–असंख्य अश्वत्थवृक्ष समाविष्ट हैं । सर्वमिदमानन्त्यम्, सर्वमिदमानन्त्यम् ।

सर्वबलविशिष्ट रसैकघन मायातीत अद्वय–विश्वातीत **'परात्परपरमेश्वर' ही महावन है** । तत्र प्रतिष्ठित असंख्य–अगणित **'मायी महेश्वर' ही महावृक्ष हैं** । प्रत्येक मायी महेश्वर की सहस्र शाखाओं में से **'पंचपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा'** नाम से प्रसिद्ध एक एक शाखा से अनुप्राणित स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–इन पाँच पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप एक एक उपेश्वर ही वह हमारा मीमांस्य

* वृत्ताकार मण्डल में **परिणाह** (बहिर्म्मण्डल–घेरा–परिधि), **विष्कम्भ** (व्यास), एवं **हृदय** (केन्द्र) ये तीन छन्द प्रतिष्ठित रहते हैं । इनमें हृदय ही परिणाहरूपा परिधि की अपेक्षा 'ऊर्ध्व' माना गया है । 'ऊर्ध्वमूल' का अर्थ है 'केन्द्रमूल' । **'प्रजापतिश्चरति गर्भे–तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'** से भी हृदय ही ऊर्ध्वमूल प्रमाणित है ।

÷—कर्म्माश्वत्थ का योगमायावच्छिन्न प्राणिशरीरों के कर्म्मभोग से सम्बन्ध है, एवं ब्रह्माश्वत्थ का महामायावच्छिन्न पाञ्चभौतिक विश्वरूप विश्वेश्वर के सप्तवितस्तिकायात्मक शरीर से सम्बन्ध है ।

×—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता० १५।१।)

विश्व है, जिसके मूलान्वेषण में प्रवृत्त होने का हम दुःसाहस ही क्या, असम्भव साहस करने की धृष्टता कर रहे हैं। परात्परत्नरूप विश्वातीत ब्रह्म **किंस्विद्वनम्** ? का उत्तर है। सहस्रबल्शात्मक अश्वत्थब्रह्म **क उ स वृत्त श्रास ?** का समाधान है। एवं एकवल्शात्मक विश्व **'यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः'** की स्वरूपव्याख्या है, एवं यही विश्वमूलविषयक पांचों मन्त्रों में से प्रथम–द्वितीय–मन्त्रों की तत्त्वपूर्णा रहस्यदिशा की रूपरेखा है।

(३)—तृतीय मन्त्र की स्वरूपदिशा स्पष्ट है। प्रत्येक नवीन निर्म्माण में, नवीन कार्य्य में आधार, निमित्त, उपादान, विविधचेष्टा, आदि अनेक कारणों की अपेक्षा मानी गई है। कार्य्य के प्रति एक कारण को कारणता नहीं हैं। अपितु **'कारणसमुदायस्य कार्य्यं प्रति कारणत्वम्'** के अनुसार प्रत्येक कार्य्य के स्वरूपसम्पादन के लिए अनेक कारण अपेक्षित बना करते हैं। उदाहरण के लिए लोकप्रजापति (कुम्भकार–घटादिनिर्म्माता कुम्हार) के घटकार्य्य को ही लक्ष्य बनाइए। जिस पार्थिव धरातल पर लौहकीलानुगत अलातचक्र (कुम्हार का चाक) प्रतिष्ठित रहता हुआ द्रुतवेग से परिभ्रमण करता रहता है, उस लौह कीलक का आधार पार्थिव धरातल भी घटकार्य्य का कारण बना हुआ है। स्वयं अलातचक्र भी कारण है। प्रजापति की कारणता तो स्पष्ट है ही। चक्रविवर में समाविष्ट दण्ड भी कारण है। चीवर (वस्त्र की लीर), सूत्र (जिससे चक्रस्थित मृण्मय घटादिपात्र पृथक् कर भूमि पर रख दिए जाते हैं) भी कारण है। जिस मिट्टी से घट बनता है, उसकी कारणता तो प्रत्यक्षतम है ही। मिट्टी को पिण्डमान बनाने वाले पानी की भी कारणता स्पष्ट है। मिट्टी को अन्य स्थान से वहन कर लाने वाला रासभराज (गर्दभ) भी कारणता से पृथक् नहीं किया जा सकता। जिस वायु–आतप (धूप) से घड़े शुष्क बनते हैं, उन वायु–आतपभावों को भी कारणसीमा में ही अन्तर्भूत माना जायगा। जिस अलाव (हाव) में प्रचण्डाग्नि से घटकपालध्वंसपूर्वक घटकपालों को परिपक्व कर घट का अन्तिम कार्य्य सम्पादन किया जाता है, उस अलाव–ताप को भी कारण माना ही जायगा। इस प्रकार अनेक कारणों के एकत्र समन्वित होने पर ही 'घट' रूप एक कार्य्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। तृतीय मन्त्र ने 'विश्व' कार्य्यरूप इस एक कार्य्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक कारणों में से कुछ एक मुख्य कारणों की ही जिज्ञासा अभिव्यक्त की है, जिसका लोकप्रजापति की उक्त कारणता के माध्यम से निम्नलिखित रूप से समन्वय किया जा सकता है।

घट के निर्म्माणकार्य्य में एकान्ततः स्थिरभावापन्न पार्थिव धरातल, एवं अवयवदृष्ट्या अस्थिर, अवयवी की दृष्टि से स्थिर (अतएव स्थिर–अस्थिर–अचल–चल–अविकम्पित–विकम्पित–) **अनेजदेजत्** अलातचक्र धरातल, ये दो आधार हैं घटकार्य्य के। इन दोनों आधारों को हम उपनिषत् के शब्दों में

'आलम्बन'* कहेंगे, जिसके लिए ऋक्संहितामें—" **किंस्विदासीदधिष्ठानम् ?** " इत्यादि रूप से '**अधिष्ठान**' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तटस्थ आधार, एवं सहयोगी आधार, रूपसे हम आधार, किंवा आलम्बनरूप अधिष्ठान को दो भागों में विभक्त मान सकते हैं। पार्थिव धरातल घट का तटस्थ-पारम्परिक आधार है। एवं अवयवदृष्ट्या सर्वथा विकम्पित-परिभ्रममाण, किन्तु अवयवी-दृष्ट्या सर्वथा अविकम्पित, अतएव × अनेजदेजत् अलातचक्र घट का सहयोगी-साक्षात्-आधार है। तटस्थ-भावात्मक आधार को तटस्थता के कारण, एवं अन्ततोगत्वा '**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं-मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' (छां०उप०६।१।१) के अनुसार मृण्मय घट का विलयनस्थान बनने के कारण (जिस विलयन को वस्तु का बन्धनविमोक-मुक्ति-कहा जाता है) '**मुक्तिसाक्षी आधार**' कहा जायगा। एवं सहयोगात्मक साक्षात् आधारभाव के कारण अलातचक्र को '**सृष्टिसाक्षी आधार**' माना जायगा। विश्वाधार-गगनसदृश उस उभयविध आधार का नामकरण हुआ है महर्षियों की भाषा में आनन्दविज्ञानघन मनःप्राणवाग्रूप-पञ्चकोशात्मक-**अव्ययपुरुष, जो गीता में '** **परपुरुष** ' नाम से उपवर्णित हुआ है। आनन्दविज्ञानमनोघन अव्ययात्मा पार्थिव तटस्थ धरातल से समतुलित मुक्तिसाक्षी तटस्थ आधार है, एवं मनःप्राणवाग्रूप अव्ययात्मा अलातचक्र से समतुलित सहयोगी धरातल है। मनका विकम्पित रूप ज्ञानसहकृता '**कामशक्ति**' (काम-कामना), प्राण का विकम्पित रूप '**क्रियाशक्ति**' (तप), एवं वाक्का विकम्पित रूप '**अर्थशक्ति**' (श्रम), तीनों की समष्टि अवयवस्थानीया है, एजद्भावापन्ना है। इसका उक्थ-ब्रह्म-साम (प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण) रूप मूल आत्मा मनःप्राणवाक् की समष्टिरूप अवयवी है, जो सर्वथा स्थिर रहता हुआ अनेजत् है। इस मनःप्राणवाग्रूप आत्म (सृष्टिसाक्षी आत्म) लक्षण अनेजद्भावरूप अवयवी से अभिन्न काम-तपः--श्रमरूप एजद्भावापन्न अवयवत्रयी ही अनेजदेजद्रूप सृष्टिसाक्षी धरातल है, जैसा कि-निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

*** एतदालम्बनं श्रेष्ठं, एतदालम्बनं परम् ।**
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(परम्-अव्ययात्मकम्-'परः' अव्ययः, तद्रूपमालम्बनमेव परमालम्बनम्)

कठोपनिषत् १।२।१७।

× **अवयवगति, अवयवीगति, उभयगति,** भेद से लोकगतियाँ त्रिधा विभक्त हैं। सम्वत्सरचक्र-गति-रथचक्रगत्यादि उभयगति के उदाहरण हैं। इनमें अवयव-अवयवी दोनों गतिशील हैं। रथारूढ़-अश्वारूढ़-वाष्पशकट्यारूढ़ हमारी गति केवल अवयवगति के उदाहरण हैं। हमारे अवयव स्थिर हैं, किन्तु समष्टिरूप से हम पूर्वदेशपरित्यागानुगत-उत्तरदेशसंयोगरूपा गति के फलभोक्ता बन रहें हैं। अलातचक्रगति केवल अवयवगति है। अवयव चल रहे हैं। समष्टिरूप चक्र कीलक पर सर्वथा स्थिर है। अतएव इसे अवयवदृष्ट्या एजत् (कम्पनशील), समुदायदृष्ट्या अनेजत् (अविकम्पित) कहा जा सकता है।

(१)—त्रयं वा इदं नाम–रूपं–कर्म्म । तेषां नाम्नां ' वाक् ' इत्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषां साम । एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति ॥ अथः रूपाणां चक्षुः (प्रज्ञानेत्रात्मकं मनः) इत्येतदेषां-उक्थं-साम-ब्रह्म ॥ अथ कर्म्मणां–आत्मा (प्राणब्रह्म) इत्येतदेषामुक्थं ब्रह्म साम ॥ तदेतत् त्रयं सत्–एकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् । तदेतदमृतं सत्येन (नामरूपकर्म्मात्मकसत्यभावापन्नविश्वेन) छन्नम् । प्राणो वा (मनःप्राणवाङ्मयो वा आत्मा) अमृतम् । नामरूपे (कर्म्म च) सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥

—शत० ब्रा० १४।४।४।१ से ४ पर्य्यन्त

(२)–सवा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः । सोऽकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत–(प्राणेन) सोऽश्राम्यत् (वाचा) । (शत० ब्रा० १४।४।३।१०।)

आनन्दविज्ञानमनोरूप वही मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा तटस्थ धरातल, एवं मनःप्राणवाग्रूप वही सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा सहयोगी धरातल, दोनों क्रमशः घटसर्गवत् सर्वथा स्थिर पार्थिव धरातल, एवं अनेजदेजद्भावापन्न अलातचक्रधरातल से समतुलित । और यही **' इस विश्व का अधिष्ठान (आलम्बनकारण) कौन?'** इस प्रश्न का संक्षिप्त समाधान ।

अब क्रमप्राप्त दूसरा प्रश्न उपस्थित हुआ—**'आरम्भणं कतमत्स्वित्, कथासीत् ?'** यह। घट-कार्य्य में जो स्थान उपादानकारणभूता मृत्तिका (मिट्टी) का है, वह स्थान यहाँ विश्वकार्य्य में किसका है ?, विश्व का उपादानकारण कौन है, और वह कैसा है ?, यही इस प्रश्न का अक्षरार्थसमन्वय । अधि–ष्ठानरूप अव्ययात्मा के सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग्रूप अनेजदेजत्–धरातल पर प्रतिष्ठित इस साक्षी पुरुष के पराप्रकतिरूप **अक्षर** के मनःप्राणवागनुगत पूर्वोक्त काम–तपः श्रमात्मक * **'ज्ञान–(ज्ञानशक्ति)–बल–(अर्थशक्ति)–क्रिया (क्रियाशक्ति) '** भावों से अपराप्रकृतिरूप **क्षर** के द्वारा ही वैज्ञानिक पञ्चजन–पुरञ्जन-रूप से पुरात्मक विश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है । **कौन ?**, का समाधान है–अपराप्रकृतिरूप **'क्षर'** । यही **'कतमत्स्वित् ?'** का समाधान है । **'कथासीत् ?'** (वह उपादान कारण कैसा है ?) इस प्रश्न के गर्भ में लोकप्रजापति (कुम्भकार) अनुबन्धिनी निमित्तकारणजिज्ञासा अन्तर्निगूढ है । परा-प्रकृतिरूप अक्षर से नित्य सम्बद्ध होकर ही अपराप्रकृतिरूप क्षर कतमत्स्वित् ? प्रश्न का समाधान करता है । बिना अक्षर के क्षर की उपादानता में कार्य्यानुगता कामतपःश्रममूला ज्ञानबलक्रियात्मिका कर्तृत्व-

---

* न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च ॥
श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१२।

शक्ति का उदय ही सम्भव नहीं है। अक्षर को, किंवा अक्षर की अव्ययात्मानुबन्धिनी मनःप्राणवाङ्मयी ज्ञानक्रियार्थशक्तित्रयी को मूल बनाकर ही स्वरूप से जड़ भी बना हुआ क्षर उसी प्रकार विश्वका उत्पादकरूप उपादानकारण बन जाता है, जैसे कि कुम्भकार की शक्तित्रयी से युक्त बन कर अलातचक्रस्थ मृत्-पिण्ड घटोत्पादनरूप उपादानकारण बनने में समर्थ होजाता है। अतएव कथासीत्? प्रश्न के समाधान में हमें अक्षरविशिष्ट क्षर की क्रियाशीलता को ही समुपस्थित करना पड़ेगा, जिसके द्वारा उपादानकारण के साथ साथ निमित्तकारणजिज्ञासा का भी समाधान स्वतः एव समन्वित होजाता है। क्रियाशीलता वस्तुतः अक्षर की ही है। अतएव उपनिषदोंनें अक्षर को ही निमित्तकारण घोषित किया है। देखिए!

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ॥
यथा सतः पुरुषात् केशालोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥१॥

--मुण्डकोपनिषत् १।७।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥२॥

--मुण्डकोपनिषत् ।१।

अधिष्ठान, निमित्त, और **आरम्भण,** ये तीन मुख्य कारण माने गए हैं कार्य्य की सर्वता-कृत्स्नता-सम्पादन के लिए। शेष कारण गौण हैं, जो इस मुख्य कारणत्रयी के एकत्र समन्वित हो जाने से स्वतः समन्वित हो जाते हैं। अतः श्रुति ने विश्वमूलजिज्ञासा से इन तीन मुख्य कारणों का ही दिग्दर्शन कराया है। इन तीनों कारणों का पूर्वप्रतिपादिता दोनों मन्त्रश्रुतियों के केवल **'ब्रह्म स वृक्ष-आस'** इस पर्व से सम्बन्ध है। **'ब्रह्म वनम्'** रूप मायातीत, अतएव सर्वातीत अतद्व्यावृत्त परात्पर इस त्रिविध कारणतावाद से सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। इस परात्पररूप महावन के मायोपाधिक महावृक्ष (ब्रह्माश्वत्थ) का अमृतलक्षण अव्ययात्मा ही अधिष्ठान है, ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा (पराप्रकृति) ही निमित्त है, एवं शुक्रलक्षण क्षरात्मा (अपराप्रकृति) ही उपादान है। इन तीनों की समष्टिरूप एकात्मरूप **'अयं-सदेकमयमात्मा'** लक्षण मायी महेश्वर ही वह विश्वकर्म्मा है, जिसके अन्तिम पर्वरूप शुक्रात्मक क्षरपर्व से ही अव्यक्त स्वयम्भू के द्वारा वितानरूप महिमा के माध्यम से त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप उस महाविश्व का वितान हुआ है, जिसके **भूः-भुवः-स्वः-महत्-जनत्-तपः सत्यम्** ये सात पर्व प्रसिद्ध हैं। इसी सप्त-पर्व से सप्तवितस्तिकाय बने हुए सर्वद्रष्टा, सर्वकर्म्मा (आरम्भण-निमित्त-अधिष्ठानरूपा कारणत्रयी से सर्वकर्म्मा) विश्वकर्म्मा प्रजापति वृक्ष इव ही स्तब्धरूप से प्रतिष्ठित होते हुए अपनी 'पूर्णपुरुष' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। यही तृतीय मन्त्र की संक्षिप्त स्वरूपदिशा की रूपरेखा है, जिसका महर्षि श्वेता-श्वतर के शब्दों में निम्नलिखितरूप से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

किं कारणं ब्रह्म कुतस्म जाता जीवाम केन क्वच सम्प्रतिष्ठाः ॥
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च ॥
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥२॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ॥
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥३॥
ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम् ॥
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं–ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥४॥
यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥५॥
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी यः सर्वविद्यः ॥
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः * ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्

उक्त तीन मुख्य कारणों से–जो लोकप्रजापति कुम्भकार के घटनिर्म्माणकर्म्म के पार्थिवधरातलानुगृहीत अलातचक्रधरातल (अधिष्ठान), स्वयं कुम्भकार (निमित्त), एवं अलातचक्र मध्य में पिण्डरूपेण अवस्थित आर्द्र मृत्पिण्ड (आरम्भण), इन तीन लौकिक कारणों से समतुलित हैं, विश्वकर्म्मा बने हुए अमृत-ब्रह्म–शुक्रात्मक अव्यय–अक्षर–क्षररूप त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशीप्रजापति ही विश्व के सर्वस्व बन रहे हैं, जैसा कि निम्नलिखित अन्य वचनों से भी प्रमाणित है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥१॥
या ते धामानि परमाणि यावमा यामध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

—ऋक्संहिता १०।८१।३,५,।

'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरो मयम्' (गोपथब्राह्मण) के अनुसार भृग्वङ्गिरोलक्षण आपोमय ऋततत्त्व ही सुब्रह्मात्मक वह अप्तत्त्व (पानी) है, जिसकी–'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' (ईशोपनिषत्) रूप से 'मातरिश्वा' नामक पिण्डस्वरूपसम्पादक आदि–यज्ञ–श्वेत–ब्रह्म–एमूष–नामक पञ्चविध स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–सौर–चान्द्र–पार्थिव इन पञ्चवराहवायुओं के द्वारा ऋग्यजुःसामलक्षण वेदरूप सत्याग्नि में (ब्रह्माग्नि में) आहुति होती रहती है, एवं जिस आहुति से ही सप्त आपोमय भुवनों का

---

* स एव मोक्षहेतुः–अमृतरूपाव्ययात्मदृष्ट्या–अधिष्ठानकारणदृष्ट्या वा। स्थिति-हेतुः–ब्रह्मरूपाक्षरात्मदृष्ट्या–निमित्तकारणदृष्ट्या वा। बन्धहेतुः—शुक्ररूपक्षरात्मदृष्ट्या–आरम्भणकारणदृष्ट्या वा।

स्वरूपनिर्म्माण हुआ है *। स्वायम्भुव सूत्रलक्षण, उपनिषदों में **'सूत्रात्मा'** नाम से प्रसिद्ध (शत० ब्रा० १४।६।७।२।) सूत्रवायु से ही सातों भुवनों के सातों प्रवर्ग्यभागों का परस्पर- **'प्रहितां संयोगः- प्रयुतां संयोगः,'** रूप परस्पर आदानप्रदान हुआ करता है। पार्थिव कपाल में उपलिप्त क्षाररसात्मक घन आग्नेयप्राण ही पार्थिव भूतों का आधार बना रहता है, जिसे- **'अथ यदरसदिव-स रासभोऽभवत्'** (शत० ब्रा० ६।१।१।२२) इत्यादि रूप से 'रासभप्राण' कहा है, जिस प्राण के प्राधान्य से तद्वादन्याय से गर्दभ पशु भी 'रासभ' कहलाया है, जो पार्थिव आग्नेय मृण्मयभूत का आधार बना करता है। स्वायम्भुव अन्तर्य्यामी का नियतिदण्ड ही वह दण्ड है, जिसकी प्रेरणा से अलातचक्रात्मक सौर पार्थिव चान्द्रसम्वत्सर-चक्रत्रयी परिभ्रममाण है। इस प्रकार लौकिक प्रजापति कुम्भकार के घट-निर्म्माणकर्म्म में जो जो गौण मुख्य कारण समाविष्ट हैं, उन सबका अलौकिक प्रजापति त्रिभुवनविधाता के कारण समुदाय के साथ भी समतुलन हो रहा है। सम्भवतः इसी आधार पर **'घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवन-विधातुश्च कलहः'** इत्यादि सूक्ति का आविर्भाव हुआ है। लोकमान्यतामें प्रजासर्गाधारभूत दाम्पत्य-भावस्वरूपसम्पादक परिणय (विवाह) कार्य्य में सम्भवतः इसी आधार पर प्रजापतिचक्र का (कुम्हार के चाक का) का पूजन विहित हुआ है। तालिका से दोनों के कारणों का सम-समन्वय समतुलित हो रहा है। देखिए !

१—अव्ययात्मा —	**—पार्थिवधरातलानुगृहीत अलातचक्र**	**— (अधिष्ठानकारण)**	**मुख्यकारणत्रयी**
२—अक्षरात्मा —	**—कुम्भकार**	**— (निमित्तकारण)**	
३—क्षरात्मा —	**—मृण्मयपिण्ड**	**— (उपादानकारण)**	
४—स्वायम्भुवसूत्रात्मा —	**—कच्चा सूत**		**गौणकारणानि**
५—स्वायम्भुवनियतिदण्ड	**—काष्ठदण्ड**		
६—पार्थिवकपालरस —	**—रासभ**		
७—पारमेष्ठ्यआपः —	**—पानी**		
८—सत्याग्नि —	**—हाव का अग्नि**		
९—सौराग्नि —	**—सौरताप (आतप)**		
अलोकप्रजापतिः —	**—लोकप्रजापतिः**		
विश्वकर्त्ता —	**—घटनिर्म्माता**		

*** अप्सु तं मुश्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।**
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥
—महाभारत

(४-५)—यह ठीक है कि, मानवीय बुद्धि विश्वमूल के अन्वेषण में प्रवृत्त होती हुई अमुक अंशो में कारणतान्वेषण में शस्त्रनिष्ठा के माध्यम से आंशिक सफलता प्राप्त कर लेती है। किन्तु यह निश्चित है कि, इस दुर्विज्ञेय मूलकारणतावाद का वैखरीवाणी से विस्पष्टरूप से (अद्धा) स्वरूपविश्लेषण कर देना कठिन है। यह तो केवल अपनी प्रज्ञा की अनुभूति का ही विषय है। जाना जासकता है, सो भी तटस्थबुद्धया ही। इसीलिए तो प्रथम--द्वितीयमन्त्रों में— **'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'**– **'मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो'** (मन से ही पूछो, मन से ही बतला रहा हूँ) यह घोषणा हुई है।

'इदमित्थमेव नान्यथा' इस निर्णयबुद्धिरूप से उस विश्वमूल का सम्यक् परिज्ञान सम्भव बन भी कैसे सकता है, जबकि उसका वास्तविक मूल प्रतिष्ठित है मायातीत अत्यनपिनद्ध उस परात्पर में, जिसे ÷ वाङ्मनसपथातीत माना जारहा है। हमारी (मानव) सत्ता का विश्वगर्भ में क्या स्वरूप है, क्या महत्त्व है ?, यह भी हम अपने अन्तर्जगत् में अनुभव कर रहे हैं। एक स्थान पर श्रुति ने हमारी इस उक्थशासवृत्ति (कारणोद्‌घोष) का उपहास ही करते हुए हमारा (मानवीय बुद्धि का) इस प्रकार उद्‌बोधन कराया है कि—

*** न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ॥**
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
—ऋक्संहिता १०।८२।७।

"जिस विश्वकर्म्मा प्रजापति ने इन सम्पूर्ण भूत–भौतिक–विश्वप्रपञ्चों को उत्पन्न किया है, उसका वास्तविक स्वरूप तुम नहीं जानते, नहीं जान सकते। (जिसे तुम अपना जाना हुआ कहते हो, वह तो तुम्हारे इस परिज्ञान से कहीं विलक्षण तत्त्व है। अतएव) तुमने तो और ही कुछ जान रक्खा है। उसी के आधार पर तुमने अपने मन में यह मान लिया है कि, हमने सब कुछ जान लिया है, पहिचान लिया है। जिस प्रकार एक व्यक्ति नीहार (कोहरा) से आसमन्तात् आच्छन्न–अभिभूत बना रहता हुआ आत्मविस्मृत होकर हक्का–बक्का भोंचक्का बन जाता है, ठीक ऐसी ही स्थिति से अभिभूत बने हुए हम

÷ संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
—तै० उपनिषत् १।४।१।

* किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्।
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ॥
अतर्क्यैश्वर्य्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः।
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥
—पुष्पदन्तः

बुद्धिवादी मानव "इसका यह उक्थ (मूलकारण) है, इसका अमुक मौलिक रहस्य है, इसे हमने यों जान लिया है, त्यों जान लिया है" इस प्रकार काल्पनिक रूप से अपने कारणताज्ञान की निरर्थक घोषणा किया करते हैं। चले हैं हम विश्वमूल का वर्णन करने, एवं विदित नहीं है हमें स्वयं अपना यह सीमित योगमायानिबन्धन स्वरूप ही *। कैसी प्रतारणा कर रहे हैं हम अपने बुद्धिवाद के अतिमान में पड़ कर अपने आपकी ही। मूलकारणरूप परात्पर के किसी एक प्रत्यंशतम भाग में महामायावच्छिन्न मायी अश्वयेश्वर प्रतिष्ठित, जिसकी एक सहस्र शाखा। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी– ये पाँच पुण्डीर। पांचों में पाँचवें पार्थिव पुण्डीर के अमुक अंश के अमुक स्थान में मानव की अमुक सीमिततमा स्वरूपसत्ता। और ऐसा यह सीमिततम मानव उस मूलकारण के अद्धा परिज्ञान का अतिमान करे, इससे अधिक इसका और क्या विमोहन होगा ?। मानव के इसी आत्मातिमानलक्षण आत्मविमोहन का उच्छेद कराती हुई श्रुति कहती है—**'को अद्धा वेद ?'**।

मान लेते हैं अतीतानगतज्ञ अतिमानव महर्षियोंनें उस मूल कारण का स्वरूप 'अद्धा' जान लिया है। किन्तु क्या उन्होंनें जिस रूप से अपने अन्तर्जगत्में उसे जाना है, उसी रूपसे वाणी के द्वारा उसका वर्णन भी होसकता है ?, असम्भव। इसलिए असम्भव कि, वैखरी वाणी उस असीम का उपवर्णन कर ही नहीं सकती। यह तो स्वानुभवैकगम्य तत्त्व है। इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए ऋषि मानव का यह उद्बोधन करा रहे हैं कि, तुम उसे भी जान सकते हो, जबकि एकान्तनिष्ठ बन कर तुम सदा तत्त्वानुशीलनपरायण बने रहो। यदि लोकैषणात्मिका बुभुलिषा के पाश में आबद्ध होगए, तो कभी उसे न जान सकोगे। **'क इह प्रवोचत्'** से यही परोक्ष उद्बोधनसूत्र व्यवस्थित हुआ है। कहाँ से, किस उपादानकारण से यह विश्वसृष्टि आई है ? **(कुत आजाता ?)**, एवं कहां से–किस निमित्त कारण से यह सृष्टि हुई है ? **(कुत इयं विसृष्टिः ?)**, इत्यादि उपादान–निमित्तकारणरूप सभी प्रश्न दुरधिगम्य हैं, जो उन प्राणदेवताओं के लिए भी अज्ञात हैं, जो सृष्टिसर्ग के गर्भ में उत्पन्न होने से अर्वाचीन हैं। इस प्रकार यह विश्व किसके आधार पर किस निमित्त से किस उपादान से कैसे समुत्पन्न हो गया ?, इत्यादि सभी प्रश्नपरम्पराएँ अज्ञातवत् ही प्रमाणित हो रहीं हैं। स्वयं प्रजापति तो जानते होंगे इस अपने सृष्टिकारण रहस्य को ?, श्रुति उत्तर देती है—**'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'**। इस वाक्य का क्या मौलिक अभिप्राय है?, यह पूर्व में स्पष्ट किया ही जा चुका है—(देखिए पृष्ठसंख्या १३७।)। यही सृष्टिमूल–विषय की पञ्चमन्त्रसमष्टि की स्वरूपदिशा का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसे आधार बना कर ही हमें विश्वस्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होना है।

*** न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ॥**
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।३७ (अस्यवामीयसूक्त)

(६)—विश्वसर्गनिबन्धन संशयों की आपातरमणीयता—

पूर्वप्रदर्शिता पञ्चमन्त्रार्थानुगता विश्वमूलमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, इस पाञ्चभौतिक महाविश्व का मूल, किंवा मूलाधार विश्वकर्म्मा–विश्वेश्वर–सर्वकर्म्मा–षोडशीप्रजापति–**'त्रिपुरुषपुरुषात्मक'** है। एवं इस पूर्ण पुरुष के तीनों मूलपर्व (कारणपर्व) क्रमशः **'अव्यय–अक्षर आत्म-क्षर'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनके स्वरूपोपबृंहण में ही समस्त वाङ्मयप्रपञ्च (सम्पूर्ण निगमागम–शास्त्र) उपशान्त है। **' आनन्द–विज्ञानघना–मनोमयी–प्राणगर्भिता वाक्'** पञ्चकोशात्मिका वह वाग्देवी है, जिससे अव्ययपुरुष 'कृतकाय' बने हुए हैं। यही पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा विश्वसर्ग के अधिष्ठान (आधार–आलम्बन) बन रहे हैं, जो श्रुति के—**'किंस्विदासीदधिष्ठानम् ?'** की समाधानभूमि हैं। **'ब्रह्म–विष्णुघन–इन्द्रमय–सोमगर्भित–अग्नि'**--मूर्त्ति--पञ्चामृतमूर्त्ति--पञ्चकल–अक्षरपुरुष ही (जिसे अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' माना गया है) विश्वसर्ग के निमित्त कारण बन रहे हैं, जिस अक्षरानुगता निमित्तकारणता का **'तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते'** इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से समर्थन हुआ है, एवं संहिताश्रुति ने जिस प्रश्न का **'कथासीत् ?'** रूप से जिसकी ओर सङ्केत किया है। **'प्राण–आपोघन–वाङ्मय–अन्नगर्भित–अन्नादमूर्त्ति–** पञ्चमृत्युमूर्त्ति–पञ्च–कल क्षरपुरुष ही (जिसे अव्ययपुरुष की—'अपराप्रकृति' माना गया है) विश्वसर्ग के आरम्भण (उपादान) कारण बन रहे हैं, जो मूलश्रुति के—**'आरम्भणं किमासीत् ?'** प्रश्न की तात्त्विक समाधानभूमि हैं। सर्वसृष्टिसञ्चालक--परात्परसमन्वित, पञ्चकलाव्यय--पञ्चकलाक्षर–पञ्चकलक्षरसमष्टिरूप, अतएव **'षोडशीप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध *, सर्वसृष्टि–आधारनिमित्त–उपादानरूप, त्रिपुरुषपुरुषात्मक इस पूर्णेश्वर विश्वेश्वर विश्वकर्म्मा–प्रजापति को क्षरदृष्टि से विश्व का 'उपादान' कह सकते हैं, अक्षरदृष्टि से विश्व का 'कर्त्ता' (निमित्त)कह सकते हैं, एवं अव्यय-दृष्टि से 'मूलाधार' (विश्वाधार) कह सकते हैं। क्षरोपादानरूप से वही **'विश्व'** है, अक्षरकर्तृत्वरूप से वही **'विश्वात्मा'** है, एवं अव्ययाधिष्ठानरूप से वही **'विश्वातीत** है। इस पारिभाषिक दृष्टिकोण के समन्वय के अनन्तर परस्परविरुद्ध प्रतीत श्रौत–स्मार्त्त सिद्धान्तों का सर्वात्मना सुसमन्वय हो जाता है।

---

* यस्मादन्यो न परो अस्ति जातो य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोड़शी ॥१॥
तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ॥
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥२॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्म्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ॥
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ३ ॥
— श्वेताश्वतरोपनिषत् १।४,५,।

एवं उस अवस्था में परस्पर विरुद्ध प्रतीयमान सनातन सिद्धान्तों के कारण उत्पन्न संशयपरम्परा का भी सर्वात्मना मूलोच्छेद हो जाता है। एवं तदवस्था में विश्वमूलविषयिणी जटिल प्रश्नपरम्परा सर्वथा सहजरूप से समाहिता बन जाती है। कहीं आत्मा को निर्लेप बतलाया जा रहा है, तो कहीं उसे विश्वाधार माना जा रहा है। कभी आत्मा को अनाद्यनन्त घोषित किया जा रहा है, तो कभी आत्मा को जन्ममृत्यु-प्रवाह से आक्रान्त बतलाया जा रहा है। कहीं आत्मा निष्काम-विश्वातीत-अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-निर्गुण-रूप से उपवर्णित है, तो अन्यत्र आत्मा को सकाम-विश्वेश्वर-सगुणरूप से निरूपित किया जा रहा है। यदि आत्मा व्यापक है, तो उसमें कामना कैसी ?। कामना नहीं तो विश्वसर्ग कैसे ? और क्यों, किससे ?। यदि आत्मा ही विश्वसर्ग का मूल है, तो इस कामभाव के कारण वह व्यापक नहीं। क्योंकि-अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति के लिए ही इच्छा हुआ करती है। **'सोऽकामयत'** इत्यादि रूप से इच्छा ही यह प्रमाणित कर रही है कि, आत्मा व्यापक नहीं है। यदि आत्मा इस प्रकार व्यापक नहीं है, तो फिर-**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक अन्य निगमवचनों का समन्वय कैसे ?, किस आधार पर ? इत्यादि इत्यादि शत-सहस्र-प्रश्नपरम्पराओं के आविर्भाव-तिरोभाव का एकमात्र मुख्य कारण आत्मस्वरूप के बोध का अभाव, एवं आत्ममहिमारूप विभूतिस्वरूप का न जानना हीं है। सर्वथा विभक्त-सर्वात्मना सुव्यवस्थित बलसम्बन्ध-तारतम्यानुबन्धी आत्मस्वरूपपरिज्ञान के अनन्तर (जिस परिज्ञान का आधार वह 'अक्षर' है, जो अव्यय तथा क्षर के मध्य में प्रतिष्ठित रहने के कारण **'सेतु'** नाम से प्रसिद्ध है, 'पर' नामक अव्ययपुरुष से अवरस्थान में प्रतिष्ठित रहने से 'अवर', तथा अक्षर', नामक क्षरपुरुष से परस्थान में प्रतिष्ठित रहने से 'पर', तदित्थं **'परावर'** नाम से प्रसिद्ध है। इस 'परात्पर' नामक अक्षर के परिज्ञान के अनन्तर) यच्च यावत् संशय-परम्पराओं का आमूलचूड़ निराकरण होजाता है, जैसाकि उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥**
>
> **--मुण्डकोपनिषत् २।२।८।**

(६)—षोडशीपुरुष की त्रिविधा सृष्टि—

श्रौती उपनिषदों का सुविशद निरूपण करने वाली स्मार्त्ती उपनिषत् ने (श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत् ने) इसी विभक्त-व्यवस्थित दृष्टिकोण के माध्यम से त्रिपुरुषस्वरूपविश्लेषणपूर्वक ही निगमागम सिद्धान्तों का बड़े ही कौशल से समसमन्वय किया है, जिस अभूतपूर्व कौशल से गीताशास्त्र परतःप्रमाण बनता हुआ भी लोकमान्यता में स्वतःप्रमाण प्रमाणित हो रहा है। पुरुषत्रयी की विस्पष्ट शब्दों में घोषणा करती हुई गीतोपनिषत् कहती है—

> **द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥**
> **क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥**

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥

—गीता १५।१६,१७,।

उक्त पुरुषत्रयी के आधार पर समष्टिरूप विश्वकर्म्म (सृष्टिकर्म्म) के साथ साथ इन तीनों पुरुषों से (किंवा अव्ययपुरुष, तथा अक्षर–क्षररूपा परा–अपराप्रकृतियों से) क्रमशः तीन स्वतन्त्र सृष्टिधाराओं का विनिर्गमन शाश्वतीभ्यः समाभ्यः प्रक्रान्त है। अधिष्ठानकारणात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दविज्ञान–प्राणवाक्–भावों से सीमित हृदयस्थ 'श्वोवसीयस्' नामक मन की सहज कामना से * जिस सहज स्वतन्त्र असङ्ग सृष्टिधारा का प्रवाह प्रक्रान्त है, वही **'भावसृष्टि'** कहलाई है। यही अव्ययमूला असङ्ग भावसृष्टि यत्रतत्र निगमागमग्रन्थों में—**'ज्ञानसृष्टि–मानसीसृष्टि–आत्मसृष्टि–ऋषिसृष्टि–प्राणसृष्टि–मनुसृष्टि**–आदि विविध नामों से (अपेक्षाभेद से) उपवर्णित हुई है। गीताशास्त्र ने अस्मच्छब्दवाच्य अव्यय की इस सृष्टि का निम्नलिखित रूप से विश्लेषण किया है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

—गीता १०।६।

अव्ययात्मानुगता यह भावसृष्टि अपने असङ्गभाव के कारण सर्वथा **'अधामच्छदा'** (स्थानानवरोधिनी–जगह न रोकने वाली सुसूक्ष्मा) है, मानससंकल्पप्रधाना–संकल्परूपमात्रा है। निमित्तकारणरूप अक्षरात्मा (प्राकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से सम्बन्धित सृष्टि **'गुणसृष्टि'** नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके–"**क्रियासृष्टि–प्राणमयीसृष्टि–देवसृष्टि–प्राकृतिकसृष्टि–तन्मात्रसृष्टि**–आदि विविध भेद यत्रतत्र उपवर्णित हैं। दार्शनिक दृष्टिनिबन्धन **गुण–अणु–रेणु** नामकी सूक्ष्मभूतसृष्टित्रयी का भी इस गुणसृष्टि में हीं अन्तर्भाव है, जिसका विशेषरूप से प्रकृतिकारणमात्रवादी प्राधानिकदर्शन ('सांख्यदर्शन' नाम से प्रसिद्ध 'कणाददर्शन') में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। उपादानकारणात्मक क्षरात्मा (विकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से सम्बन्धित सृष्टि **'विकारसृष्टि'** कहलाई है, जिसे—"**अर्थसृष्टि–वाङ्मयीसृष्टि–भूतसृष्टि–पशुसृष्टि–प्रवर्ग्यसृष्टि–उच्छिष्टसृष्टि–वैकारिकीसृष्टि–मैथुनीसृष्टि"** इत्यादि विविध नामों से समन्वित किया गया है। पराप्रकृतिलक्षण अक्षरात्मा (प्रकृति) से सम्बद्धा गुणसृष्टि, एवं अपराप्रकृतिलक्षण क्षरात्मा (विकृति) से सम्बद्धा विकारसृष्टि, दोनों का समष्टिरूप से इसलिए संग्रह कर लिया

---

* **कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।**
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋक्संहिता १०।१२६।४। (नासदीयसूक्त)

(कवयः–भृगवः–सौम्यप्राणाः–मनीषा)

है गीताशास्त्र ने कि,–'**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्**' (शत०ब्रा० १०।१।३।२) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक ही प्रकृति का अमृतप्रधान–अविपरिणामी भाग तो '**न क्षीयते**' निर्वचन से 'अक्षर' कहलाया है, एवं इसी का मृत्युप्रधान–(अविकृतपरिणामात्मक) परिणामी भाग '**क्षीयते–क्षरति**' इत्यादि निर्वचनों से 'क्षर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अतएव अमृतरूप अक्षर, मर्त्य-लक्षण क्षर, दोनों परा–अपरा प्रकृतियों (प्रकृति–विकृतियों) का 'प्रकृति', इस एक नाम से ही संग्रह कर लिया गया है, जैसा कि निम्नलिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
"विकारांश्च–गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

--गीता १३।१६।

अयमत्र संग्रहः—

(१)–अधिष्ठानकारणम्–अव्ययपुरुषः—पुरुषः———अमृतात्मा—ततो भावसृष्टिः–(असृष्टिरूपा सृष्टिः)
(२)–निमित्तकारणम्—अक्षरपुरुषः—पराप्रकृतिः–ब्रह्मात्मा——ततो गुणसृष्टिः–(उभयसमन्विता सृष्टिः)
(३)–उपादानकारणम्–क्षरपुरुषः ——अपराप्रकृतिः-शुक्रात्मा——ततो विकारसृष्टिः-(संसृष्टिरूपा सृष्टिः)

(१०)–सृष्टिभावानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूपपरिचय—

अव्ययपुरुषानुगता भावसृष्टि, एवं अक्षरप्रकृत्यनुगता गुणसृष्टि, दोनों हीं संसृष्टिलक्षणा सृष्टिस्वरूप-व्याख्या से असंस्पृष्ट रहतीं हुई अमीमांस्या ही मानी जायंगी। अतएव '**विश्वस्वरूपमीमांसात्मक**' प्रस्तुत परिच्छेद में क्षरविकृत्यनुगता विकारसृष्टि की ही प्रधानरूप से मीमांसा की जायगी, जिसकी स्वरूप-व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम 'सृष्टि' शब्द को ही मीमांस्य बनाना पड़ेगा।

न्यूनतम दो, अथवा तो अनेक विरुद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही 'सृष्टि' का आधार माना गया है। दिग्देशकालानवच्छिन्न अनाद्यनन्त रसाधार पर प्रतिष्ठित दिग्देशकालावच्छिन्न सादिसान्त बलों का यह पारस्परिक सम्बन्ध औपनिषद विज्ञान के अनुसार **विभूति–संशर–ग्रन्थिबन्धन–उदूढ–ओतप्रोत–वसुधानकोश–आवाप–आयतन–अधिष्ठान–उदार–असङ्ग**–आदि आदि भेदों से अनेक प्रकार का माना गया है। इन बलसम्बन्धों का सम्यक्–परिज्ञान ही सृष्टिस्वरूपविज्ञान है। उदाहरण के लिए प्रकृत में केवल दो तीन सम्बन्धों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। **अन्तर्य्याम, बहिर्य्याम, उपयाम,** इन तीन नैगमिक सम्बन्धों का ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित चत्वारिंशत् (४०) ग्रहात्मक सुप्रसिद्ध '**ग्रहयाग**' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है (देखिए–शतपथब्राह्मण–चतुर्थकाण्ड–ग्रहयागात्मककाण्ड-)।

नितान्त भावुकतापूर्ण, अतएव सर्वथा अवैज्ञानिक–'**सांसिद्धिकं द्रवत्वं जले**' (नव्यन्याय ग्रन्थ) (जलका द्रवत्त्व प्राकृतिक है–नित्य है) इत्यादि बालसिद्धान्त का आमूलचूड़ (उन्मूलन) करने वाले '**अपां संघातो, विलयनञ्च–तेजःसयोगात्**' (वैशेषिक द० ५।२।८) इस सूत्रसिद्धान्त के अनुसार पानी का संघात (हिमरूप घनीभाव), एवं विलयन (द्रुतभाव), दोनों तेजःसंयोग पर ही अवलम्बित

है। 'ध्रुव' नाम से प्रसिद्ध घनाग्नि के प्रवेश से वही पानी संहित बनता हुआ घनभाव (हिमभाव-बर्फ) में परिणत हो जाता है, एवं 'धर्त्र' नामक तरलाग्नि के प्रवेश से वही पानी श्लथावयय बनता हुआ तरलभाव (पेयभाव) रूप में परिणत हो जाता है, जो इस सरित्-इरा के सम्बन्ध में (द्रवीभूत रससम्बन्ध से) निगम में 'सलिल' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'सरित्' का ही रूपान्तर 'सलिल' है। इस सलिल, और तेजोमय अग्नि को लक्ष्य बना कर ही सम्बन्धत्रयी का अन्वेषण कीजिए।

पानी बह रहा है। यह बहाव तरलाग्निसमावेश का ही परिणाम है। अग्नि ने अपने तापधर्म्म-रूप स्वधर्म्म को (स्वरूपधर्म्म को, स्वप्रकृति को) आत्मसमर्पणरूप जल के प्रति अर्पित कर दिया है। वह अग्निधर्म्म आज जलधर्म्म बन गया है। परधर्म्म (पानी का धर्म्म) किस प्रकार स्वधर्म्म (अग्नि-धर्म) का स्वरूपोत्क्रामक बन जाता है ?, यह प्रश्न भी इसी उदाहरण से समाहित बन रहा है। इस जलाग्निसम्बन्ध को ही हम 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध कहेंगे। जलको किसी पात्र में भर कर अग्निसमिन्धन-द्वारा उष्ण (गरम) कीजिए। जल उष्ण हो ही जायगा इस समिन्धनकर्म्म से। इस जलाग्नि का सम्बन्ध 'बहिर्य्याम' सम्बन्ध कहलाएगा। इस उष्णतारूप जलधर्म्म को जल का आगन्तुक धर्म्मलक्षण परधर्म्म कहा जायगा, जो अत्यन्तानलसंयोग पर पानी को वाष्परूप में परिणत कर कालान्तर में पानी का स्वरूप ही उच्छिन्न कर सकता है। इसीलिए तो आगन्तुक धर्म्मात्मक इस धर्म्मलक्षण अधर्म्म को, किंवा प्रकृति-विरुद्ध धर्म्म को 'भयावह' माना गया है। सामुद्रजल में बड़वानल प्रज्वलित रहता है। इस जलाग्नि का सम्बन्ध **'उपयाम'** सम्बन्ध माना जायगा। किसी भी पात्र में अवस्थित अङ्गाराग्नि का पात्र के साथ जो सम्बन्ध है, वही 'उपयाम' सम्बन्ध है। इस प्रकार द्रुत पानी-उष्ण पानी-बड़वानलयुक्त पानी-रूप से जलाग्नि-सम्बन्ध तीन भावों में परिणत हो रहा है। हमनें भोजन किया, उसे प्राणाग्नि ने आत्मसात् कर लिया, यही भोजन का हमारे साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। भोजन किया, किन्तु शारीरिक मन्दाग्नि आदि-संग्रहणी आदि-विकारों के कारण भोजन आत्मसात् न बन सका, रसनिर्म्माण न होसका। भोजन का यही हमारे साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है। भोजनद्रव्य ग्रासादिरूप से हाथ में उठा लिया। यही भोजन के साथ हमारा उपयाम सम्बन्ध है। भोजन किया, किन्तु किसी शारीरिक पित्तादि विकार से, अथवा तो भोजनद्रव्य-निक्षिप्त मक्षिकादि के कारण भोजनद्रव्य अविलम्ब ही वान्तिरूप से विनिर्गत हो गया, ऐसे निरर्थक भोजनद्रव्य के साथ हमारा कौनसा सम्बन्ध माना जाय ?, प्रश्न का उत्तर है एक चौथा **'यातयाम'** नाम का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध, जिस के लिए—' **यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितं च यत्** ' (गीता १७।१०) कहा गया है।

(११)—प्राणनिबन्धन अन्तर्य्याम सम्बन्ध का महत्त्व—

भौतिक-वैकारिक विश्व का अव्ययात्मा के साथ उपयाम सम्बन्ध है, अक्षरात्मा के साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है, एवं उपादानकारणरूप क्षरात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, और यही अन्तर्य्याम सम्बन्ध संसृष्टिलक्षण वह सम्बन्ध है, जो यज्ञकाण्ड में **'याग'** नाम से व्यवहृत हुआ है। **'अन्तर्यामे'**

मघवन् ! मादयस्व (यजुः सं० ७।५।) रूप से ऋषि इन्द्रादि प्राणदेवताओं के अन्तर्य्याम सम्बन्ध की ही कामना अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो सम्बन्ध आगन्तुक को आगमनाधार का आत्मा बना देता है । सभी प्राणदेवता, सभी ईश्वरीय–विभूतियाँ सौरसम्वत्सरमण्डल में सर्वत्र व्याप्त रहतीं हुई सब चराचर प्राणियों के साथ सम्बन्धित हैं । किन्तु बहिर्य्याम, किंवा उपयाम, अथवा तो यातयाम सम्बन्ध से । अतएव इन असम्बन्धात्मक सम्बन्धों से प्राणियों में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता । प्राणतत्त्वरहस्यानभिज्ञ अभिनिविष्ट मन्दबुद्धि भागीरथीसलिल में अधिष्ठित, अभिमानीरूप से आत्मरूप से प्रतिष्ठित भगवती गङ्गामाता के पावनसंस्मरण से भी वञ्चित रहते हुए आस्तिक श्रद्धालु प्रजा के सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तर्काभास उपस्थित करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं बन जाते कि,—**"यदि गांगेय तोय में इस प्रकार मृत्युबन्धनविमोक की शक्ति है, तो उसमें रहने वाले मत्स्य-मकर-तिमिङ्गिलादि जलजन्तुओं की मुक्ति क्यों नहीं होती ?" । इस जघन्य तर्काभास का उत्तर स्पष्ट है । मृत्युसंसारसागर में मत्स्य–मकरादिवत् इतस्ततः सन्तरण करने वाले उन अभिनिविष्ट पापात्माओं पर उस ब्रह्मद्रवी का अनुग्रह सम्भव ही कैसे है, जबकि इन पापात्माओं की आसुरवृत्ति से संयुक्त इनके पापपूर्ण मानसक्षेत्र के साथ इस देवता का अन्तर्य्याम सम्बन्ध स्वप्न में भी सम्भावित नहीं है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि श्रद्धासिद्धान्तानुसार सात्त्विक श्रद्धाशून्य इन पापात्माओं के अन्तर्जगत् के साथ कैसे दिव्यतत्त्वों का अन्तर्य्याम सम्बन्ध सम्भव हो सकता है ? । एवं तदभावे वे कैसे उस ब्रह्मानन्द का स्वप्न में भी अनुभव कर सकते हैं ? उन अश्रद्धालुओं-आसुरबुद्धिपरायणों के लिए तो ऐहिक–आमुष्मिक कुछ भी तो दिव्यप्राणातिशय अनुग्राहक नहीं बना करता । अन्तर्य्याम सम्बन्ध ही क्या, वे तो बहिर्य्याम, एवं उपयाम के भी पात्र नहीं है । सर्वथा यातयामात्मक उन अभिनिविष्टों के लिए तो सब कुछ यातयाम ही प्रमाणित हो रहा है । आलप्यालम् , कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ।**

(१२))—प्रजोत्पादक यागसम्बन्ध—

उक्त सम्बन्धत्रयी में से 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध ही संसृष्टिमूला सृष्टि का आधार बना करता है, यही वक्तव्यांश है । विभिन्न जातीय दो, अथवा तो अनेक पदार्थों का पारस्परिक अन्तर्य्याम सम्बन्ध ही लोकभाषा में **'रासायनिक मिश्रण'** कहलाया है । यही यज्ञभाषा में 'याग' सम्बन्ध कहलाया है । **'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार यज्ञात्मक यही यागसम्बन्ध विश्व, एवं विश्वप्रजा का जनक बना हुआ है । सोरा और कोयला, दोनों का यागात्मक मिश्रण जिस प्रकार विस्फोटक द्रव्य (बारूद) का जनक बनता है, अम्भः—(ऑक्सिजन Oxygen), और पवमान (हाइड्रोजन Hydrogen), दोनों का रासायनिकमिश्रण जैसे पेय जल का उत्पादक बनता है, एवमेव ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा हृद्यशक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित प्राणाग्नि, एवं प्राणसोम का वृषायोषात्मक, किंवा प्राण–रयिरूप यागसम्बन्ध विश्व तथा विश्वप्रजा का उत्पादक बना करता है । इसी आधार पर–**'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है ।

(१३)—मैथुनीसृष्टि की मौलिक परिभाषा—

क्षरपुरुषानुगता विकारसृष्टि अग्नि–सोमरूप पुम्भाव–स्त्रीभाव के दाम्पत्याभावात्मक याग सम्बन्ध के कारण ही–'मैथुनीसृष्टि' कहलाई है। भौतिक–शरीरद्वय का मिथुनभाव यहाँ अभिप्रेत नहीं है। नांहीं भौतिक सौम्यशुक्र–आग्नेय शोणित का मिथुनभाव ही सृष्टि का उत्पादक है। अपितु सृष्टि का आधार बनता है प्रकृति में अग्नि–सोमगर्भित प्राणात्मक वृषा–योषा तत्त्व, जो प्राणोपनिषत् (तलवकारोपनिषत्) नामक प्रश्नोपनिषत् में 'रयि–प्राण' युग्म नाम से प्रसिद्ध हुआ है। बिना भी भूतमिथुन के जहाँ यह प्राणमिथुन हो जाता है, तत्काल अपूर्वसृष्टि का उदय हो जाता है। एवं बिना प्राणमिथुन के शत-सहस्र बार का भी ऐकान्तिक भूतमिथुनभाव सृष्ट्युत्पादन में असमर्थ बना रहता है। दाम्पत्यरूप मिथुनभाव का ही नाम है, एवं ऐसा मिथुनभाव ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव बना करता है।

मैथुनीसृष्टि का तात्पर्य्य है—**'संसृष्टि'**। संसृष्टि का तात्पर्य्य है अन्तर्य्याम सम्बन्ध से समुत्पन्न दो, अथवा अनेक विजातीय अन्न–अन्नादात्मक भावों का पारस्परिक उपमर्दनपूर्वक **'अपूर्वभावोदय'**। जैसा कि कहा गया है, संसृष्टिलक्षणा सृष्टि के वे दोनों आधार तत्त्व **'योषा–वृषा'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका विभिन्न सृष्टिभावों के स्वरूपानुपात से **'ब्रह्म–सुब्रह्म'–'अगिरा–भृगु'–'तेज–स्नेह'–'अग्नी–सोम'–'प्राण–रयि'–'गति–स्थिति'–'पुम्भाव–स्त्रीभाव'–शोणित–शुक्र'** आदि अनेक दृष्टिकोणों से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अव्ययाक्षरगर्भित– क्षरपुरुषात्मक, अतएव त्रिपुरुषात्मक पूर्णेश्वर के क्षरात्मक उपादानभाग से सम्बन्धित संसृष्टिरूपा सृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलारम्भणा बनी हुई है। विरुद्ध तत्त्वों के अन्न–अन्नादात्मक याज्ञिक सम्बन्ध से समुत्पन्ना वैकारिकी याज्ञिकी संसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा है, यही तात्पर्य्य है।

(१४)—मानवस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में—

विश्व का मूल यदि दुरधिगम्य है, तो विश्वका, एवं तद्गर्भीभूता चराचरप्रजा का स्वरूप भी कम समस्यापूर्ण नहीं है। न तो विश्वमूल ही हमारा प्रधान लक्ष्य है, एवं न विश्व, तथा तत्–चराचरप्रजा ही प्रधान लक्ष्य। प्रधानलक्ष्य है भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता। अतः विश्वसर्ग के सम्बन्ध में अधिक से अधिक विश्वप्रजा में से केवल 'मानव प्रजा' ही निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है। इस मानव प्रजा के स्वरूप-समन्वय के लिए ही हमें यहाँ विश्वस्वरूप की मीमांसा का अनुगमन करना पड़ रहा है। मानव की स्वरूपमीमांसा को हम—**'मनुःस्वरूपमीमांसा'** एवं **'मानवस्वरूपमीमांसा'** इन दो भागों में विभक्त मानेंगे। एवं इसी दृष्टि से मानवस्वरूप के समन्वय का प्रयास करेंगे। मनुःस्वरूपमीमांसा–लक्षणा मानवस्वरूपमीमांसा मानवस्वरूपमीमांसा की रूपरेखा, किंवा मूलभूमिका मानी जायगी। एवं मानवस्वरूप-मीमांसात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा इस मीमांसा की तूलभूमिका कही जायगी, जिसका उत्तर खण्ड में निरूपण होगा। मानवस्वरूपरेखा के समन्वय के बिना क्योंकि विश्वस्वरूपमीमांसा अपूर्ण रह जाती है। अतएव विश्वस्वरूपमीमांसा की सन्दर्भसङ्गति के लिए यहाँ मानवरूपरेखा का समावेश करना आवश्यक

मान लिया गया है। ऐतिहासिक घटना–परम्पराओं से सम्बन्धित मानवस्वरूपव्याख्या की विशद मीमांसा तो उत्तरखण्ड से ही सम्बन्धित मानी जायगी।

(१५)—मानवस्वरूपानुगता रूपरेखा का उपक्रम—

(मानवस्वरूपरूपरेखात्मिका-मूलभूमिकालक्षणा-मानवस्वरूपमीमांसा)

नैमिषारण्य के शान्त–पावन–सस्यश्यामल–दिव्यपल्लवछायासमाक्रान्त–गिरीणामुपह्वर–नदीनां–संगमसुशोभित दिव्य क्षेत्र में नैगमिक तत्त्वज्ञानविमर्श के लिए समवेत ऋषिसंसत् के प्रज्ञाक्षेत्र में किसी अज्ञातप्रेरणा से सहसा एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न समुपस्थित हो पड़ा कि—

" इस त्रैलोक्य–त्रिलोकीरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ कौन ? "

तत्र समवेत महामहर्षियों में से अध्यात्मज्ञाननिष्ठ विश्वेश्वरस्वरूपवेत्ता तत्त्ववित् तपःपूत किसी महर्षि की ओर से संसत् के सम्मुख उक्त प्रश्न का यह समाधान समुपस्थित हुआ कि—**" सर्वबलविशिष्ट–रसैकघन, 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध, मायातीत, निरञ्जन, निर्विकार, निर्गुण, अद्वय, दिग्–देशकालानवच्छिन्न, सच्चिदानन्दलक्षण, सर्वधर्म्मोपपन्न, सर्वेश्वर परमेश्वर ही त्रैलोक्यरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ है÷ ।"**

संसत् में समवेत तत्त्वज्ञ-सदस्योंनें श्रुत–उपश्रुत तथोत्तर के माध्यम से परस्पर दृष्टिनिक्षेप करते हुए मानो अपने ये ही मनोभाव अभिव्यक्त किए कि, वे इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। **' वातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष ! ते मनः '** सिद्धान्तानुसार केवल बाह्य शारीरिक वातावरण के आधार पर, चेष्टाओं के आधार पर आभ्यन्तर मनोभावों के परिज्ञान में कुशल उत्तरप्रदाता महर्षि ने तत्काल ऋषि-सदस्यों के असन्तोष को लक्ष्य बना लिया। एवं तत्क्षण ही उनकी ओर से यह दूसरा उत्तर ऋषिसंसत् के सम्मुख उपस्थित हो पड़ा कि—**"सर्वेश्वर परात्परब्रह्म की विभूतिलक्षणा महिमा से महीयमान ज्ञान–क्रिया–अर्थ-शक्तिमय द्युलोकाधिष्ठाता सर्वज्ञमूर्त्ति इन्द्र, अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता हिरण्य-गर्भमूर्त्ति वायु, एवं पार्थिवलोकाधिष्ठाता विराट्–मूर्त्ति अग्नि ही त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ माने जायँगे× "।**

÷—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।९।

×—तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्–यदग्नि, र्वायु, रिन्द्रः । ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुः । ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।
—केनोपनिषत् ४।२,३,।

पुनः वही तटस्थता, उदासीनवदासीनता, पारस्परिक मूकदृष्टि–निक्षेप। तत्त्ववेत्ता महर्षि की ओर से इसी परम्परा से पौनःपुनिक असन्तोषपरम्परा के अनुपात से निम्नलिखित समाधानपरम्परा समुपस्थित हुई कि—

"ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति–गायत्रीमात्रिकवेद के स्रष्टा सृष्ट्युत्पादक भगवान् ब्रह्मा सर्वश्रेष्ठ हैं"(१)। "सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति वामन–सत्यनारायण–गोसवलोकाधिष्ठाता सृष्टिपालक भगवान् विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं"(२)। "सर्वान्नादमूर्त्ति-भूतपति–पशुपति–द्युद्रुमाधोऽवस्थित दक्षिणामूर्त्ति सर्वसंहारक–सर्वसंरक्षक भगवान् रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं"(३)। "सृष्टिरहस्यवित्, अतएव सर्ववित् प्राणविद्यावित् महामहर्षि सर्वश्रेष्ठ हैं"(४)। "प्राणविद्या के आधार पर यज्ञविद्या का वितान कर इसके द्वारा मानवसमाज के त्रिविध तापों का उन्मूलन करने वाले विश्वमानवसमाज के शान्तिसन्देशवाहक भारतीय वेदवित् ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं (५)"।

उक्त पारम्परिक उत्तरों के साथ साथ ही महर्षि यह अनुभव करते गए कि, संसत् का कोई भी सदस्य इन पारम्परिक उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं है। यही हुआ भी। सम्पूर्ण उत्तरों को अपने अन्तर्जगत् में केवल उत्तराभास ही अनुभव करने वाले संसत् के किसी भी तो सदस्य के मुख से तुष्ट्यात्मक 'ओमित्येतत्' इस प्रणव का उच्चारण न हुआ। पुराणपुरुष संसत् के इस मूकभाव से सहसा शान्तानन्दविभोर हो पड़े इसलिए कि, आज की इस ऋषिसंसत् में उन्हें वास्तविक तत्त्वपरीक्षक–तत्त्वविमर्शक योग्य

---

(१)—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

(२)—तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्" (ऋक्संहिता १।२२।२०)।

(३)—यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥
—श्वेता० ३।४।

(४)—विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥
—ऋक्सं० १०।६२।५।

(५)—"कर्तृषु ब्रह्मवेदिनो ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः" (मनुः)
वेदतत्त्वानुशीलनपरायणा एव ब्रह्मवेदिनः।

अधिकारी–पात्र–जिज्ञासु उपलब्ध हो गए थे। अतएव अन्ततोगत्वा पुराणपुरुष भगवान् व्यास के पावन मुखपङ्कज से यह ऐहिक–आमुष्मिक- श्री विनिर्गत हो ही पड़ी कि—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि "न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"

—महाभारत

पुराणपुरुष ने कहा—हम आज आप लोगों के सम्मुख उस सुगुप्त ब्रह्म (तत्त्व) का स्वरूप-विश्लेषण समुपस्थित कर रहे हैं, जिसे सुन कर आप सहसा आश्चर्यविभोर हो जायँगे। यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, **"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्"** (शत०ब्रा० २।५।१।१)–**"अहं मनुरभवम्"**–(ऋक्-सं० ४।२६।१) **"अहं सूर्य्य इवाजनि"** (ऋक् सं० ८।६।१०)–**"योऽहं–सोऽसौ, योऽसौ–सोऽहम्"** (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् ६)–**"पूर्णमदः पूर्णमिदम्"** (ईशोपनिषत् १) इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार विश्वाधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा प्रजापति के सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–भावों से सर्वात्मना समतुलित प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरमूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति पूर्णता–सम्पन्न **'पुरुष' ही अपने हृदयस्थ 'मनु' तत्त्व के सम्बन्ध से** * **'मानव' अभिधा से विभूषित बनता हुआ त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो रहा है"**। मानव से अतिरिक्त और कोई वैसा श्रेष्ठ नहीं है, जिस श्रेष्ठतर मानव ने अपने प्रज्ञाबल से श्रेष्ठतम देवता–पितर–ब्रह्मादि को भी अपनी ज्ञानसीमा में अन्तर्भुक्त बनाते हुए **'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः"** (शत० ब्रा० १४।४।२।२०) इस उदात्त घोषणा का असपत्न स्वत्वाधिकार प्राप्त कर लिया है।

सर्वश्रेष्ठ मानव, वास्तव में सर्वापेक्षया श्रेष्ठ–श्रेष्ठतर–श्रेष्ठतम मानव अपने प्रकृतिसिद्ध सहज गुण–धर्म्म (मानवधर्म्म) के प्रभाव से अपने पुराकाल में कैसा था ?, क्या था ?, और कौन था ?, एवं आज वर्त्तमान में वही श्रेष्ठतम मानव अपने सहज गुण–धर्म्म–परित्याग से कैसा–क्या–और कौन बन गया ?, यह एक महती समस्या आज हमारे सम्मुख उपस्थित है। **"अतीत के श्रेष्ठतम भी परिपूर्ण भी मानव की वर्त्तमान में ऐसी निकृष्टतम दशा–दुर्दशा कैसे, और क्यों होगई"** इसी महती समस्या के मौलिक–सामयिक–उद्बोधनात्मक समाधान की जिज्ञासा अभिव्यक्त करता हुआ यह भावुक मानव राष्ट्र की विद्वत्-संसत् के सम्मुख, इसके विचारशील मनीषी सदस्यों के सम्मुख प्रणतभाव से यह निवेदन कर रहा है कि, वे अनुग्रह कर अपनी लोकानुगता मतवादाभिनिविष्टा शास्त्राभासनिष्ठा का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग करते हुए विलुप्तप्राय उस नैगमिक राद्धान्त के आधार पर वैसा समाधान राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित करने का निःसीम अनुग्रह करें, जिससे द्रुतवेग से अपनी मौलिकता विस्मृत करता हुआ आज का भारतराष्ट्र उद्बोधन प्राप्त कर सके, एवं तद्द्वारा अपनी शाश्वत–सनातननिष्ठा के माध्यम से पुनः एक बार अपनी इस उदात्त घोषणा से असुरभावों को विकम्पित कर दे कि—**"न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"**।

---

* **य एव मनुष्याणां मनुष्यत्त्वं वेद, मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति।**

—तैत्तिरीय ब्रा० २।३।८।३।

इस भावुक जन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक–निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्त्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज--परिपूर्ण--आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुईं भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पूर्णपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव को आर्षनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति ध्रुवा नीतिर्म्मतिर्म्मम।

(१६)––आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम––

"स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण–अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–असमर्थ–अयोग्य–हीनबलवीर्य्यपराक्रम–दीन–दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्!

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री-मारुति (हनूमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर–दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न तत्रोपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण–योग्यता के सम्बन्ध में स्व–स्व–बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य–साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो यूथाधिप की ओर से **'सुनो मारुति ! तुम कौन हो'** इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल, मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोपवर्णन आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप–विश्लेषण–श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में हीं मारुति प्रचण्ड-घनगर्ज्जनसमतुलित हुङ्कार--गर्ज्जन--तर्ज्जन--पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं, जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपवर्णन से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति--परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष, भावुकता-पूर्ण--अस्वर्ग्य--अकीर्त्तिकर--पुरुषार्थविहीन दशा, किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव--जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित--अभिवृद्ध--सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध-जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों--ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वारुणपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों--त्यों इसकी सहज--प्राकृतिक--सत्त्वभावापन्ना--विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्म्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्यं शून्यं' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी- क्षणिकविज्ञान-वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवग्रहात्मक नववर्ग का उद्धगकर इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)--सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम--

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत **'सनातनधर्म्म'** के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक--आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप--विधि--विधान--कर्त्तव्यकर्म्म--सहजगति से सुव्यवस्थित--मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्वः श्वः अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव-समतुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकसंज्ञा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्त्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के चाकचिक्य--प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट--तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब--स्वसम्पत्ति--स्वात्मानुग्रह--स्वविद्याबुद्धिज्ञान--आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी--परसम्पत्तिलिप्सु-- परानुग्रहाकांक्षी--परविद्या--

शिक्षोच्छिष्टभोगी सर्वात्मना परतन्त्र । इसी झञ्झावात--युग की प्रक्रान्ति के महाभयकाल में महाविकराल-महाकाल से समतुलित उन परदेशीय सम्मान्य अतिथियोंनें इस भारतीय मानव की तथाविधा नितान्त भावुकस्थिति को लक्ष्य बनाते हुए–'दूसरों की दुर्बलता से लाभ उठाना ही मानव का महान् गुण है" इस लोकसूत्रास्त्र का प्रहार कर ही तो डाला इसके मर्म्म--भावुक--स्थलों पर । सुअवसर--अनुरूप--अनुकूल-परिस्थिति से लाभ उठाने की कला में पूर्ण कुशल इन आगन्तुक अतिथिनैष्ठिकोंनें इस भावुक मानव की भावुकता के साथ जो जो जैसे जैसे क्रीड़ाकौशल किए !, वे आज सर्वविदित हैं, सर्वानुभूत हैं । विवेकभ्रष्ट, स्वलक्ष्यच्युत, परप्रत्ययनेय, आत्मबुद्धिविमूढ़ भावुक मानव की स्थिति का यही तो परिणाम, किंवा दुष्परिणाम सुनिश्चित था, जिसका कुफल अद्यावधि इसे विवश बन कर भोगना पड़ रहा है । यही है दासानुदासवर्त्मा वर्त्तमान भारतीय मानव के पतन के दुःखपूर्ण–उद्वेगकर इतिवृत्त का संस्मरण, जिसे माध्यम मान कर ही हमें 'मानवरूपरेखा' में प्रवृत्त होना है ।

(१८)––मानव की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता––

कर्णाकर्णिपरम्परया सुना जा रहा है कि, अमुकामुक मानवश्रेष्ठों की मानवीय सदुपायपरम्परा से अमुक मानवराष्ट्र (भारतवर्ष) परदासता से एकान्ततः विनिर्गत होता हुआ आज सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर प्रभुसत्तासमर्थ--सार्वभौम--गणतन्त्र--पद पर समासीन हो गया है, जिसकी लोक अभिधा मानी जारही है वर्त्तमान में 'प्रजातन्त्रराज्य'। "स्वराष्ट्रानुगता विविध मतवादपरम्परा * के साथ साथ परराष्ट्रानुग्रह से आगत समागत विविध मतवादपरम्पराओं÷से आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः-आपाद-मस्तक-आमूलचूड़ सुविभूषित भारतीय मानवसमाज आज सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर स्वच्छन्दतापूर्वक सुखशान्ति से विचरण कर रहा है" नितान्त भावुकतापूर्णा इस व्याजपरिपूर्णा कल्पित उच्च घोषणा की प्रतारणा से यहाँ का मानव आज किस प्रकार स्वात्मावबोध के स्थान में स्वात्मावबोधपथ से पराङ्मुख बन रहा है !, किंवा बनाया जा रहा है !, यह सामयिक प्रश्न भी मीमांस्य ही माना जायगा, जिसका समाधान उत्तरखण्डान्तर्गत परिच्छेदों में हीं यथासम्भव समाहित बन सकेगा । प्रकृत में तो हमें केवल मानव की उस प्राकृतिक स्वरूपरेखा की ही ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिस प्राकृतिक स्वरूपबोध के विलुप्तप्राय हो जाने से वर्त्तमान युग के भारतीय भावुक मानव ने अपना सब कुछ विस्मृत करते हुए, 'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' सिद्धान्त को अक्षरशः अन्वर्थ बनाते हुए अपने आपको सर्वात्मना लक्ष्यभ्रष्ट ही बना लिया है ।

---

*––श्रीरामानुज, रामानन्द, वल्लभ, निम्बार्क, माध्व, चैतन्य, कबीर, नानक, दयाल, सुन्दरदास, दादू, रैदास, आदि आदि सन्तों की भावना से संयुक्त अगणित प्राच्य मतवादपरम्परा ।

÷––फासिज्मवाद–कम्यूनिज्मवाद–सोशलिज्मवाद––केपिटिलिस्टवाद––गणतन्त्रवाद–आदि आदि–असंख्य प्रतीच्यमतवादपरम्परा ।

(१६)—'मानव' शब्द का प्रावाहिक निर्वचन—

अमुक आकृति–प्रकृति–अहंकृति (आकार–स्वभाव–एवं आत्मप्रत्ययानुभूतिलक्षण–अहंभाव) से संयुक्त अमुक पाञ्चभौतिकपिण्ड (रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्र–त्वक्–रोम–केश–नखादि युक्त शरीरपिण्ड) 'मानव' अभिधा से क्यों ?, और कब से सम्बोधित होने लगा ?, यह प्रश्न मानव की रूपरेखा में प्राथमिक प्रमाणित हो रहा है। अतएव सर्वप्रथम इस भावुकतापूर्ण सहजप्रश्न के भावुकतास्वरूपसंग्राहक, किंवा लोकसंग्राहक सामयिक समाधान की ओर ही भावुकतापथानुगामी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शब्दशास्त्र–(व्याकरणशास्त्र)–वेत्ता धातु–प्रकृति–प्रत्यय–आदि व्यञ्जनाओं के ज्ञाता विद्वान् कहते है,–'**मनोरपत्यं मानवः**' के अनुसार 'मनु' की सन्तति ही 'मानव' है। यही 'मानव' अभिधा का मौलिक कारण है। तात्पर्य्य स्पष्ट है। मानवजाति के मूलपुरुष क्योंकि–'मनु' नामक व्यक्तिविशेष थे। तद्वंशज होने से ही अमुक भौतिक पिण्डशरीरी अमुक आकृतिप्रकृत्यहंकृतिरूप प्राणि-समाज 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रकार–'**मनोरपत्यं–मनोर्गोत्रापत्यं वा**' इत्यादि निर्वचन के अनुसार सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक 'मनु' नामक व्यक्तिविशेष की वंशपरम्परा से अनुप्राणित, अतएव 'मानव' अभिधा से व्यवहृत इस श्रेष्ठतमा मानवजाति के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ (महाभारत) ने भी इसी शाब्दिक, किंवा प्रावाहिक भावुकतापूर्ण निर्वचन का ही समर्थन किया हैं, जैसा कि निम्नलिखित बचन से स्पष्ट है—

धर्म्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः ॥
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥ १ ॥
ब्रह्म–क्षत्रादयस्तस्मात्–"मनोर्जातास्तु मानवाः" ॥
ततोऽभवत् महाराज ! ब्रह्मक्षत्रेण सङ्गतम् ॥ २ ॥

—महाभारत

आदि मनु स्वयम्भू, तत्पुत्र विवस्वान्मनु, तत्पुत्र वैवस्वत मनु, तत्पुत्र अयोध्याराज्यसंस्थापक इक्ष्वाकु मनु, इत्यादि वंशपरम्परारूप से सुप्रसिद्ध विविध मनुओं में से कौन से मनु–'मानववंश' के मूल-प्रवर्त्तक थे ?, किस सृष्टिक्रम के आधार पर किस मनु को कैसे मानव का मूलपुरुष माना गया ?, असुर–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस–पिशाच–आदि आदि जिन विभिन्न योनियों को, किंवा प्राणिजातियों को भी 'मानव-जाति' के समान ही 'मनुवंशजाः' घोषित करने वाला भारतीय इतिहास किन किन विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से किस किस मनु को किस किस प्राणिजाति का मूलपुरुष मान रहा है ?, इत्यादि सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का निर्विरोध समन्वय उस वैज्ञानिक तत्त्ववाद पर ही अवलम्बित है, मतवादद्वारा जिसके अभिभूत-विलुप्तप्राय हो जाने से इस प्रकार के सभी प्रश्न वर्त्तमानयुग के भावुक भारतीय मानव के लिए पदे पदे सन्देहजनक प्रमाणित हो रहे हैं। अवश्य ही इस संदिहान जाल से आत्मत्राण करने के लिए हमें अनन्य

निष्ठा से पारम्परिक निगमागमाम्नाय के आधार पर उस ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण तत्त्वज्ञान का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा, जिसके समाश्रयाधार पर ही औपनिषद महर्षि का "**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः**' (कठोपनिषत्) यह सिद्धान्त अन्वर्थ बना करता है। प्रक्रान्त 'मानवस्वरूपरूपरेखा' में उपवर्णित वह आर्ष दृष्टिकोण अवश्य ही हमें सभी स्थलों के समसमन्वय की प्रेरणा प्रदान करेगा। अभी तो हमें श्रद्धाशील बन कर '**यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्**' को ही आधार मानते हुए इस तथ्य पर ही विश्राम कर लेना है कि,—

अवबोधनार्थक–ज्ञानार्थक–'मनु' धातु से ('मनु' अवबोधने, तनादि धातु से) अपत्यार्थ में 'अण्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'मानव' शब्द का भावुकतास्वरूपसंग्राहक प्रचलित–प्रावाहिक (गतानुगतिक) अर्थ है—'**मनु की सन्तान**'। प्रकृति–प्रत्यय–धातु–क्रिया–लकारार्थ–लिङ्गर्थ–प्रक्रिया–आदि आदि भावुकतापूर्णा प्रचलित निर्वचनशैली के आधार पर 'मानव' का यही संक्षिप्त शब्दार्थ हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। किन्तु·········?।

(२०)—शब्दानुगता इतिहासमर्य्यादा—

किन्तु समस्या है तत्त्ववादमूला शब्दरहस्यात्मिका उस वैज्ञानिकी पद्धति के सम्बन्ध में, जिसकी निर्वचनप्रणाली का मूल आधार है—'**न सन्ति यदृच्छाशब्दाः**'। न केवल सम्पूर्ण ग्रन्थ का ही, अपितु ग्रन्थान्तर्गत गद्य–पद्य–विभागों का, तदन्तर्गत वाक्य–श्लोकों का, वाक्य–श्लोकावयवरूप पद–शब्दों का, पदशब्दावयरूप स्वर–वर्णभावों का, सबका अपना अपना एक स्वतन्त्र इतिहास प्रातिस्विकरूप से सुरक्षित रहा करता है। उस इतिहास के आधार पर ही शब्दब्रह्म के वाङ्मयकाय (शरीर) का स्वरूपनिर्म्माण हुआ करता है। इस नित्यसिद्ध, अतएव प्राकृतिक शब्देतिहास के अनुग्रह से वाङ्मयप्रपञ्च का प्रत्येक सन्दर्भ (प्रकरण), प्रत्येक वाक्य–श्लोक, प्रत्येक पद–शब्द, प्रत्येक स्वर–वर्ण अवश्य ही अपना अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व सुरक्षित किए हुए है। बाह्य–लोकदृष्टि से सर्वथा निरर्थक भी प्रतीयमान शास्त्रीय डित्थ-कपित्थ–आदि यदृच्छाशब्द, एवं–टपाटप् खटाखट्–आदि लौकिक यदृच्छाशब्द भी अपना सुगुप्त भावार्थ सुरक्षित रख रहे हैं। अ–आ–इ–ई–आदि स्वरात्मक वर्ण, एवं क–च–ट–त–पादि व्यञ्जनात्मक वर्ण भी अर्थगरिमा से समन्वित हैं *। इसी आधार पर आगमशास्त्र की एकाक्षरबीजमन्त्रव्यवस्था व्यवस्थित

---

*—शृणु तत्त्वमकारस्य अतिगोप्यं वरानने ! शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयः सदा ॥
आकारं परमाश्चर्य्यं शङ्खज्योतिर्म्मयं प्रिये ! ॥ इकारं परमानन्दसुगन्धकुसुमच्छविम् ॥
ईकारं परमेशानि ! स्वयं परमकुण्डली ॥ उकारः परमेशानि ! अधः कुण्डलिनी स्वयम् ॥
'कः' क्रोधीशो महाकालो कामदेवप्रकाशकः ॥ 'चः' पुष्करो हली वाणी चात्मशक्तिः सुदर्शनः ॥
—कामधेनुतन्त्रे

हुई है। सर्वात्मना मननीय उस निश्चित शब्देतिहासात्मक अर्थ के आधार पर ही शब्दब्रह्म प्रादुर्भूत हुआ है। जब तक उस तात्त्विक इतिहास को हृत्प्रतिष्ठ नहीं बना लिया जाता, तब तक केवल प्रकृति--प्रत्यय--धातु--क्रिया--लिङ्गादिमात्र के बल पर (व्याकरणमात्र के निर्वचनाधार पर) कदापि शब्दब्रह्म के तत्त्वार्थबोध का अनुगमन सम्भव नहीं बन सकता। बाह्यदृष्ट्या सर्वथा अशुद्ध--निरर्थक--निष्प्रयोजन--से प्रतीयमान यच्चयावत् भाषाओं से कृतरूप सुप्रसिद्ध 'शाबरमन्त्र' इसी सिद्धान्त के आधार पर तत्त्वार्थ-परिपूर्ण प्रमाणित हो रहे हैं *। प्रत्येक शब्द के प्रत्येक स्वर (अक्षर)--वर्ण (व्यञ्जन) भी अपनी तत्त्वपूर्णा अर्थगरिमा से मननीय हैं। एवं इसी आधार पर इस मननीयता के कारण ही प्रत्येक अक्षर-वर्ण भी मननात् 'मन्त्र' है। इसी आधार पर भारतीय आगमशास्त्र का—**'अमन्त्रमक्षरं नास्ति'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

कृत्रिम–काल्पनिक–बुद्धिवादी, किंवा बुद्धयतिमानी भावुक मानवों की स्थूल भूतदृष्टि से सर्वथा परोक्ष, किन्तु सहज प्रज्ञाशील सन्निष्ठ मानवों की विद्याबुद्धिदृष्टि के लिए सर्वथा प्रत्यक्ष तथाकथित इतिहासानुगत शब्दब्रह्म–रहस्यार्थ अवश्य ही पुरायुगे अन्यान्य–पारम्परिक–आम्नाय–भारतीय निगमागम-विद्याओं की भाँति पारम्परिकरूप से शिक्षापद्धति में सहजरूप से समाविष्ट रहा होगा। किन्तु ऋक्–गाथा–कुम्ब्या–नाराशंसी–वाकोवाक्य–आदि आदि शिक्षानुगता अन्यान्य दिव्यप्रणालियों की विस्मृति के साथ-साथ शब्दब्रह्मानुसम्बद्धा तत्त्वमूला परम्परानुप्राणिता निर्वचनप्रणाली भी दुर्भाग्यवश, किंवा हमारी पर-प्रत्ययनेयानुगता भावुकता से आज सर्वात्मना विस्मृत–विलुप्तप्राय बन चुकी है। शब्दार्थमर्य्यादा की वह तत्त्वपूर्णा निकषा हमनें अपने ही प्रज्ञादोष से पराःपरावता बना दी है। **'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः'** इस लोकन्यायमात्र से सन्तुष्ट बनते हुए हम शब्दगरिमा का महत्त्व 'इतिश्री' से समन्वित मान बैठते हैं। अधिक हुआ, तो तत्त्वज्ञानानुगति से एकान्ततः विरुद्ध पर्य्यायपरम्परा का आश्रय ग्रहण करते हुए हम तुष्टि–तृप्ति के अनुगामी बन जाते हैं। इसी काल्पनिक अनर्थात्मक अर्थसाङ्कर्य्य का यह दुष्परिणाम है कि, वर्त्तमान युग का मानव अन्य विशिष्ट योग्यता–विकास की तो कथा ही विदूर, केवल भाषाव्यवहार-कौशल से भी पराङ्मुख बन गया है। "किस अवसर पर किस के सम्मुख कौनसा शब्द किस भाव से व्यवहार में लाना चाहिए" इस प्राकृतिक शब्दव्यवहारमर्य्यादा–स्वरूपज्ञानलव से भी वञ्चित भावुक मानव ने **'वागेवात्मा'** सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए अपना लिखा–पढा–सीखा–सिखाया–सब कुछ धूलि-सात् कर दिया है ÷। "मुद्गमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी' आभाणक को चरितार्थ करने वाला भाषाव्यवहार–तत्त्व–ज्ञानवञ्चित आज का मानव अपनी असफलता–परम्पराओं के अन्यान्य कारणों में से

---

*—काली कलकत्ते वाली, तेरा बचन जाय नहिं खाली। एक फूल हँसे, एक फूल डसे। फुरो मन्त्र। ईश्वरोवाच। हुँफट–अस्त्राय फट्.........इत्यादि।

÷ —"बोलबो न सीख्यो. सब सीख्यो गयो धूल में"। (लोकसूक्ति)

इस 'भाषाव्यवहारमर्य्यादास्खलन'–रूप महाकारण का भी आज प्रधानरूप से सम्मान्य अतिथि बन चुका है। कर्त्तव्यनिष्ठा (आचरणनिष्ठा) के साथ–साथ मानव की वाङ्मयी शब्दव्यवहारनिष्ठा (भाषा) का आत्यन्तिक स्खलन ही मानव की बाह्यान्तर–पतनपरम्परा का प्रत्यक्ष प्रमाण बन रहा है।

कहाँ–कब–कैसे–क्या करना चाहिए, एवं कहाँ–कब–कैसे–क्या बोलना चाहिए ?, ये दोनों नैसर्गिक व्यवस्थित धाराएँ आज सर्वात्मना दूषित–अमर्य्यादित–उच्छृंखल–अमानवीय भावों की अनुगामिनीं बन गईं हैं। 'वाणी' विकारानुग्रह से 'पाणी' के द्वारा कृतस्वरूपा 'लिपि' के सम्बन्ध में तो आज कुछ कहना ही व्यर्थ है। वर्त्तमान युग की–महामहनीया ? उस श्रेष्ठतमा ? लिपि के सम्बन्ध में क्या कहें, किससे कहें कि– 'श्री'–'ओम्'–'राम' आदि देवभावों की उपेक्षा करने वाली, लिपिपरम्परासिद्ध (समाम्नायव्याकरणाम्नायानुप्राणित) प्राकृतिक वर्णाक्षराकारों की सर्वथा उपेक्षा कर देने वाली, (आई–गई–इत्यादि के स्थान में आभी–गभी–इत्यादि रूप से भ्रष्टाचार का अनुगमन करने वाली) यह श्रीविहीना मस्तकश्रीशून्या कल्पिताकारसमन्विता नग्नस्वरूपा आज की लिपि मानों मानव की नास्तिकभावना–सर्वशून्यभावना का ही ताण्डवनृत्य कर रही है। आस्तां तावत्। युगधर्म्मानुगता भावुकता के अनुग्रह से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता के इस दुर्द्दान्त युग में अभिनिवेशाविष्ट परसंस्कृति–परआदर्श–परसभ्यता–परभाषा–परलिपि के व्यामोहन से आकर्षित होकर आज का मानव किस क्षेत्र में कैसा क्या बन गया है ?, अथवा तो बनता जा रहा है, उन सब अघटित–घटनाओं को प्रणम्य मानते हुए लक्षीभूत 'मानव' शब्द के उस तात्त्विक निर्वचनात्मक इतिहास की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिस इतिहास के क्रोड़ में मानवरूपरेखा का इतिवृत्त अन्तर्निगूढ़ है।

(२१)—मानवबोधानुगत श्रुतिपञ्चक—

'मानव' शब्द के तात्त्विक निर्वचन में प्रवृत्त होने से पूर्व हम यहाँ कुछ एक वैसे श्रौत–स्मार्त्त–वचन उद्धृत कर रहे हैं, जिनके माध्यम से मानव इस अनुभूति में प्रवृत्त हो सकेगा कि, मानव ने मानव को जो इस प्रकार सहज सुबोधगम्य मान रक्खा है, पश्वादि प्राकृतिक प्राणियों की भाँति–'जायस्व-म्रियस्व' परम्परा से आक्रान्त एक सामान्य प्राणी मान रक्खा है, मानव की स्वरूपस्थिति ठीक इसके विपरीत है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए निम्नलिखित आर्षवचनों को, एवं तदाधारेण मुकुलितनयन बन कर मीमांसा कीजिए अपने अन्तर्जगत् में मानव के उस गुहानिहित परोक्ष गरिमामय तात्त्विक स्वरूप की—

(१)—न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

—ऋक्संहिता १।१६४।३७।

(२)—अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
योमा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

—सामसंहिता पू० ६।३

(३)—अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य्य इवाजनि ॥

—ऋक्संहिता ८।६।१०

(४)—स (प्रजापतिः) पितॄन्त्सृष्ट्वा मनस्यैत्। तदनु मनुष्यानसृजत।
तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद—
मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति ॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।३।८।३।

(५)—यद्वै तत पुरुषे शरीरं—इदं वाव तत्—यदिदमस्मिन्नन्तःशरीरे हृदयम्।
अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः। यद्वै तद्–'ब्रह्म' इति—इदं वाव तत्–
योऽयं बहिर्द्धा पुरुषादाकाशः। यो वै स बहिर्द्धा पुरुषादाकाशः–अयं वाव
सः—योऽयमन्तःपुरुष आकाशः। यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः—अयं
वाव सः–योऽन्तर्हृदयआकाशः। तदेतत् पूर्णम्। अप्रवर्त्ति। पूर्णां–अप्रवर्त्तिनीं
श्रियं लभते, य एवं वेद ॥

—छान्दोग्योपनिषत् ३।१३।१२।

(१)—मैं–मानव–जोभी-जैसा भी-कुछ वास्तव में हूँ, यह मैं तत्त्वतः नहीं जानता। (अपने वास्तविक तात्त्विक स्वरूपबोध से सर्वथा अपरिचित रहता हुआ भी केवल अतिमानाकर्षण से) मैं 'निण्य' रूप से (सर्वथा सावधान--सज्जीभूत रूप से) इतस्ततः विचरण कर रहा हूँ (तात्पर्य्य, अपने अन्तर्जगत् में अपने मन हीं मन में अपने आपको सर्वात्मना–सावधान–सज्जीभूत–योग्य–कुशल–मेधावी–मनीषी–मननशील–बुद्धिमान् मानता हुआ–समझता हुआ अपने मनमाने ढंग से–इतस्ततः सबका पथप्रदर्शन कराता हुआ विचर रहा हूँ। इस प्रकार मुझे अपने स्वरूप का बोध तो है नहीं, और मान रहा हूँ मैं अपने आपको पूर्ण कुशल, पूर्ण योग्य, मन्त्रपूर्वार्द्ध का यही निष्कर्षार्थ है)। (सौभाग्य से) जब मुझ मानव में 'ऋत' (परमेष्ठी) तत्त्व की प्रथमजा (पहिले उत्पन्न होने वाली–ऋततत्त्व से सर्वप्रथम आविर्भूता) सहजप्रज्ञा (सहजज्ञानात्मक प्राकृतिक सहज आत्मबोध) का उदय हो जाता है, तो इस ज्ञानोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही (आदित्)–मैं मानव–उस ऋतस्य प्रथमजा–लक्षणा–आत्मबोधपरिपूर्णा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' (सत्यनिष्ठासंग्राहिणी प्रज्ञा) देवी–(पारमेष्ठिनी आम्भृणीदेवी से अविनाभूता सरस्वती

वाग्देवी) के भागधेय का भोक्ता बनने का अधिकारी बनता हूँ (बन जाता हूँ) । (तात्पर्य्य, स्वरूप-बोधानन्तर ही मानव अपने परिपूर्ण स्वरूप का अनुगामी बनने में समर्थ होता है । यही मन्त्रोत्तरार्द्ध का भावार्थ है) ॥

(२)—मैं-मानव-'ऋत' (पारमेष्ट्य ऋतरूप—चिद्ब्रह्मयोनिर्लक्षण आकृति—प्रकृति--अहंकृतिरभिख्याता--सत्त्वरजस्तमोगुणान्वित महानात्मा) से सर्वप्रथम (चेतनसृष्टि में) उत्पन्न होने के कारण (**ऋतस्य-प्रथमजा**'(ऋत पारमेष्ठ्य महान् से सर्वप्रथम उत्पन्न) नाम से प्रसिद्ध हो रहा हूँ । (सौर) देवसर्ग से (भी) पूर्व (पहिले) अमृत (सोम) तत्त्वात्मक ऋत (पारमेष्ठ्य महान्) के 'नमन' (आगमन) से मेरा स्वरूपनिर्म्माण हुआ है । क्रमिक सृष्टिधाराक्रम में मेरा (मानवसृष्टि का) स्थान—(ऋतपरमेष्ठी के भृगुगर्भित अङ्गिरातत्त्व के चितिभाव से समुत्पन्न सूर्य्य, एवं तत्प्राणरूप) देवसर्ग से भी पूर्व है । जो त्वष्टा प्रजापति (परमेष्ठी प्रजापति) मुझे मेरे शरीर की रक्षा के लिए सौरचान्द्रमण्डलद्वारा सप्तविध अन्नसम्पत्ति प्रदान करता है, वही देवाधिदेव (सौरदेवों का भी अधिपति) प्रजापति सौर बृहतीसहस्रमित (३६००० छत्तीस हजार आयुःसूत्रमित) जीवन सूत्रों के भुक्त हो जाने पर (शतायुर्भोगानन्तर) मुझे अपने आप में आत्मसात् करता हुआ मुझे अपना अन्न बना लेता है। मैं उसका अन्न हूँ, भोग्य हूँ समष्टि—व्यष्टिरूप से उभयथा । अन्नात्मक बने हुए मुझे निरन्तर आत्मसात् करते रहने वाले उस सर्जक प्रजापति को मैं भी आत्मसात् करता रहता हूँ । उसकी प्रवर्ग्यशक्तियों को आत्मसात् कर मैं स्वस्वरूप से सुरक्षित हूँ, तो उसमें मेरी शक्तियाँ प्रवर्ग्यरूप से समाविष्ट होतीं रहतीं हैं । दोनों का परस्पर अन्नान्नाद—भोग्यभोक्तृ—प्रदानादान—सम्बन्ध सहजरूप से--धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त है ॥

(३)—(ऋत) प्रजापति की भृगुप्राणानुगता स्नेहगुणान्विता, अतएव संगमनशीला, अतएव 'मेधा' नाम से प्रसिद्ध आशुग्रहणभावात्मिका मानसवृत्ति का अपने विद्याबुद्धिक्षेत्र में सम्पूर्ण प्राणियों में से केवल मैंने ही ग्रहण किया है (मानसमेधागुणान्विता विद्याबुद्धि का विकास प्राणिसृष्टि में केवल मानव में ही हुआ है, यही तात्पर्य्य है) । इसी मेधामयी बुद्धि के अनुग्रह से मैं (मानव) सूर्य्य की भाँति विश्व में प्रादुर्भूत हुआ हूँ * (जो स्थान महाब्रह्माण्ड में ब्रह्माण्डकेन्द्रस्थ अमृतमृत्युमय, अतएव पूर्ण-भावापन्न सूर्य्य का है, प्राणिजगत् में वही स्थान मानव का है, यही निष्कर्ष है) ॥

(४)—उस (सौम्यप्राणप्रधान, अतएव—'**पितरः सोम्यासः**' के अनुसार पितृप्राणप्रधान महन्मूर्त्ति परमेष्ठी) प्रजापति ने पितरों को उत्पन्न कर उन्हें अपने (मनुर्लक्षण) मन की ओर आकर्षित किया (जिस इस प्राकृतिक स्थिति के आधार पर ही—'**मन इव हि पितरः**, (शत० १४।४।३।१३ यह निगम-प्रतिष्ठित हुआ), मनोबल—मानसशक्ति—को लक्ष्य बनाया । इस लक्षीभूत मनुर्म्मय मानसबल—हृदयबल—के द्वारा ही प्रजापति ने मनुष्यों को उत्पन्न किया । मानवप्रजा क्योंकि प्रजापति के मनोबल से,

*—"**योऽसावादित्ये पुरुषः—सोऽहम् । सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" ।

मानस हृदयबल से उत्पन्न हुई, अतएव यह मनोबल-(हृदयावच्छिन्न अन्तर्य्यामात्मक व्यान-प्राणात्मक सत्यनिष्ठात्मक ऋजुभावापन्न बल) ही मनुष्यों का मनुष्यत्त्व (मानवता-मानवधर्म्म) कहलाया, यही इसका स्वरूपधर्म्म माना गया। जो मनुष्य सृष्टिधाराक्रम के इस पारमेष्ठ्य प्राजापत्य रहस्य को सम्यक् प्रकारेण जान लेता है, इसे सम्यग्रूपेण अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपने मानसक्षेत्र में अनुभूत कर लेता है, वह मनुष्य अपने सर्जक प्रजापति के उस महन्मन में ही समाविष्ट हो जाता है, ईश्वरीय मनोबल से समन्वित हो जाता है। ऐसे मनस्वी-परिपूर्ण-प्रजापतिसमतुलित-महामानव का मनु (प्राजापत्य हृद्य बल) कभी परित्याग नहीं करते। कभी ऐसा मानवश्रेष्ठ अपनी प्राकृतिक ईश्वराज्ञासिद्ध नैगमिक कर्त्तव्य-निष्ठा से पराङ्मुख नहीं बनता॥

(५)—जो कि इस पुरुषसंस्था (अध्यात्मसंस्था) में पाञ्चभौतिक शरीराकाश (भूताकाश) है, यह वही आकाश है, जो कि इस अध्यात्मसंस्था में 'हृदयकाश' है, जिसमें कि आत्मदेव प्रतिष्ठित हैं। (शरीरप्रतिष्ठारूप भूताकाश, एवं आत्मप्रतिष्ठारूप हृदयाकाश, दोनों समतुलित हैं, अतएव महिमारूप से दोनों अभिन्न हैं, यही तात्पर्य्य है)। भूताकाश से अभिन्न इस हृदयाकाश में हीं द्वासप्ततिसहस्र (७२००० बहत्तर हजार) सुसूक्ष्म नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्राण अर्करूप से (रश्मिरूप से) प्रतिष्ठित हैं। जो कि लोक एवं वेद में 'ब्रह्म'-'परब्रह्म' 'ईश्वर'-'प्रजापति' आदि विविध नाम-रूपों से प्रसिद्ध हो रहा है, वह ब्रह्म यह महतोमहीयान् विशाल आकाश (परमाकाश) ही तो है, जो इस पुरुष (अध्यात्मसंस्था) में बहिर्भूत अनन्त अपरिमित रूप से प्रतीत हो रहा है। 'खं' ब्रह्म ही तो ब्रह्म का साक्षात् स्वरूपदर्शन है। जो कि-पुरुष (अध्यात्मसंस्था) से बाहिर की ओर सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मात्मक यह परमाकाशलक्षण **'नभस्वान्'** नामक ब्रह्मात्मक बाह्याकाश (खं ब्रह्म) है, वही तो यह हैं, जो कि (पुरुष में) हृदयात्मक आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) आकाश है। (परमाकाशरूप आधिदैविक ईश्वरीय ब्रह्माकाश, एवं हृदयाकाशरूप आध्यात्मिक मानवीय पुरुषाकाश, दोनों अभिन्न हैं, यही तात्पर्य्य है)। इस प्रकार इस अभिन्नता के कारण ही मानव उस परब्रह्म की व्यापक ब्रह्मविभूतियों से सर्वात्मना समतुलित बनता हुआ परिपूर्ण है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है, शाश्वत है, सनातन है। जो मानव आकाशात्मक ब्रह्म के इस स्वस्वरूपानुगत स्वात्मबोध से वास्तविकरूप से सुपरिचित-समन्वित-संयुक्त हो जाता है, दूसरे शब्दों में आत्मनिष्ठापूर्वक इस आकाशाभेद को अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपनी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित कर लेता है, वह ब्रह्मवत् शाश्वत-परिपूर्ण-भूमात्मक वैभव का अन्यतम भोक्ता बन जाता है।

संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदों के पूर्वोद्धृत पाँच वचनों के तथाकथित अक्षरार्थमात्र के आधार पर ही यद्यपि 'मानव' के स्वात्मबोधस्वरूप 'बोध' का (मानव के वास्तविक परिपूर्ण स्वरूप का) स्पष्टीकरण हो जाता है। तथापि ऋषिवाणी के, इस गहन-गभीरार्थ-गर्भिता आर्षवाणी के अक्षरार्थ समन्वयमात्र से हम इसके अन्तस्तलस्पर्श से वञ्चित ही रह जाते हैं। अतएव उक्त आर्षवचनों के सम्बन्ध में इन वचनों को मूल बनाते हुए संक्षेप से कुछ और भी निवेदन कर देना अनिवार्य्य मान रहे हैं। वचनक्रमानुसार ही आर्षवचनों के तात्त्विक समन्वय को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधारेण मानव के वास्तविक स्वरूप से अपने आपको कृतकृत्य कीजिए।

(२२)—श्रुतिवचनों का तात्त्विक समन्वय—

(१)—मानव, हाँ—पाञ्चभौतिक **स्थूलशरीर** से संयुक्त, वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन, इन पञ्चविध इन्द्रियों से नित्य समन्वित *, 'सर्वेन्द्रिय', अतएव 'अतीन्द्रिय', अतएव च 'अनिन्द्रिय' नाम से प्रसिद्ध इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानमय **मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त**, इन खण्डात्मलक्षण प्राकृतात्माओं (प्रज्ञानात्मा-विज्ञानात्मा-महानात्मा-अव्यक्तात्मा-की समष्टि) से नित्य समाश्लिष्ट, अर्थशक्तिमय पार्थिव वैश्वानर, क्रियाशक्तिमय आन्तरिक्ष्य तैजस, एवं ज्ञानशक्तिमय द्युलोकानुगत प्राज्ञ, इन तीनों स्तौम्य (त्रिवृत्-६-, पञ्चदश-१५-, एकविंश-२१-स्तोमरूप स्तौम्यलोकत्रयी) खण्डों से कृतरूप **भूतात्मा** (जीवात्मा-देहाभिमानी-सप्तदशराशियुक्त भोक्तात्मा नामक देही कर्म्मात्मा) के अहंभाव से ओतप्रोत, 'अव्यय' नामक **पुरुषब्रह्म** (अमृतब्रह्म-विश्वेश्वर) से अनुगृहीत, इन सम्पूर्ण तत्त्वभावों-भूतभावों-प्राणभावों से परिपूर्ण बना हुआ भी मानव अपने शरीरानुबन्धी जन्मक्षण से आरम्भ कर मृत्यूपक्रमक्षणपर्य्यन्त योगमायाप्रभावेण अपने आपको सर्वज्ञ-(सर्वज्ञानमय)-सर्ववित्-(सर्वार्थमय)-सर्वशक्ति (सर्वक्रियामय) के अतिमान से संयुक्त मानने की भयावह भ्रान्ति करता हुआ लक्ष्यहीन बन कर इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है। योगमायानिबन्धन मोह के निग्रहानुग्रह से विश्वप्राङ्गण का यह सर्वश्रेष्ठ भी मानवप्राणी अपने आत्मस्वरूप-बोध से वञ्चित हो रहा है, और यही **'न विजानामि यदि वा इदमस्मि'** मूला (अज्ञानमूला) दुःख-प्रवृत्ति का मूलकारण है।

मोह भी कैसा भयानक ?, कैसा प्रतारक ?, सर्वथा अनतिप्रश्नात्मक। सत्-असत्-विवेक का कुछ भी बोध तो है नहीं। किन्तु मान और बखान रहा है यह अपने आपको अपने मन ही मन में, तथा स्वसदृश अतिमानी मानववर्ग में पूर्ण योग्य, सर्वात्मना कुशल, निःसीम बुद्धिमान्, सब विषयों का तत्त्व-परिज्ञाता, बड़ा ही सजीभूत-सावधान। "मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैंने ऐसा कर दिया, मेरा ही यह असम साहस था कि जो ऐसा हो गया, मैंने यों दान दे डाला, मैंने बड़े बड़े व्यवसाय-क्षेत्र स्थापित कर दिए, मैंने उसे उत्तर से हतप्रभ बना डाला, मेरा तर्क-मेरी भाषणशक्ति-मेरी लेखनशक्ति-मेरी वाचनशक्ति-मेरा प्रभूत वैभव, मेरा श्रेष्ठ कुल, मेरा यशोनाम" इस प्रकार क्षणे-क्षणे पदे-पदे स्थाने स्थाने अहन्ता-मदमत्तता-गर्विष्ठता-दम्भ-मान-मदान्विता की चर्व्वणा-घोषणा में आपादमस्तक ओतप्रोत आत्म-स्वरूपविस्मृत यह भ्रान्त-दिग्भ्रान्त-दिङ्विमूढ़ मोहवश लक्ष्यविहीन-किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना रहता हुआ अपने सर्वश्रेष्ठ मानव-जीवन को जिस प्रकार सर्वथा निरर्थक-अकर्मण्यरूप से व्यतीत करता हुआ भी

---

* वर्त्तमान भारतीय दर्शनशास्त्र जहाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्म्मेन्द्रियाँ, १ इन्द्रियमन, इस प्रकार एकादश-११-इन्द्रियाँ मानता है, वहाँ वैदिकविज्ञानकाण्ड में "वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मनांसि' रूप से पञ्चेन्द्रियवाद ही स्वीकृत हुआ है। दार्शनिक ग्यारहों इन्द्रियों का स्वरूपानुपात से वैदिक पञ्चेन्द्रियवर्ग में ही यथातथारूपेण अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि 'ईश' भाष्यादि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है।

भ्रान्तिवश मानता रहता है अपने आपको निरय–सन्नद्ध–बाह्यरूप से, तथा आभ्यन्तररूप से, उभयथा। ऋक्श्रुति के—'निरयः सन्नद्धो मनसा चरामि' का यही भावार्थ है, जिसके द्वारा मानव की इस आसुरभावनिबन्धना मोहदशा का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है—उद्बोधनात्मक परोक्ष संकेत के माध्यम से।*

"**निरयः सन्नद्धो मनसा चरामि**" यह तो है मानव की मोहात्मिका दशा, किंवा दुर्दशा। "हम ऐसे–हम वैसे, हम शिक्षित, हम लेखक, हम कवि, हम संगीतज्ञ, हम विद्वान्, हम धनिक, हम बड़े आदमी, हम बड़े आदमियों के मित्र" इत्यादिलक्षणा कल्पिततत्त्वपरिपूर्णा, अतएव शून्या अहम्मन्यता ने ही मानव को स्वरूपबोधपथ से वञ्चित कर रक्खा है। ऐसे महामोहान्धकाराभिनिविष्ट, कल्पना द्वारा अपने आपको सर्वेसर्वा मान बैठने की भयानक भ्रान्ति में निमग्न लक्ष्यहीन मानवों का परोक्षरूपेण उद्बोधन कराने का एक ही तात्त्विक सूत्र ऋषि की ओर से समुपस्थित हो रहा है—'**न विजानामि०**' इत्यादि। यदि तथागुणलक्षण मोहासक्त मानव भी किसी शुभ अनुरूप ब्राह्ममुहूर्तादिलक्षण पावन मुहूर्त में, स्वस्थ–शान्त–निरुपद्रव–एकान्त वातावरण में समासीन होकर क्षणमात्र के लिए भी स्वयं अपने आप से ही यह मूक प्रश्न करने का अनुग्रह कर लेगा अपनी मानवता से कि,–"अरे! यह रात-दिन-"मैं ऐसा करता हूँ, वैसा करता हूँ"–ऐसा हूँ–वैसा हूँ–इस प्रकार बड़े ही साहस–सावधानी–अतिमानपूर्वक जो अपनी जीवनयात्रा-लोकव्यवहारयात्रा में प्रवृत्त रहता हूँ, यह "मैं"-वास्तव में है क्या?"-तो निश्चयेन अवश्य ही इस मूक प्रश्न के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही इसके अन्तर्जगत् में एक महती समस्या जागरूक बन जायगी। और ज्यों-ज्यों यह अधिकाधिक उत्तरोत्तर इस मूकप्रश्नात्मिका महती समस्या को लक्ष्य बनाता जायगा, त्यों-त्यों इस का कृत्रिम दम्भ शनैः शनैः स्वयमेव विगलित होता जायगा। "**मैं कौन हूँ" कहाँ से आया हूँ-कहाँ चला जाऊँगा**"–इस प्रकार की मूकप्रश्नपरम्परा सहसा इसे आरम्भ में तो कुण्ठित-हतप्रभ–सा बना देगी। अतएव नहीं प्राप्त कर सकेगा यह तत्काल ही इस प्रश्नपरम्परा का निर्णयात्मक समाधान। किन्तु कालान्तर में इसी मूक प्रश्न की अभ्यासपरम्परा अन्ततोगत्वा इसे उस अचिन्त्यभाव की ओर उन्मुख करती हुई इसके मुख से सहसा इन उद्गारों को ही विनिःसृत कर देगी कि—'**न विजानामि, यदि वेदमस्मि**"। अरे रे! मैं स्वयं अपने आप तक को तो जानता नहीं, और फिर भी—"**निरयः सन्नद्धो मनसा चरामि**"। यह मेरी अपने आपकी कैसी आत्मप्रतारणा है?, अपने आपको कैसा धोखा देना, किंवा छलना है?, अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! महती विडम्बना!!!। अवश्य ही इस प्रकार की अपनी काल्पनिक विज्ञतावृत्ति का मर्म्मज्ञ बनता हुआ यह आरुरुक्षु मानव कालान्तर में—"**तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः**" की अनुभूति के माध्यम से एकान्तचिन्तनानुगत इस उत्तरगर्भित प्रश्नसूत्रानुग्रह से स्वरूपबोध की ओर प्रवृत्त हो जायगा, निश्चयेन हो जायगा।

---

* गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से, तथा अन्य निबन्धों में संक्षेप से मानव की दम्भ–मान–मदान्विता इस अतिमानैषणा का निरूपण हुआ है। देखिए-श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का '**आसुरमानवस्वरूपोपवर्णन**' नामक अवान्तर प्रकरण–(पृ० सं० ३६० से ३६७ पर्य्यन्त)।

आज मानव इस प्रकार आत्मबोध से वञ्चित क्यों है ?, प्रश्न का समाधान भी पूर्वसन्दर्भ से गतार्थ बन रहा है। आज के मानव का सब से बड़ा दोष यह भी माना जायगा कि, 'यह आज अपने आपको सम्पूर्ण क्षेत्रों में अपनी चञ्चुप्रवेशात्मिका ज्ञानलवदुर्विदग्धता के दम्भ से सर्वात्मना निःसीमरूप से निपुण–सन्नद्ध–योग्य–कुशल-दक्ष मान रहा है। 'सर्वे सर्वेषु क्षेत्रेषु कुशलाः'–भ्रान्ति ही मानव के सर्वनाश का कारण बन रही है, जिससे न केवल मानव ही, अपितु तत्समष्टिरूप राष्ट्र ही आज मोहगर्त्त में निमज्जित हो गया है *। ज्ञानलवदुर्विदग्धतामूलिका अल्पज्ञता के साटोप–प्रदर्शनख्यापन को ही आज मानव ने अपना अनन्य कौशल (चातुरी) मान लिया है, जिसका निदर्शन दुर्भाग्यवश हमारी जन्मभूमि का मानव (जयपुरीय मानव) प्रमाणित हो रहा है ÷। बेच रहे हैं शुण्ठि--मरीचिका--पिप्पल (सोंठ–मिर्च–पीपल), और बखान कर रहे हैं वेदान्तनिष्ठा का। कर रहे हैं अस्तव्यस्तरूप से–शुद्धाशुद्ध प्रकाराभास से पर······वणिकों के यहाँ पूजन–पाठ, दम्भ कर रहे हैं 'महामहर्षि' पद का। अहोरात्र व्यस्त–सन्त्रस्त हैं अपनी जघन्य अर्थलिप्सा में, पथप्रदर्शक बन रहे हैं ज्ञान–विद्या–शिक्षाक्षेत्र के। मानों सभी क्षेत्रों की विदितवेदितव्यता प्राप्त कर ली हो इन सर्वकामुक सर्ववादियोंनें। यह अनार्य्यजुष्ट पाण्डित्य का विमोहन, यह अकीर्त्तिकर सर्वज्ञता का दम्भ, सर्वोपरि यह अस्वर्ग्य–दम्भ–मान–मदान्वित शुष्क–उद्वेगकर–मिथ्या-प्रदर्शन मानव की आभ्यन्तर–ईश्वरप्रदत्त–सहज–सात्त्विक–विमल विभूतियों–शक्तियों को किस प्रकार द्रुतवेग से अभिभूत–मूर्च्छित करता जा रहा है ?, यदि यह मानव अंशतः भी इस दुःखोदर्कलक्षण इतिहास का परिज्ञान प्राप्त कर लेता, तो इसका माङ्गलिक अभ्युदयलक्षण उपक्रान्त--प्रक्रान्त बन जाता। इसी माङ्गलिक सूत्र की ओर परोक्षरूप से संकेत करते हुए ऋषि ने कहा है—'न विजानामि०'।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य उपनिषच्छ्रुति भी विशेष महत्त्व रख रही है। औपनिषद महर्षि ने तो विस्पष्ट भाषा में ही इस सूत्र का स्पष्टीकरण मानव के सम्मुख–आत्मबोधजिज्ञासु मानव के सम्मुख–यों समुपस्थित कर देने का निःसीम अनुग्रह कर दिया है कि—"पाण्डित्यं निर्विद्य, बाल्येन तिष्ठासेत्"

---

* सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे सर्वस्वमिच्छन्ति सर्वं तत्र विनश्यति ॥

÷ शेखावाटीप्रान्तीय एक चारण ने प्रान्तीय भाषा में जयपुराभिजनों की इस कल्पित यशःख्यापनता का जो चित्रण चित्रित किया है, वह भाषास्खलनदोष से असङ्गत बनता हुआ भी भावदृष्ट्या इस रूप से समाविष्ट माना जा सकता है—

"चणा चाब कहे–म्हे चाँवल खाया। नहीं छान पर फूँस–कहे होली सैं आया ॥
ऊँची देख दुकान–कहे या चुणाई मैंने, काम काज क माँय–बैठवा की फुरसत कोनै ॥
इतनी बात बणायक, फेर गली में जा धसे। 'प्रेमसुख' भोजक कहे इस्या लोग जेपर बसे॥

(बृहदारण्यकोपनिषत् ३।५।१) । "कल्पित पाण्डित्य के अतिमान का आत्यन्तिक परित्याग कर सर्वथा बालभाव से ही मानव को स्वस्वरूपबोधपथ पर आरूढ़ होना चाहिए" । पाण्डित्यातिमानपरित्याग से, तथा बालभावानुगति से होगा क्या ?, क्या फलसिद्धि होगी ?, इस जिज्ञासा का समाधान संहिताश्रुति का उत्तरार्द्ध कर रहा है ।

'ऋत का प्रथमजा तत्त्व' मानव पर जब अनुग्रह करता है, तो मानव का स्वतएव उद्बोधन आरम्भ हो जाता है । **अनृत–जिह्मता–माया–दम्भ–मोह–मद–मान–मात्सर्य्य–असूया–लोभ–क्रोध–**आदि मलीमस–पाप्मभावों का जब विषयानुरागिणी इन्द्रियों के द्वारा प्रज्ञानात्मक मानसक्षेत्र में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से समावेश हो जाता है, तो इन आसुरभावों के कारण सौम्य (चान्द्र) मन का सहज ऋतभावात्मक अजिह्म–अकुटिल–सत्त्वगुण तो हो जाता है अभिभूत–मूर्च्छित, एवं आसुरभावात्मिका वारुणी जिह्मता–कुटिलता से संयुक्त रजोमिश्रित तमोगुण हो जाता है उद्रिक्त–उद्बुद्ध । सुशान्त मानसप्रज्ञा विकम्पित–विचलित हो पड़ती है । प्रज्ञाप्राणात्मक–स्नेहगुणक–इस ऋतसोममय मन के विकम्पित होजाने से तत्र प्रतिष्ठिता बुद्धि कम्पित–चलित बन जाती है । मनो–बुद्धियुग्म का यह कम्पन–विचलन ही **'मतिविभ्रम'** है, जिसका मुख्य पुरुषार्थ है सत् में असत् की प्रतीति करा देना, एवं असत् में सत् का व्यामोहन करा देना । इसी व्यामोहन के कारण बुद्धि के उस व्यवसायात्मक–निश्चयात्मक–ऋजुः सत्यपथ से मानव स्खलित हो जाता है, जो व्यवसायात्मिका बुद्धि मानव को मानस–ऋतानुगामी बनाती हुई इसे अभ्युदय–निःश्रेयस् की ओर अग्रगामी किए रहती है ।

सहज–अजिह्म–अकुटिल–मानसप्रज्ञा सुशान्त स्थिर अविकम्पित बनी रहती है । इस सुशान्त प्रज्ञा के स्थिर धरातल पर प्रतिबिम्बित सूर्य्यात्मिका विद्याबुद्धि भी निश्चलरूप से पूर्ण विकास–प्रभारूपेण उद्रिक्त बनी रहती है । यही सुब्रह्मलक्षणा–'सुब्रह्मण्या' नाम से प्रसिद्धा पारमेष्ठिनी आम्भृणी वाग्देवी का वह ऋतम्भराप्रज्ञात्मक अमृत (सौम्य) भाग है, जिसे इस प्रकार प्रज्ञा–बुद्धि के व्यवसायात्मक सत्त्वगुणानुग्रह से सहजबुद्धिसमन्वित मानवश्रेष्ठ अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपना भोग बनाता हुआ स्वस्वरूपबोधानुगति में समर्थ हो जाता है । **'यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्य–आदिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः'** यह मन्त्रोत्तरभाग इस आत्मबोधस्वरूपोपयिक ऋतलक्षण अमृतफलभोग की ओर ही मानव का ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिसके वास्तविक स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही 'मानव' शब्द के तात्त्विक स्वरूपनिर्वचनात्मक तात्त्विक शब्देतिहास का संग्रह अत्र अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक मान लिया गया है । **'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य०'–'अहमिद्धि पितुष्परि'–'स पितॄन्त्सृष्ट्वा'–'यद्वैतत पुरुषे शरीरम्०'** इत्यादि चारों श्रुतियों का क्रमशः आगे यथाक्रम स्वरूपविश्लेषण होता रहेगा। अभी 'मानव' शब्द के तात्त्विक निर्वचन को ही लक्ष्य बनाया जा रहा है, जिस निर्वचन के माध्यम से ही उक्त श्रुतिचतुष्टयी का तात्त्विक समन्वय गतार्थ बन सकता है

(२३)—मनु की ऐतिहासिक परम्परा—

जैसा कि सत्रहवें परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है, 'मानव' शब्द भावुकतापूर्ण प्रावाहिक निर्वचन के अनुसार 'मनुवंशजत्त्व' का सूचक बन रहा है, इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता का हमें ऐति-

हासिक सन्दर्भसङ्गति के लिए सर्वात्मना समर्थन ही करना पड़ेगा। तथाकथित पौराणिक ऐतिहासिक तथ्य की प्रामाणिकता भी इसी आधार पर निर्विवादरूप से अक्षुण्ण ही मानी जायगी कि, पौराणिक अष्टविध आख्यानों में से एक आख्यान–प्रकार ऐसा भी है, जिसका समन्वय अध्यात्म–अधिदैवत–अधिभूत-- तीनों विश्वविवर्त्तों से सम्बद्ध है। तथाविध त्र्यात्मक आख्यानों का पार्थिव प्राणिलक्षण आध्यात्मिकजगत् से भी सम्बन्ध रहता है, पार्थिव भौतिकजगत्--भौतिक जड़पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध रहता है, एवं सौर दैविक पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध रहता है। इन तीनों दृष्टिकोणों में से आध्यात्मिक क्षेत्र व्यष्टि–समष्टिरूप से उभयथा आख्यान से सम्बन्धित माना गया है। व्यष्ट्यात्मक आध्यात्मिक क्षेत्र विशुद्ध आध्यात्मिक है, जिसका मानवेतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। समष्ट्यात्मक आध्यात्मिक क्षेत्र विशुद्ध ऐतिहासिक है। इस प्रकार मानव के मूलपुरुष स्थानीय 'मनु' की इस दृष्टिकोण से चतुर्द्धा प्रवृत्ति प्रमाणित हो जाती है। इतिहासप्रसिद्ध मनु (राजर्षि मनु) मानवसमाज की ऐहिक आमुष्मिक–नैतिक–लौकिक–धार्मिक–सामाजिक–राष्ट्रिय–आदि सम्पूर्ण व्यवस्थाओं के प्रवर्त्तक–व्यवस्थापक बनते हुए मानव-समाज के 'मूलपुरुष' कहलाए। एवं इस दृष्टिकोण से ही **'मनोरपत्यं मानव'** निर्वचन से मानवसमाज को मनुवंशज मान लिया गया, उसी प्रकार—जैसे कि एकेश्वर सत्तातन्त्रवादी भारतराष्ट्र में राष्ट्रपति शास्ता क्षत्रियराजा पिता मान लिया गया है, एवं तदनुशासित समाज '*प्रजा' शब्द से संयुक्त मान लिया गया है। इस मान्यता का एकमात्र आधार ऐतिहासिकी पारम्परिकी राजसत्ता ही मानी जायगी, जिस इस ऐतिहासिकी मान्यता का स्वयं निगमशास्त्र ने भी निम्नलिखित रूप से समर्थन किया है—

"मनुर्वैवस्वतो राजा–इत्याह। तस्य मनुष्या विशः (प्रजाः)। तऽइमऽआसतऽइत्य-श्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति"।

—शतपथब्राह्मण १३।४।३।३।

स्वयम्भू मनु के पौत्र, विवस्वान्मनु के पुत्र, अतएव "वैवस्वत" नाम से प्रसिद्ध अयोध्याधिपति सूर्य्यवंशी क्षत्रिय महाराज मनु ने × देवसर्गभूमि को ही अपना लक्ष्य मानते हुए मानवप्रजा (भारतीय प्रजा)

---

* प्रजा स्यात् सन्ततौ जने।

× प्राकृतिक 'विभ्राट्' तेजोमय क्षत्रतत्त्व सौरतेज–चान्द्रतेज–आग्नेयतेज, रूप से तीन भागों में विभक्त है। इस प्राकृतिक स्थिति के आधार पर भारतीय क्षत्रियवर्ग सूर्य्य--चन्द्र--अग्नि भेद से तीन ही मुख्य वर्गों में विभक्त रहा है। विवस्वान् से आरम्भ कर महाराज सुमित्र पर्य्यन्त अनुमानतः १२८ वंश-वितान भावों में अपने ओजस्वी प्रताप से भारतीय चक्रवर्त्ती पद का उपभोग करने वाले क्षत्रिय राजा सूर्य्यवंशी हैं। कुरुवंश चन्द्रवंश था। एवं--पमार--परिहार--सोलंकी--चौहान- आदि अग्निवंशी माने गए हैं। विवस्वान् रहे सदा देवसर्ग में ही। ये कभी भारतवर्ष नहीं आए। इनके इक्ष्वाकुप्रमुख आठ पुत्र हुए। इला नाम की एक कन्या हुई। इक्ष्वाकु ही प्रथम अयोध्यानरेश घोषित हुए।

की सम्पूर्ण व्यवस्था व्यवस्थित की। अतएव भारतीय प्रजा इन वैवस्वत मनु की 'विट्' (प्रजा) कहलाई। कौनसा मानवसमाज मनोरपत्यंरूपा मानवप्रजा कहलाया ?। क्या तपःपूत–ज्ञाननिष्ठ–ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मवर्ण-समाज मानवप्रजा कहलाई ?। नेति होवाच। नहीं। अपितु जो श्रौततत्त्व ज्ञानानुशीलन से बहिष्कृत थे, अतएव जो उस युग में सद्गृहमेधी (गृहस्थी) अश्रोत्रिय कहलाते थे, वे वैश्यादि मानव ही, एवं तदतिरिक्त यथाजात सामान्य वर्ण–शूद्र–अवर्णशूद्रादि मानव ही मनु की प्रजासीमा में अन्तर्भुक्त माने जाते थे। मनु का शासनदण्ड एवंविधा ब्राह्मणेतरप्रजा से ही सम्बन्धित था। ब्रह्मनिष्ठ–श्रोत्रिय–ब्राह्मण तो राजाओं का भी पौरोहित्यरूप से अनुशासन ही करते थे। ब्राह्मणों का एकमात्र बल था 'यज्ञ', जिसका मूलाधार माना गया है चान्द्रसोम। अतएव ब्राह्मण किसी क्षत्रिय राजा को अपना शास्ता न मानते हुए यज्ञ-प्रतिष्ठारूप सोम को ही अपना अनुशासक मानते थे, जैसा कि उनकी इस घोषणा से स्पष्ट है—"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा"

(२४)—सर्वव्यापक मनुतत्त्वोपक्रम—

तथाकथित ऐतिहासिक क्षेत्र के अतिरिक्त व्यष्ट्यात्मक–आध्यात्मिक–क्षेत्र की दृष्टि से तो मानव ही क्या, सम्पूर्ण प्राणिमात्र ही तत्त्वात्मक 'मनु' के वंशज माने और कहे जायँगे। प्रत्येक वस्तुतत्त्व के केन्द्र में–वह चेतन हो, अथवा तो जड़, सबके गर्भ में—अवस्थित तत्वविशेष ही तत्त्वात्मक 'मनु' है। अतएव प्राणिवत् प्रत्येक भौतिक जड़ पदार्थ की भी मूलप्रतिष्ठा तत्त्वात्मक 'मनु' ही प्रमाणित हो रहा है। एवमेव सौरमण्डलानुगत यच्चयावत् आधिदैविक पदार्थों की स्वरूपसत्ता भी मनुतत्त्वाधार पर ही अवलम्बित है, तदित्थं 'मनु' ऐतिहासिक पुरुषरूप से, तथा तत्त्वरूप से अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत, सर्वस्व के मूलाधिष्ठान मूलप्रवर्त्तक बने हुए हैं। ऐतिहासिक तथ्य सर्वविदित है। तत्त्वात्मक तथ्य ज्ञानविज्ञानात्मिका नैगमिक परिभाषाओं के विलुप्तप्राय हो जाने से विस्मृत बन चुका है। उसी तथ्यात्मक मनु के तात्त्विक रूप की संक्षिप्त दिशा के माध्यम से ही हमें 'मानव' की मौलिक रूपरेखा के अन्वेषणकर्म में प्रवृत्त होना है।

लक्षीभूत 'मानव' शब्द के स्वरूप–निर्वचन से पूर्व हमें तत्प्रतिष्ठानलक्षण 'मनु' तत्त्व को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा, एवं मानवधर्मशास्त्रव्याख्याता ऐतिहासिक मानवश्रेष्ठ भगवान् मनु से ही हमें यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करनी पड़ेगी कि भगवन्! जिस मानव की सुव्यवस्था–मर्य्यादा के लिए आपने 'मानवधर्म-शास्त्र' (मनुस्मृति) के आविर्भाव का निःसीम अनुग्रह किया, उस मानव के मूलभूत–मूलप्रतिष्ठानरूप तत्त्वात्मक 'मनु' का क्या तात्त्विक स्वरूप है ?, इस प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्त्व भी एकमात्र आपके अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। कारुणिक भगवान् मनु की ओर से अविलम्ब इस जिज्ञासा के समाधान के लिए यह समाधान हमें प्राप्त होगा कि—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥१॥

एतमेके वदन्त्यग्निं–मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेके–परे प्राण–मपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥२॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ॥
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥३॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ॥
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥४॥

—मनुस्मृति १२ अ०।१२२,१२३,१२४,१२५ श्लोकाः।

"सम्पूर्ण चर–अचरप्रपञ्च पर अनुशासन करने वाले, सुसूक्ष्म से भी सुसूक्ष्म, विशुद्ध–सुवर्णकान्ति-सदृश कान्तियुक्त, स्वप्नबुद्धिमात्र से जानने योग्य उस तत्त्वविशेष को (तत्त्वतः) 'परपुरुष' ही समझना चाहिए। (१)। कितने एक विद्वान् तथालक्षण इस तत्त्वविशेष को 'अग्नि' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं। तो दूसरे इस मनु को 'प्रजापति' अभिधा से सम्बोधित कर रहे हैं। कोई इसे 'इन्द्र' कह रहे हैं, तो दूसरे इस मनु को 'प्राण' रूप से ही उपवर्णित कर हैं। कितने एक पूर्णतत्त्वज्ञों की दृष्टि में यही मनु 'शाश्वतब्रह्म' नाम से उद्घोषित कर रहे हैं। इस प्रकार 'परपुरुष'–'अग्नि'–'प्रजापति'–'इन्द्र'–'प्राण'–'शाश्वतब्रह्म' इत्यादिरूप से विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध यही 'मनु' गुणभूत–अणुभूत–रेणुभूत–भूत-भूत–भौतिकभूत, इन पञ्चधा विभक्त सम्पूर्ण भूतप्रपञ्चों को अपनी पाँच ही मूर्त्तियों से (परपुरुषमूर्त्ति–अग्निमूर्त्ति–प्रजापतिमूर्त्ति–इन्द्रमूर्त्ति–प्राणमूर्त्ति–इन मूर्तियों से–) मूर्त-व्यक्त स्वरूपों से चारों ओर से, किंवा सब ओर से–आसमन्तात्–अभिव्याप्त कर जन्मवृद्धि–क्षयादि (जायते–अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते–नश्यति–इन सुप्रसिद्ध षड्भावविकारों) के द्वारा इस संसार को 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'–'व्यदधात्–शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इत्याद्यनुसार सनातनरूप से चक्रवत् परिभ्रममाण बना रहे हैं। (३)। पञ्चमूर्त्ति-लक्षण तथाप्रतिपादित मनु के इस शाश्वतब्रह्मरूप सनातनस्वरूप के–इस सर्वव्यापक आत्मा के सर्वव्यापक स्वरूप के जो मानव दर्शन कर लेता है, आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इस समदर्शनलक्षण आत्मबोध द्वारा अपने देही कर्म्मात्मा से उस देहातीत का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, वह आत्मतत्त्ववित् मानवश्रेष्ठ समब्रह्म से समतुलित बनता हुआ इस समत्त्वयोग के प्रभाव से शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। (४)॥" मनुतत्त्व-स्वरूपविश्लेषिका उक्त श्लोकचतुष्टयी का यही अक्षरार्थ है। अब संक्षेप से मनुप्रेमी मानवों का ध्यान श्लोकचतुष्टयी के तात्त्विक–पारिभाषिक उस परोक्ष अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित कर दिया जाता है, जो अर्थ नैगमिक परिभाषाज्ञान से वञ्चित व्याख्याकारों के प्रज्ञादोष से आज सर्वथा विपरीत पथानुगामी बन चुका है।

(२५)—महात्मा, दुरात्मा की मौलिक परिभाषा—

मानव, सर्वात्मना परिपूर्ण भी मानव अपने ज्ञानशक्तिघन मनोमय, क्रियाशक्तिघन प्राणमय, एवं अर्थशक्तिघन वाङ्मय केन्द्रस्थ भूतात्मा (कर्म्मात्मा) को, अपने इस भूतात्मा के मनःप्राणवाग्रूप तीनों

भूतात्मपर्वों को प्रज्ञापराधवश कुटिल–विषम–वक्र बनाता हुआ, दूसरे शब्दों में वाणी का प्रयोग कुछ ओर, कर्म्म विभिन्न ही प्रकार का, एवं मानस संकल्प कुछ विभिन्न ही । इसप्रकार संकल्प–कर्म–वाणी–तीनों धाराओं को अज्ञानमूला अविद्या–अनैश्वर्य्यमूला अस्मिता, रागद्वेषमूला आसक्ति, अधर्म्ममूलक अभिनिवेश–लक्षणा अविद्याबुद्धिचतुष्टयी के समावेश से सर्वथा विपरीत–विषम–दिगनुगामी बनाता हुआ अपने परिपूर्ण भी **'महानात्मा'** के स्वरूप से सर्वात्मना **'दुरात्मा'** (कुटिलात्मा–वक्रात्मा–विषमात्मा–असमात्मा) बनता हुआ मानव आज दानवकोटि की सीमा का भी उल्लंघन कर गया है । मानव का यह निःसीम आत्यन्तिक आत्मपतन किस दिशा–विदिशा का अनुगामी बन गया है ?, प्रश्न भी आज तो अनतिप्रश्नकोटि में समाविष्ट हो चला है ।

अपनी बाल्यावस्था में ऐसी घटनाओं की समुपस्थिति का सौभाग्य प्राप्त हुआ है हमें कि, पारस्परिक लोकव्यवहार में मानव हरितवृक्ष-छाया में खड़ा होकर तानूनपत्रग्रहण (शपथग्रहण) में भी पूर्ण साहस अभिव्यक्त किया करता था । आज से कुछ एक वर्षों का ही पूर्वमानव अपनी वाणी, तथा पाणी (लेख) की नैतिकता, धर्म्मशीलता का पूर्ण समर्थक था । किन्तु इन परिगणित २०–३० वर्षों में हीं मानव का वह नैतिकबल, वह धर्म्मनिष्ठा, वह आस्था सहसा कैसे एवं क्यों अभिभूत हो गई ?, प्रश्न आज हमें आश्चर्य में डाल रहा है । **'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी** * का निर्म्मम हनन कर देने वाला आज का दुरात्मा मानव सर्वात्मना–**"मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्–कर्म्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्"** (मन में कुछ ओर, मुख में कुछ ओर, करते हैं कुछ ओर ही, किंवा कल्पना कुछ ओर है, कह कुछ ओर ही रहे हैं, करते सर्वथा कल्पना–कहने से विपरीत ही । तभी तो मनःप्राणवाङ्मय आत्मा को कुटिल बनाते हुए ऐसे मानव–'दुरात्मा'–कुटिलात्मा' कहलाए हैं) इस आभाणकको अक्षरशः चरितार्थ कर रहे हैं । **"मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम्"** लक्षण नैतिक आदर्श इस मानव ने सर्वात्मना विस्मृत कर दिया है । और ऐसा दानवोपम मानव लौकैषणामूला अर्थलिप्सापरिपूर्णा, किंवा वित्त–पुत्र–लोकलिप्सासमन्विता अपनी चातुरी के बल पर अभ्युदय–निःश्रेयस्मूला शान्ति के, स्वस्त्ययन के सुखस्वप्न देख रहा है, इससे अधिक इसकी अपनी ही ओर से आत्मवञ्चना ओर क्या होगी ? । यदि अमृतपुत्र–परिपूर्ण–ऋतस्य प्रथमजा मानव को वास्तव में अभ्युदय–निःश्रेयस् का अनुगामी बनना है, तो इसका एकमात्र उपाय है—

---

* **या राका शशिशोभना गतघना सा यामिनी यामिनी ।**
या सौन्दर्य्यगुणान्विता पतिरता सा कामिनी कामिनी ॥
या गोविन्दरसप्रमोदमधुरा सा माधुरी माधुरी ।
या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी ॥
—कविसूक्तिः

"स्वात्मावबोधपूर्वक–ऋजुभावानुगतिपूर्वक प्राकृतिक धर्म्मपथ का निर्व्याज–निश्छलरूप से निष्ठामाध्यम से ऐकान्तिक अनुगमन। नान्यः पन्था विद्यते–अयनाय ÷"।

(२६)—यत्तदग्रे विषमिव, किन्तु परिणामेऽमृतोपमम्—

मानव के गरिमामहिमामय परिपूर्ण आत्मस्वरूपबोध के विश्लेषक कतिपय (५) श्रौतवचन (आर्षवचन) मानवताप्रेमी पाठकों के सम्मुख इस आशाप्रतीक्षा से उपस्थित हुए हैं कि, इनके माध्यम से अपने स्वरूपबोध से विस्मृत–पराःपरावत बना हुआ मानव उद्बोधन प्राप्त करे, तद्द्वारा अपनी महद्भ्रान्ति का मुकुलित-नयन बन कर अपने अन्तर्जगत् में ही अन्वेषण करे, एवं प्राणपण से तन्निराकरण के लिए सन्नीभूत बने। अब प्रतिज्ञात तत्त्वार्थ की ओर–मानवशब्द–निर्वचन की ओर–ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

"अहम्'– 'मनः'– 'मनुः'–'मनुष्याणाम्'– इत्यादि शब्दों का मूलाधारभूत 'मनु' तत्त्व ही मानवरूपरेखा की मूलव्याख्या है, एवं यही मानव का वास्तविक स्वरूप है, जिसके पाञ्चभौतिक महाविश्व में **"परपुरुष–अग्नि–प्रजापति–इन्द्र–प्राण–"** ये पाँच मुख्य विवर्त्त माने गए हैं, जिनके परिज्ञान से शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोद्धृत पाँच आर्षवचनों के तत्त्वार्थ का समसमन्वय ही एकमात्र 'मनु' शब्द की मानवधर्मशास्त्रोक्ता–मनुश्लोकचतुष्टयी से प्रतिपादिता--नैष्ठिकी तात्त्विकस्वरूपव्याख्या सर्वात्मना समन्वित बन जाती है।

इस में कोई सन्देह नहीं कि, शताब्दियों से विलुप्तप्राय वैदिक-तत्त्ववादानुगता परिभाषाओं के वास्तविक-पारिभाषिक-स्वरूपबोध से अधिकांश में असंस्पृष्ट आज के मानव के लिए प्रस्तुत 'मानवरूपरेखा' आरम्भ में **'इन्द्रशब्दस्य टीका–विडौजा'** न्याय से जटिलतमा दुर्बोध्या ही प्रमाणित होगी। किन्तु–**'यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम्'** ❋ इस आर्षसिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में कठिनवत् प्रतीत होती

÷ तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय। (यजुःसंहिता ३१।१८)
यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।२०

❋ यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
—गीता १८।३७।

हुई भी-÷यह स्वरूपव्याख्या मानवकी विविध समस्याओं का सहजभाव से समाधान करती हुई निश्चयेन परिणाम में आत्मबुद्धिप्रसादलक्षणा अमृतनिष्पत्ति--अमृतानुभूति को ही प्रमाणित करेगी। अतएव आग्रह-पूर्वक इस सम्बन्ध में हम अपने आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण मानवश्रेष्ठों से यह नम्र आवेदन करेंगे, कि, वे साहित्य की विषयगम्भीरतानुगता जटिलता की ओर से अनुकूलतापरायण मन को नियन्त्रित करते हुए बुद्धिपूर्वक ही इस रूपरेखा को लक्ष्य बनाने का नैतिक प्रयत्न प्रक्रान्त रक्खेंगे।

मानवस्वरूप का ही क्या, अपितु सम्पूर्ण चर–अचर–सृष्टि का मूलाधार 'मनु' तत्त्व राजर्षि मनु के शब्दों में अग्नि–प्रजापति–इन्द्र–प्राण–परपुरुष–शाश्वतब्रह्म–इत्यादि विविध नामों से उपवर्णित हुआ है। अवश्य ही मानवाधारभूत मनु के तत्त्वार्थ–बोध के लिए मनुःस्वरूपसंग्राहक इन अग्नि-प्रजापत्यादि सभी तात्त्विक अभिधाओं का तात्त्विक इतिहास जान लेना अनिवार्य्य माना जायगा, जिस परिज्ञानभाव के लिए किसी वैसी सामान्य परिभाषा का अनुगमन आवश्यक होगा, जिसके आधार पर इन विभिन्नार्थों के प्रतिपादक अग्न्यादि विभिन्न शब्दों का अविभिन्नरूप से समसमन्वय सम्भव बन सके। क्षरब्रह्मानुगता केवल विकारसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली उस सामान्य-परिभाषा से पूर्व क्योंकि कतिपय विशेष परिभाषाओं का परिज्ञान भी सामयिक था। अतएव इस 'मानवरूपरेखा' से पूर्व हमें उन विशेष परिभाषाओं का संक्षिप्त समन्वय कराना पड़ा (देखिए पृ० सं० १३७ वें पृष्ठ से १६० वें पृष्ठपर्य्यन्त)।

(२७)—काममयी मन्त्रदृष्टि—

*"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' इत्यादिमूलक प्रजोत्पादक (संसृष्टिलक्षण--सृष्टिप्रवर्त्तक) यज्ञ के आधार पर जिस योषावृषात्मिका मैथुनीसृष्टि का दिग्दर्शन पूर्व की विशेष परिभाषाओं का उपसंहार करते

÷यथार्थ में स्थिति तो यह है कि, मानवीय मन अपने प्रभव चान्द्रतत्त्व से सम्बधित गन्धर्वाप्सरा-प्राणों के सहज प्रभाव से संघर्ष से सदा उन्मुख ही बनता रहता है। काल्पनिक मनोभावों को, तदनुगता भावुकता को समुत्तेजित--प्रोत्साहित करने वाले सहजबोधगम्य-श्रवणप्रिय-रसनाप्रिय अनुकूल सङ्गीत नृत्य-बादन-वाङ्मुखमात्र उपन्यास-नाटक-कथा कविता-साहित्यादि ही मनस्तत्त्वके अनुरूप प्रमाणित होते रहते हैं। आत्मबुद्धयनुगत सौरदिव्यभावों-वेदशास्त्र--स्वाध्याय-ईश्वरोपासन--धर्म्मानुगमन--तत्त्वपूर्ण शास्त्रवाचन--आदि संघर्षात्मक सभी भावों से अनुकूलताप्रेमी मन की अनुकूलता पर क्योंकि प्रहार होता है। अतएव आत्म-बुद्धयनुगत सभी क्षेत्र इसके लिये आरम्भ में विषवत्--जटिलवत्--अरुचिकरवत् ही बने रहते हैं। यदि मानव निष्ठापूर्वक इस आरम्भदशा में संयम--नियन्त्रणद्वारा इन आत्मबुद्धयनुगत भावों में अभ्यास करता रहता है, तो निश्चयेन कालान्तर में यह आत्मबुद्धिक्षेत्रप्रसादभावापन्न बन जाता है। एवं उस दिशा में आरम्भ का व्यग्र मन भी शान्ति--तृप्ति का अनुभव करने लगता है।

* **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता ३।१०।

हुए कराया गया था (पृ० सं० १६०), उस सृष्टि के सम्बन्ध में एक यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि,–"जबकि सृष्टि का मूल अव्ययाक्षरगर्भित एक ही क्षरात्मा है, तो उस स्थिति में सृष्टि में, किंवा सृष्ट पदार्थों में परस्पर वैचित्र्य क्यों ?, विभिन्नता क्यों ? । इस विभिन्नता का एकमात्र मूलकारण है सृष्ट्युत्पादनभूत सजातीय–विजातीय–भावापन्न उन बलभावों का पारस्परिक सम्बन्धविभेद, जिन बलों के माया–जाया–धारा–आपः–अम्भ–सूत्र–नियति–हृदय–आदि आदि १६ मुख्य जातिभेद, एवं अगणित असंख्य उपजातिभेद यत्रतत्र उपवर्णित हैं । इन सम्पूर्ण सविशेष–भेदक बलों के रहते हुए भी एक वैसा सामान्य भी सृष्टि–अनुबन्ध है, जिसके माध्यम से विभक्त भी सृष्टिपदार्थों को समानधर्म्मा माना, और कहा जा सकता है । न केवल मनुनिबन्धन सामान्य- अभिव्यक्त स्वरूपों का ही, अपितु मनुनिबन्धन विशेष-विभक्त-अग्नि-प्रजापति-इन्द्रादिस्वरूपों का भी इस प्रतिपाद्य सामान्य परिभाषासूत्र से निर्विरोध समन्वय हो जाता है ।

आप्तकाम–आत्मकाम–सर्वजगद्व्यापक–सर्वव्यापक–अखण्ड–अद्वय–निर्विकार–निर्गुण–परमेश्वर में सृष्टि जैसे सीमित–सखण्ड–द्वैतभावापन्न–सविकार–सगुण–भाव की कामनारूपा सृष्टिकामना का उदय सम्भव ही कैसे हुआ ?, जबकि वहाँ कुछ भी अप्राप्त नहीं है, प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है, जिसका ईशविज्ञान-भाष्यादि में विस्तार से समाधान हुआ है । अभी हमें इस सिद्धान्त के माध्यम से ही मनुः-सम्बन्धिनी इस सामान्य परिभाषा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति बलाविर्भावतिरोभावलक्षणा सहज कामना के आकर्षण से 'सोऽकामयत' इत्यादि रूप से अपने अव्ययभाग से सृष्टिकामना अभिव्यक्त करते हैं, उस अव्ययभाग से–जिसे कुम्भकारानुगत घटसर्गप्रक्रिया के सम्बन्ध में पूर्व में हमने मनःप्राणवाग्रूप सृष्टिसाक्षी धरातल बतलाया है (देखिए पृ० सं० १५१) । 'स तपोऽतप्यत' रूप से अपने प्राणमय अक्षरभाग से आभ्यन्तरव्यापाररूपा क्रिया (यत्न–चेष्टा–कृति) का अनुगमन करते हैं ! एवं–'सोऽश्राम्यत्' रूप से अपने वाङ्मय क्षरभाग से बाह्यव्यापाररूप कर्म्म का अनुगमन करते हैं । इस प्रकार अव्यय–अक्षर–क्षरानुगत मनः-प्राण-वाङ्मय-काम-तपः-श्रम के समसमन्वय से प्रजापति पूर्णेश्वर यज्ञात्मिका संसृष्टिलक्षणा प्रजासृष्टि में समर्थ बना करते हैं, जिस प्रजासृष्टि का मूलाधार–सामान्य आधार–बना करता है—"काम" । इसी कामभाव का स्वरूप–विश्लेषण करती हुई निम्नलिखित श्रुति हमारे सम्मुख उपस्थित हो रही है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋक्सं० १०।१२६।४।

(२८)—सदसत् का विलक्षण सम्बन्ध—

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप, पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यबल्शानुगत–सहस्रपुण्डीरात्मक–अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति–सर्वजगद्-व्यापक–पूर्णपुरुष के द्वारा होने वाले सृष्टिकर्म्म में प्रधान एवं प्रथम सामान्य अनुबन्ध कौनसा है ?, ऋक्-

श्रुति इसी प्रश्न का समाधान कर रही है, जिस रहस्यार्थ की संक्षिप्त स्वरूपदिशा यही है कि, हमारे इस प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमानकालिक सर्गसत्ताकाल में गगन–पवन–तेज–तारापुञ्ज–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–कृमि–कीट–पक्षी–पशु – मानव – देवदेवता–असुर–गन्धर्व–पितर–राक्षस–यक्ष–पिशाच–किन्नर–गुह्यक–धातु–उपधातु–रस–उपरस–विष–उपविष–नद–नदी–सर–सरोवर–सागर–अम्भोधि–पर्वत–आदि आदि रूप से प्रत्यक्ष में दृष्ट-श्रुत उपवर्णित-सर्वविध -चर-अचर-प्रपञ्च जब न था, तो क्या था ?, यह एक सामान्य प्रश्न है, जिसका रहस्यात्मक समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—**'असद्वा इदमग्र आसीत्'**। यह सब कुछ वर्त्तमान चर–अचरप्रपञ्च इस वर्त्तमानदशा से पूर्व (इदमग्रे) 'असत्' था। **"किंतदसदासीत्"** ?, उस सृष्टिमूलभूत असत् का क्या स्वरूप था ?, इस द्वितीय प्रश्न का ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रकार से समन्वय हुआ है, जिन अनेक प्रकारों में से- **'तत्-सदासीत, कथमसतः सज्जायेत'** इस एक समाधान की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

लोकभाषा में 'असत्' शब्द का अर्थ 'अभाव' भी हुआ करता है। विश्वसर्ग से पूर्व का तत्त्वविशेष 'असत्' रूप अभावरूप था। भला कहीं अभावात्मक असत् भी भावात्मक सत्तासिद्ध का मूलप्रभव बना है ?। अवश्य ही वह विश्वमूलभूत-विश्वातीत असत्-तत्त्व सद्रूप था, जिसका अन्य श्रुतियों के द्वारा **'आभू-अभ्व'** रूप से उपवर्णन हुआ है। सर्वथा–निरञ्जन–शान्त–दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न–व्यापक–आसमन्ताद्भवति–लक्षण–निर्गुण 'आभू' तत्त्व ही विज्ञानभाषा में **'रस'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं सर्वथा साञ्जन–अशान्त–दिग्देशकाल से अवच्छिन्न–परिच्छिन्न–'अभूत्वा भाति–अभवन् भाति–अभवन् भवति' लक्षण सगुण 'अभ्व' तत्त्व ही विज्ञानकाण्ड में **'बल'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'सद्' भावात्मक रस, तथा असद्भावात्मक बल, दोनों अविनाभूत हैं, **'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'–'अन्तरं-मृत्योरमृतं,–मृत्यावमृतमाहितम्'** इत्यादि रूप से अन्तरान्तरीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध से एक ही बिन्दु में दोनों निर्विरोध समन्वित हैं। अमृत–मृत्युनिबन्धन–सदसन्मूर्त्ति–आभू–अभ्व–लक्षण–सर्वबलविशिष्टरसैकघन वही विश्वातीत तत्त्व 'असद्वेदमग्र आसीत्' का समाधान बना, जिसके सद्रस, तथा असद्बल के बन्धु (बन्धन–सम्बन्ध) से–ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से **'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्'** रूप कामनामय बीज के द्वारा वर्त्तमान चराचरभावात्मक विश्व का उदय हुआ। विशुद्ध **'सहचरसम्बन्ध'** से रससमुद्र में असङ्गरूप से प्रतिष्ठित बलतत्त्व तदवधिपर्य्यन्त सृष्टिकर्म्म में असमर्थ रहा, यदवधिपर्य्यन्त मायाबलोदय के द्वारा उस व्यापक रसब्रह्म का अमुक प्रदेश सीमित बन कर सीमाभावानुगत हृदयबलावच्छिन्न कामनामय नहीं बन गया। कामभाव विरहित, सर्वबलविशिष्टरसैकघन, विश्वातीत वही तत्त्व विज्ञानभाषा में **'परात्पर'–'परमेश्वर'–'शाश्वतब्रह्म'–'अखण्डब्रह्म'–'अद्वयब्रह्म'** आदि विविध नामों से उपवर्णित हुआ, जिसे शब्दशास्त्र के आचार्य्योंनें यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही निरूढ़ शब्द से अतद्व्यावृत्त-रहने के कारण वाङ्मनसपथातीत, अतएव सर्वथा अविज्ञेय ही घोषित किया है, जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित घोषणा प्रसिद्ध है—

सं विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

(२६) चतुर्विध मनस्तन्त्रनिरूपण, और कामभाव—

पूर्वोद्धृत ऋक्श्रुति के रहस्यार्थसमन्वय से पूर्व दो शब्दों में सृष्टिबीजभूत 'काम', किंवा 'कामना' शब्द के इतिहास की रूपरेखा पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक होगा। लोकव्यवहार में 'कामना'–'इच्छा' परस्पर पर्य्याय माने जा रहे हैं, अभिन्नार्थक माने जा रहे हैं, एवं यह कामना, किंवा इच्छा मन का व्यापार कहा जा रहा है। वर्त्तमानयुग के वेदान्तनिष्ठ महामानव गीताशास्त्र के माध्यम से सर्व्वबन्धन-विनिर्मुक्ति के लिए 'कामना' का परित्याग अनिवार्य्य मानते हुए पदे-पदे गीता के 'निष्काम कर्म्मयोग' की उच्च घोषणा करते हुए नहीं अघा रहे। इस काल्पनिक घोषणा में कितना तथ्य है ?, प्रश्न की मीमांसा तो अग्रे सम्भव बन सकेगी। अभी तो हमें 'कामना' के स्वरूप की ही मीमांसा करनी है, जो कि मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

भारतीय आर्ष–मनोविज्ञान के अनुसार मनस्तन्त्र चार भागों में विभक्त माना गया है। दूसरे शब्दों में भारतीय मनोविज्ञान के आचार्य्योंनें परस्पर सर्वथा विभिन्न स्वरूप–गुण–धर्म्मात्मक चार प्रकार के मनोभावों की सत्ता स्वीकार की है, जो क्रमशः **"श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन, इन्द्रियमन"** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। अध्यात्मसंस्था के माध्यम से इन चारों मनस्तन्त्रों का समन्वय निम्न-लिखित रूप से सम्भव माना जा सकता है।

(१) **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति'** सिद्धान्तानुसार प्रत्येक प्राणी के शरीराकाश से वेष्टित हृदयाकाशानुगत दहराकाश (दभ्राकाश–दहरपुण्डरीक–नामक हृत्कमल) में 'अन्तर्य्यामी' नामक ईश्वर का निवास सनातन मान्यता से अनुप्राणित है। यह केन्द्रस्थ ईश्वरप्रजापति **'मनोमय'** **'भाः'** रूप है, **'सत्यात्मा'** है, **'आकाशात्मा'** है। यही वह प्रथम मुख्य ईश्वरीय मन है, जो अपने उत्तरोत्तरोपयिक श्वः–श्वः–भावात्मक समृद्धि–विकास के कारण **'श्वोवसीयस्'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जो तैत्तिरीय श्रुति में **'तदेत्–श्वोवस्यसं ब्रह्म'** (तै० ब्रा०२।२।६।१०) रूप से **'श्वोवस्यस्'** नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। यही वह 'मन' है, जो 'मनु' रूप से सर्वसर्गाधिष्ठाता बनता हुआ 'शाश्वतब्रह्म' उपाधि से समलंकृत हुआ है, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट होने वाला है। निम्नलिखित उपनिषत्–श्रुति इसी भारूप अव्ययमन का दिग्दर्शन करा रही है—

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः–तस्मिन्नन्तर्हृदये–यथा व्रीहिर्वा यवो वा ।
स एष सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति–यदिदं किञ्च ॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ६।१।

(२) परपुरुषात्मक ईश्वराव्यय के श्वोवसीयसमन को ही 'चिदात्मा' 'चिद्ब्रह्म' माना गया है दार्शनिकभाषा में। यह चिद्ब्रह्मलक्षण चिदात्मा, किंवा चिदात्मरूप श्वोवसीयसमन सर्गप्रपञ्चानुगत बनता हुआ जिस योनि को मूलाधार बनाता है, वही पारमेष्ठ्य–सोममूर्त्ति महानात्मा है, जिसका—**'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'** इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है। अदितिप्राणावच्छिन्न यह सौम्य-महान् ही दूसरा **'सत्त्व मन'** है, जो मानवीय कर्म्मात्मा की सत्त्वविभूति का अनुग्राहक माना गया है, एवं जो सत्त्वमन अहंभावात्मक जीवन का मूलाधार बना हुआ है। अज्ञातदशा में भी जो आध्यात्मिक कर्म्म परोक्षरूप से प्रक्रान्त रहते हैं, उनका मूल यही सत्त्वमनोमय महानात्मा बना करता है। निम्नलिखित श्रुति इसी का स्वरूप--विश्लेषण कर रही है—

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्म्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१२।

(३) **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ'** इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार केन्द्रस्थ–मनोमय–ईश्वर नामक **'साक्षी सुपर्ण'** से 'जीवात्मा' नामक 'भोक्तासुपर्ण' सख्यभाव से नित्य संयुक्त रहता है। अनुग्राहक ईश्वर की दिव्य–सत्त्व–शक्तियों के अजस्र सहयोग से समन्वित रहता हुआ ही अनुग्राह्य जीव स्वस्वरूप-विकास–संरक्षण में समर्थ बना करता है। ईश्वरसंयुक्त जीवात्मा एक वैसा यात्री है, जिसे ज्ञानजनित भावना–कर्म्मजनित वासनासंस्कारपुञ्जों के स्वरूपानुपात से संसारयात्रा का उच्चावचरूप से अनुगमन करना पड़ता है। इस संसारयात्रा को निर्विघ्न समाप्त करने के लिए भोक्तात्मलक्षण–जीवात्मा को अमुकामुक देव–भूत–परिग्रहसाधन–सम्भारों की अपेक्षा रहती है। यात्रासंसाधक वे परिग्रह ही **शरीर–मन–बुद्धि–इन्द्रियवर्ग–बाह्यभूतपरिग्रह (विषय)**, आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। जिस पाञ्चभौतिक विश्व के गर्भ में मातापिता के योषावृषामय शुक्रशोणितात्मक–अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक–दाम्पत्यभाव से जीवात्मा औपपातिक रूप से–भौतिकस्वरूप से–भूपृष्ठ पर अभिव्यक्त होता है, उस विश्व के अमुकामुक पर्वों से ही इसे यात्रासंसाधक तथाकथित परिग्रह उपलब्ध हुए हैं, कर्म्मानुसार होते रहते हैं। भूपिण्डानुगत ओषधि–वनस्पति के द्वारा इसे **'पुष्टशरीरपरिग्रह'** प्राप्त होता है। सुषुम्णानाड़ी के द्वारा सौरतत्त्वात्मक **'बुद्धि-परिग्रह'** प्राप्त होता है। रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रओजभावों की क्रमिक-चिति के द्वारा चान्द्रमण्डल से भुक्तान्न माध्यम से **'मनःपरिग्रह'** प्राप्त होता है। त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंश नामक ९–१५–२१–२७–३३–इन पाँच पार्थिव स्तोमलोकों के शवसोनपात् (अतिष्ठावा–अधिष्ठाता) अग्नि–वायु–आदित्य–भास्वरसोम–दिक्सोम–इन पाच पार्थिव प्राणदेवों के प्रवर्ग्यभागों से इसे **'पञ्चेन्द्रियपरिग्रह'** प्राप्त होता है। ओर ओर भी तत्तद्विशेष प्राकृतिक–विश्वपर्वों से इसे असंख्य–परिग्रह प्राप्त होते हैं, जिनका स्वरूपविश्लेषण स्वतन्त्रनिबन्धसापेक्ष है। चन्द्रमा के सोमतत्त्व से (भास्वर सोम से) पञ्चाग्निक्रमद्वारा वृष्टिमाध्यम से समुत्पन्न ओषधि (अन्न) ही जीवात्मा के **'सर्वेन्द्रिय'** नामक

'मनस्तत्त्व' की स्वरूपसंग्राहिका बनती है। यह स्मरण रहे कि–पार्थिव स्तौम्यत्रिलोकी के त्रिणवस्तोम में प्रतिष्ठित पार्थिव अत्रिप्राणसमन्वित परोक्ष भास्वर सोम जहाँ 'इन्द्रियमन' का स्वरूपारम्भक बनता है, वहाँ सर्वेन्द्रियमन का चान्द्र भास्वरसोम से ओषधिद्वारा (भुक्तान्नद्वारा) स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। यही इन दोनों मनोभावों की स्वरूपदिशा है।

सर्वेन्द्रियमन उपनिषदों में 'प्रज्ञानब्रह्म'–'प्रज्ञानमन'–'अनिन्द्रियमन'–'अतीन्द्रियमन' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। **'नियतविषयत्त्वमिन्द्रियत्त्वम्'** ही इन्द्रिय का सामान्य लक्षण माना गया है। जिसका ग्राह्य विषय सर्वथा नियत–सीमित–रहता है, उसे ही 'इन्द्रिय' कहा जाता है। वाक्–प्राण–चक्षुः-श्रोत्र एवं संकल्पविकल्पात्मक मन, इन पाँचों के विषय सर्वथा नियत–सीमित रहते हैं। अतएव इन्हें 'इन्द्रिय' कहना अन्वर्थ बन जाता है। हम देखते हैं—अनुभव करते हैं कि, प्रत्येक व्यापार में 'मन' नामक तत्त्व के सहयोग की भी अनिवार्य्य आवश्यकता रहा करती है। बिना मनःसहयोग के कोई भी इन्द्रिय कभी भी स्वव्यापारसञ्चालन में समर्थ नहीं बन सकती। आप किसी वक्ता से कुछ सुन रहे हैं। इस श्रवणकर्म्म में श्रोत्रेन्द्रिय के साथ जब तक आपका मन संयुक्त रहेगा, तभी तक आप वक्ता के वक्तृत्व का मर्म समझते रहेंगे। यदि सहसा आपका मन अन्य किसी चक्षुः-वागादि इन्द्रिय का अनुगामी बन जायगा तो, इस अन्यमनस्कता के कारण आप सुनते हुए भी कुछ न सुन सकेंगे, एवं कुछ न समझ सकेंगे। आप स्वयं ही कालान्तर में यह बोल पड़ेंगे कि–"कृपा कर अमुक विषय का पुनरावर्त्तन कर दीजिए। मैं उस समय ठीक ठीक समझ न सका, सुन न सका। कारण, सहसा मेरा मन दूसरी ओर चला गया था"। **"न प्रज्ञापेतं श्रोत्रं शब्दं कञ्चन प्रज्ञापयेत्–अन्यत्र मे मनोऽभूत्"** (कौषी० उप० ३।८।७।)) इत्यादि श्रुति, एवं तन्मूलक प्रत्यक्षानुभव यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, बिना मन को अवलम्ब बनाए कोई भी इन्द्रिय स्वविषय-ग्रहण में समर्थ नहीं बन सकती। सम्पूर्ण इन्द्रियों का आधार बना रहने वाला, अतएव च 'नियतविषय- ग्रहणत्त्व' लक्षण इन्द्रियलक्षण की मर्य्यादा से बहिर्भूत एवंविध भास्वर-सोममय–अन्नमय चान्द्रमन ही जहाँ इन्द्रियभाव के पार्थक्य से **'अनिन्द्रियमन'** कहलाया है, वहाँ यही सम्पूर्ण इन्द्रियों के अवलम्ब-आधार बने रहने के कारण **'सर्वेन्द्रियमन'** नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मानुगत इन्द्रियवर्ग--सञ्चालक–यही सौम्य अन्नमय मन **'प्रज्ञानमन'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका निम्नलिखित मन्त्र से स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—यजुःसंहिता मनःसूक्त ३४।१।

(४) त्रिणवस्तौम्य–भास्वरसोम से निष्पन्न चौथा इन्द्रियमन अपने संकल्पविकल्पात्मक 'ग्रहण–परित्याग' रूप नियत विषय से समन्वित रहता हुआ 'इन्द्रियलक्षणानुधर्म्मी बनता हुआ अपने **'इन्द्रियमन'**

नाम को चरितार्थ कर रहा है। "इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि" (अथर्वसंहिता १६।६।५।) ही इस इन्द्रियमन का मूलाधार है। अनुकूल विषय का ग्रहण, एवं प्रतिकूल विषय का परित्याग, इन्द्रियमन के ग्रहणात्मक संकल्प–परित्यागात्मक विकल्प, ये दो ही मुख्य कर्म्म हैं। तदित्थं मानवीय अध्यात्मसंस्था में ईश्वरानुगत सर्वाधिष्ठाता–**श्वोवसीयस्मन**, चिदनुगत **सत्त्वमन**, जीवानुगत **सर्वेन्द्रियमन**, भूतानुगत **इन्द्रियमन**, इन चार स्वतन्त्र मनस्तन्त्रों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जिन इन चारों मनस्तन्त्रों में से मानवसर्गाधारभूत 'मनु' तत्त्व का आधार बनता है ईश्वराव्ययात्मानुगत 'श्वोवसीयस्' नामक सर्वाधार–निराधार वह मन, जिसके स्वरूपविश्लेषण के प्रसङ्ग से ही यहाँ प्रासङ्गिकी मनस्तन्त्रस्वरूपचतुष्टयी का दिग्दर्शन कराना पड़ा है।

प्रकृतमनुसरामः। तथोपवर्णित स्वतन्त्र मनोविवर्त्तों के स्वतन्त्र ही कर्म हैं, जिनका संक्षेप से इस प्रकार समन्वय किया जा सकता है कि, ईश्वरीय श्वोवसीयस् मन का प्रधान कर्म्म (व्यापार) है **'काम'**, किंवा **'कामना'**। चिदनुगत सत्त्वमन का प्रधान व्यापार है **'अहंभावस्वरूपसंरक्षण'**, एवं **परोक्ष आध्यात्मिक सुसूक्ष्म कर्म्मसञ्चालन'**। जीवानुगत सर्वेन्द्रियमन का प्रधान व्यापार है ऐन्द्रियक विषय संग्रहानुगत **'इच्छा'** किंवा **'अशनाया'** (**बुभुक्षा–भूख**)। एवं भूतानुगत इन्द्रिय मन का प्रधान व्यापार है **'संकल्प–विकल्प'**, किंवा **'ग्रहणपरित्यागात्मिका विचिकित्सा'**।

(३०) शब्दब्रह्म और परब्रह्म का समतुलन—

'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' * इस पावन घोषणा से सम्बन्धित पारमेष्ठिनी सरस्वती वाक् से कृतरूप शब्दब्रह्म, एवं पारमेष्ठिनी आम्भृणीवाक् से कृतरूप परब्रह्म, दोनों का समसमन्वय भारतीय निगमागमशास्त्र का वह अलौकिक–अद्‌भुत–आश्चर्य्यमय दृष्टिबिन्दु है, जिसे लक्ष्यभूमि बना लेने से सम्पूर्ण नैगमिक–आगमिक तत्त्वार्थ सर्वात्मना, सुसमन्वित हो जाते हैं। 'काम' शब्दात्मक शब्दब्रह्म के इसी तात्त्विक समन्वय के स्पष्टीकरण के प्रसङ्ग में शब्दब्रह्म से समतुलित परब्रह्म का एक प्रासङ्गिक तात्त्विक उदाहरण प्रकृत में प्रसङ्गधिया इसलिए उपस्थित कर दिया जाता है कि, इसके द्वारा 'काम' शब्द के तात्त्विक इतिहास का, इसकी भावार्थगरिमा का सर्वात्मना समसमन्वय हो जाता है।

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तस्योपनिषत्–ओम् इति' इत्यादि रूप से आर्षमानवों ने ईश्वरप्रजापतिब्रह्मात्मक परब्रह्म का ग्राहक–वाचक शब्द माना है–'प्रणवोङ्कार'÷। क्या समानता है परब्रह्मात्मक ईश्वरप्रजापति के साथ इस प्रणवोङ्कारात्मक शब्दब्रह्म की, जिसके आधार पर प्रणव को ईश्वर का वाचक–संग्राहक

---

*द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

÷ उद्‌गीथोङ्कार–प्रणवोङ्कार–हिङ्कारोङ्कार–निधनोङ्कार–सामोङ्कार–प्रस्तावोङ्कार– आदि भेद से ओङ्कार के अनेक विवर्त्तवाद निगमशास्त्र में उपवर्णित हुए हैं, जिनमे से सर्वमूलाधारभूत ओङ्कार ही 'प्रणवोङ्कार' नाम से व्यवहृत हुआ है।

माना गया ? प्रश्न है, जिस इस प्रश्न का सम्बन्ध निगम-शास्त्र की सुप्रसिद्ध उस '+अनुगम' परिभाषा है, जिसके द्वारा प्रणवोङ्कार का अनेक दृष्टियों से समन्वयसम्भव है। उन असंख्य प्रणवसमन्वय-प्रकारों में से केवल एक प्रकार की ओर ही यहाँ पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जारहा है। परब्रह्मात्मक ईश्वरीय विवर्त्त के अमृतलक्षण अव्ययात्मा-ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा-शुक्रलक्षण क्षरात्मा (देखिए पृ० सं० १३६), इन तीन विवर्त्तों का आरम्भ में दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन कारण) है, पञ्चदेवमूर्त्ति अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण है। एवं पञ्चतन्मात्रमूर्त्ति क्षरात्मा विश्व का आरम्भण (उपादानकारण) है। ईश्वर-प्रजापति के ये तीनों ही आत्मविवर्त्त 'महामाया' नामक सीमाभावप्रवर्त्तक महाबल से सीमित बनते हुए "तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः" (प्रश्नोपनिषत् ५।६।) रूप से-'संयोगा विप्रयोगान्ताः, पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' (महाभारत) इस सिद्धान्त के अनुसार मरणधर्म्माक्रान्त हैं, विनश्वरधर्म्मा हैं। इन तीनों मृत्युमात्राओं का आधारभूत अमात्रिक-अखण्ड-विश्वातीत-मायातीत-परात्परात्मा-परमेश्वर-अद्वयरूप से विराजमान है, जिसे राजर्षि मनु ने 'शाश्वतब्रह्म' कहा है। इस दृष्टि से ईश्वरप्रजापतिलक्षणा आधि-दैविकसंस्था के 'परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर' ये चार पर्व संसिद्ध बन जाते हैं।

शब्दब्रह्मप्रतिपादक व्याकरणशास्त्रने तथोपवर्णित चतुष्पर्वात्मक परब्रह्मविवर्त्तसे सर्वात्मना समतुलित शब्दब्रह्म के भी चार ही मुख्य पर्व स्वीकार किए हैं, जो तत्र शास्त्र में क्रमशः 'स्फोट-अव्यय-स्वर-वर्ण' अभिधाओं से प्रसिद्ध हुए हैं। क-ख-ग-घ-ङ-आदि व्यञ्जनात्मक पार्थिव वर्णों से क्षरात्म-पर्व समतुलित है। अ-आ-इ-ई-ऋ-लृ-आदि स्वरात्मक वर्णों से अक्षरात्मपर्व समतुलित है। स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग-इन तीनों शब्दलिङ्गों में समानरूप से अपरिवर्त्तनरूप से व्यवहृत सुप्रसिद्ध अव्यय लिङ्गत्रयानुगता प्रजासृष्टि में स्वयं अलिङ्गरूप से आधार बने-रहने रहने वाले अव्ययात्मपर्व* से

+ नियतार्थ-निरूढार्थ-नैगमिक परिभाषासूत्र 'निगमवचन' कहलाए हैं, जैसे 'अग्निर्वा अन्नादः-इन्द्रो देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः' इत्यादि। यौगिकार्थप्रतिपादक नैगमिक परिभाषासूत्र 'अनुगम-वचन' कहलाए है, जैसे-'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'- 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'-चतुष्टयं वा-इदं सर्वम्'-तस्योप-निषदोमिति' इत्यादि।

* नैव स्त्री-न पुमानेष-न चैवायं नपुंसकः ॥
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥१॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।१०।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (गोपथब्राह्मण)
लिङ्गेषु-त्रिविधप्राणिसर्गेषु। विभक्तिषु--खण्डखण्डभावेषु--'अविभक्तं-विभक्तेषु' इत्यादिवत्। वचनेषु-वाङ्मयभूतपदार्थेषु नानाभावापन्नेषु यन्न वैविध्यमेति-तदव्ययम्।

समतुलित हैं। एवं÷वर्ण–पद–वाक्य–अखण्डादि–विविधभावापन्न सुप्रसिद्ध 'स्फोट' पदार्थ अखण्ड परात्पर पर्व से समतुलित है।

स्फोटशब्दब्रह्म से समतुलित परात्परब्रह्म **'तुरीयपद'** है, निरुपाधिक ब्रह्म है, विश्वातीतब्रह्म है। अव्ययशब्दब्रह्म से समतुलित अव्ययात्मा **'ज्ञानात्मा'** है। स्वरशब्दब्रह्म से समतुलित अक्षरात्मा **'कर्म्मात्मा'** है। एवं व्यञ्जनशब्दब्रह्म से समतुलित क्षरात्मा **'अर्थात्मा'** है। स्फोटानुगत परात्पर **'अविज्ञेय ब्रह्म'** है, अव्ययानुगत अव्ययात्मा **'दुर्विज्ञेयब्रह्म'** है, स्वरानुगत अक्षरात्मा **'विज्ञेयब्रह्म** है, एवं व्यञ्जनानुगत क्षरात्मा **'सुविज्ञेयब्रह्म'** है। स्फोटसंग्राह्य परात्मा का **'परावाक्'** से सम्बन्ध है, अव्यय-संग्राह्य अव्ययात्मा का **'पश्यन्तीवाक्'** से सम्बन्ध है, स्वरसंग्राह्य अक्षरात्मा का **'मध्यमावाक्'** से सम्बन्ध है, एवं व्यञ्जनसंग्राह्य क्षरात्मा का **'वैखरीवाक्'** से सम्बन्ध है। स्फोटसंयुक्त परात्परब्रह्म सङ्ग–असङ्ग–मर्य्यादा से **'अतिक्रान्त'** है, अव्ययसंयुक्त अव्ययात्मा विश्वगर्भ में प्रविष्ट रहता हुआ भी **'असङ्ग** है, स्वरसंयुक्त अक्षरात्मा (अव्ययदृष्ट्या ससङ्ग, क्षरदृष्ट्या असङ्ग बनता हुआ) **'ससङ्गासङ्ग'** है, एवं वर्णसंयुक्त क्षरात्मा अपनी संसृष्टिलक्षणा उपादानकारणता से **'ससङ्ग'** है। ठीक यही स्थिति स्फोटादि शब्दब्रह्मविवर्त्तभावों की है।

कण्ठताल्वादि के स्नेहगुणात्मक सौम्य स्पर्शभाव–तेजोगुणात्मक आग्नेय ऊष्माभावरूप संगभाव के कारण * व्यञ्जनात्मक वर्ण ससङ्ग बनते हुए ससङ्ग क्षरात्मा से समतुलित हैं। कण्ठताल्वादि के अभिघातलक्षण स्पर्शभाव से असंसृष्ट, अतएव अपने प्रातिस्विकरूप से स्पर्शमर्यादा से असंसृष्ट बने रहते हुए अकारादि स्वर जहाँ असङ्ग हैं, वहाँ व्यञ्जनात्मक वर्णों के सहयोग में आकर ससङ्ग भी हैं, जैसा कि सुप्रसिद्ध अज्भक्ति से समन्वित ऋ–लृ–आदि स्वरों के गर्भ में समाविष्ट 'र्–ल्' इत्यादि ससङ्ग व्यञ्जनों के द्वारा प्रमाणित है। अतएव ससङ्गासङ्ग बने हुए स्वर ससङ्गासङ्ग अक्षरात्मा से समतुलित माने जा सकते हैं। अपनी समानरूपा–अविभक्तरूपा–अलिङ्गरूपा–अवचनरूपा–अव्याकृतावस्था से असङ्ग बने हुए अव्यय अव्ययात्मा से समतुलित हैं। एवं अपनी ध्वन्यात्मिका अखण्डता के कारण ससङ्गासङ्गमर्य्यादा से अतिक्रान्त वर्ण–स्वर–शब्द–पद-वाक्यादि लक्षण वर्णस्फोट–स्वरस्फोट–शब्दस्फोट–पदस्फोट–वाक्यस्फोट–अखण्डस्फोट–आदि आदि स्फोटभाव अखण्ड ससङ्गासङ्गमर्य्यादातिक्रान्त परात्परब्रह्म से समतुलित हैं। तदित्थं, शब्दब्रह्मविवर्त्तचतुष्टयी इस रूप से परब्रह्मविवर्त्तचतुष्टयी से सर्वात्मना समतुलित प्रमाणित हो रही है। जो पर्वविभाग, जैसा स्वरूपसंस्थान परब्रह्मविवर्त्त का है, ठीक वही पर्वविभाग, वैसा ही स्वरूप-संस्थान शब्दब्रह्मविवर्त्त का है। अतएव निश्चयेन तत्त्वसमन्वयपूर्वक ज्ञानविज्ञानपद्धतिपूर्वक शब्दब्रह्म की स्वाध्याय-

---

÷ देखिए–वैय्याकरण भूषणसार का 'स्फोट' प्रकरण

***–"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"**

—ऐतरेय आरण्यक

निष्णातता से अवश्यमेव तदभिन्न–तत्समतुलित परब्रह्मबोध की निष्णातता का अनुग्रह हो जाता है। इसी समतुलनात्मक समसमन्वय के आधार पर **'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति'** सिद्धान्त समन्वित हुआ है। एवं इसी समसमन्वय के माध्यम से इस शब्दब्रह्मात्मक प्रणवोङ्कार को उस परब्रह्म का वाचक–संग्राहक घोषित किया गया है।

अयमत्र संग्रहः—(१) अतिक्रान्तासङ्गससङ्गासङ्गससङ्गभावपरिलेखः—

(१)–	सर्वमूर्त्तिः —	परात्परब्रह्म–	स्फोटानुगतः—	तुरीयः —	अविज्ञेयः	(परासमन्वितः)	अतिक्रान्तः
(२)–	कोशमूर्त्तिः—	अव्ययात्मा–	अव्ययानुगतः—	ज्ञानात्मा-	दुर्विज्ञेयः	(पश्यन्तीसमन्वितः)	असङ्गः
(३)–	देवमूर्त्ति :—	अक्षरात्मा–	स्वरानुगतः——	कर्म्मात्मा	विज्ञेयः	(मध्यमासमन्वितः)	ससङ्गासङ्गः
(४)–	तन्मात्रमूर्त्तिः	क्षरात्मा——	व्यञ्जनात्मकः—	अर्थात्मा-	सुविज्ञेयः	(वैखरीसमन्वितः)	ससङ्गः

—चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः

(३१) प्रणवोङ्कारस्वरूपपरिचय—

ईश्वरप्रजापति–वाचक प्रणवोङ्कार के तात्त्विक रहस्य के परिज्ञाता आर्षमहर्षियोंनें अनुग्रह कर हमारे सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तत्त्ववाद उपस्थित किया कि, परब्रह्म के चार विवर्तों में से पहिला परात्परब्रह्म अर्द्धमात्रिक–किंवा–अमात्रिक–अथवा तो सर्वमात्रिक तत्त्व है, अतएव अचिन्त्य है। अतएव च उस अर्द्धमात्रिक–अमात्रिक–परात्परभाव की वाचकता भी उसके अतद्व्यावृत्तभावानुबन्ध से अचिन्त्य ही समझनी चाहिए। चिन्त्यकोटि में प्रविष्ट है परब्रह्म की मायोपाधिक शेष तीनों मृत्युमतीं मात्राएं, जिन्हें आधार बना कर ही वाङ्मनसपथानुगत वाङ्मय शब्दशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस शास्त्रप्रवृत्ति को आधार बनाकर ही हमें ब्रह्म की वाचकता का समन्वय करना है।

परात्परब्रह्मगर्भित अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा का स्वरूपलक्षण हुआ है—**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इत्यादि (देखिए पृ० सं० १४८)। ज्ञानमय अव्ययात्मा मनोमय है, कर्ममय अक्षरात्मा प्राणमय है, एवं अर्थमय क्षरात्मा वाङ्मय है। **'त्रयं सदेकमयमात्मा'** इत्यादि पूर्व निरूपणानुसार तीनों का समन्वित रूप एक आत्मा है। एवं–**'आत्मा उ वा एकःसन्नेतत् त्रयम्'** के अनुसार एक ही आत्मा के (रसाधार पर प्रतिष्ठित बलसम्बन्धतारतम्य से) ये तीन विवर्त्त हैं। पर-ब्रह्माधारेण सुप्रतिष्ठिता यह आत्मविवर्त्तत्रयी शब्दब्रह्मसमतुलनमर्य्यादा से क्रमशः **'अकार–उकार–मकार'** इन तीन वर्णब्रह्मों से सम्बन्धित है। ज्ञानशक्तिघन मनोमय अव्ययात्मा जिस प्रकार अपने अधिष्ठानरूप से विभक्त विश्व में अविभक्तरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ भी सर्वथा असङ्ग है, असंस्पृष्ट है। तथैव कण्ठ-ताल्वादि के अभिघातरूप स्पर्श से सर्वथा असङ्ग–असंस्पृष्ट रहता हुआ 'अ'कार भी

परब्रह्म के असङ्ग अव्ययात्मभाग का मानो प्रतीक ही बना हुआ है। इसी आधार पर हम अकार को अव्ययात्मा का वाचक मान सकते हैं। क्रियाशक्तिघन प्राणमय अक्षरात्मा जिस प्रकार अपने निमित्त-कारणरूप से क्षरानुबन्धी विश्व के कर्तृत्त्वभाव से ससङ्ग, एवं असमवायिकारणत्त्वेन क्षरनिबन्धन विश्व-दृष्ट्या असङ्ग, अतएव ससङ्गासङ्ग है। तथैव अपनी कण्ठताल्वदिरूपा असंस्पृष्टता से असङ्ग, एवं ओष्ठपुट-द्वयसंकोचलक्षणा स्पर्शमर्य्यादा से ससङ्ग, अतएव ससङ्गासङ्ग बना रहने वाला उकार मानो ससङ्गासङ्ग अक्षरात्मा का प्रतीक ही प्रमाणित हो रहा है। अतएव उकार को प्राणमय अक्षरात्मा का वाचक माना जा सकता है। अर्थशक्तिघन वाङ्मय क्षरात्मा जिस प्रकार अपनी संसृष्टिलक्षणा उपादानकारणता से संसृष्टिभावापन्न बनता हुआ ऐकान्तिक रूप से ससङ्ग ही है। तथैव अपनी कण्ठताल्वाद्यभिघातलक्षणा—एवं ओष्ठपुटद्वयात्यन्तिकस्पर्शभावापन्ना संस्पृष्टि से मानों ऐकान्तिक ससङ्ग क्षरात्मा का प्रतीक ही बन रहा है। अतएव मकार को वाङ्मय क्षरात्मा का वाचक कहा जा सकता है। एवं इस प्रकार अव्यया-क्षरात्मक्षरमूर्त्ति परब्रह्म ईश्वरप्रजापति की वाचकता शब्दब्रह्मात्मक प्रणवोङ्कारब्रह्म के साथ सर्वात्मना समतुलित मानी जा सकती है।

(२)–प्रणवोङ्कारस्वरूपपरिलेखः

			तस्य वाचकः प्रणवः (तस्योपनिषदोमिति)
चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुर्नैगमिकाः	१	१	सर्वमात्रिकः–विश्वातीतः–परात्परः–अखण्डः–अमात्रः–अर्द्धमात्रिकः—अर्द्धमात्रः
	२	१	मनोमयोऽव्ययपुरुषः–(ज्ञानात्मा)–असङ्गः–तस्य वाचकस्तथाविध एव—अकारः
	३	२	प्राणमयोऽक्षरः———(कर्म्मात्मा)–ससङ्गासङ्गः–तस्य वाचकस्तथाविध एव-उकारः
	४	३	वाङ्मयः क्षरः———(अर्थात्मा)–ससङ्गः–तस्य वाचकस्तथाविध एव—मकारः

(३२) 'काम' शब्द का तात्त्विक निर्वचन—

उक्त प्रासङ्गिक विवेचन से प्रकृत में हमारा लक्ष्य है एकमात्र वह ज्ञानात्मक मनोमय अव्ययात्मा, जिसका श्वः–श्वः–श्रेयान् मनस्तन्त्र 'श्वोवसीयस्' नाम से व्यवहृत हुआ है, एवं जिसका वाचक 'अकार' माना गया है। 'अकार' 'अव्ययमन' का संग्राहक है, यही उक्त प्रासङ्गिक प्रणववाचकता का लक्ष्य

है। शान्तानन्दलक्षण आत्मसुख, किंवा आत्मशान्ति का पारिभाषिक-साङ्केतिक नाम है 'कम्' *। वैसा अव्ययमन, जो अपने (स्वानुगत) आत्मसुखात्मक 'कम्' में (आनन्दभाव में) इतस्ततः बाह्याभ्यन्तररूप से सर्वात्मना ओतप्रोत रहे, **'काममय अव्यय'** कहलाएगा। 'कामः' शब्द का तात्त्विक रहस्यार्थ है— **"सुखे आनन्दे वा ओतप्रोतं मनः कामः"**। 'कम्'रूप आनन्दभाव के आभ्यन्तर भाग में भी अव्ययमन समाविष्ट है, तो बाह्यभाग में भी मन अवस्थित है। 'कामः' शब्द का विभक्तरूप है—**'क-अ-म्-अः'** यह। ककार से आगे और मकार से पूर्व 'क-म्' के मध्य में (आनन्द के आभ्यन्तर में) 'अ' कार का (अकारवाच्य अव्ययमन का) समावेश है, तो 'म' कार से आगे भी अकाररूप अव्ययमन का समावेश हो रहा है। इस प्रकार आनन्दात्मक-मौलिक 'कम्' शब्द ही-'क-अ-म्-अः' रूप से 'कामः' रूप में परिणत हो रहा है, जिसका तात्पर्यार्थ है—**"आनन्दमय मनोमय अव्यय, किंवा आनन्द में सर्वात्मना ओतप्रोत अव्ययमन"**।

(३३)—कामभाव की नित्य सफलता—

यहाँ एक यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है कि, काम की (कामना की) सफलता में जहाँ आनन्दानुभूति (सुखानुभूति) होती है, वहाँ कामविकलता में दुःखानुभव भी हुआ करता है। ऐसी स्थिति में केवल काम, किंवा कामना के आधार पर ही **'सुखे ओतप्रोतं मनः'** यह परिभाषा कैसे समन्वित मानी जा सकती है ?। प्रश्न का लोककामनामय उस इच्छातन्त्र, किंवा लालसालिप्सापरिपूर्ण उस एषणातन्त्र से सम्बन्ध है, जिसका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है। सहजभावानुगता प्राकृतिकी ईशकामना कभी निष्फल नहीं बना करती। काम (कामना), एवं तत्फल, दोनों ईशतन्त्र में अभिन्न बने रहते हैं। अतएव नित्यकाम वह प्रजापति आत्मकाम-आप्तकाम-(प्राप्तकाम) आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। श्वोवसीयस्मनोऽनुगत कामना शब्द, किंवा काम शब्द का यही प्रासङ्गिक स्वरूपव्याख्यान है। अब क्रमप्राप्त जीवानुबन्धिनी सर्वेन्द्रियमनोऽनुगता उस 'इच्छा' ('इच्छा' शब्द) के स्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिस इच्छात्मक व्यापार का जीवात्मानुगत प्रज्ञानमन के भावनावासनासंस्कारग्राहक सौम्य 'प्राज्ञ' तन्त्र से प्रधान सम्बन्ध माना गया है।

(३४)-ईश्वर-जीव-जगत्-तन्त्रत्रयी—

त्रिपुरुषपुरुषात्मक ईश्वरप्रजापति के काम-तपः-श्रममय अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-पर्वों से ही क्रमशः उस सुप्रसिद्ध त्रित्ववाद का आविर्भाव हुआ है, जो भारतीय रामानुजसम्प्रदाय के ईश्वर-जीव-जगद्विशिष्ट

---

* सु संकाशा मातृमृष्टेव योषा विस्तन्वं कृणुषे दृशे-'कम्'
—ऋक्संहिता १।१२३।११

ककाराज्जायते सर्वं कामं कैवल्यमेव च (अव्ययधाम एव च)।
अर्थश्च जायते देवि तथा धर्म्मश्च नान्यथा॥ (कामधेनुतन्त्र)

'विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त' का आधार बना करता है। प्रजापति का वह स्वरूप–जिसमें अधिष्ठानात्मक अव्ययात्मा प्रधान रहता है, एवं शेष दोनों अक्षर–आत्मक्षर–पर्व्व गर्भीभूत बने रहते हैं, **'ईश्वर'** कहलाया है। अव्ययपुरुष ही जो कि **'नित्यकाममय'** है, सम्प्रदायभाषानुसार **'अनन्तकल्याणगुणाकर'** है। आत्मक्षर–अक्षर–गर्भित अव्ययपुरुष ही प्रथम वह **'ईश्वरतन्त्र'** है, जिसका पूर्व में–**'यो लोकद्वयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'** इत्यादि रूप से स्वरूपनिरूपण हुआ है (देखिए पृष्ठ सं० १४८–४६)।

ईश्वरप्रजापति का वही उक्त स्वरूप–जिसमें निमित्तकारणात्मक अक्षरात्मा प्रधान रहता है, एवं शेष दोनों अव्यय–आत्मक्षरपर्व गर्भीभूत बने रहते हैं,–**'जीव'** कहलाया है। यह अक्षरपुरुष ही **'नित्य इच्छामय'** है, सम्प्रदायभाषानुसार जो ईश्वरशरणागति में ही शाश्वत शान्ति प्राप्त किया करता है। अव्ययात्मक्षरगर्भित अक्षरात्मा ही वह द्वितीय **'जीवतन्त्र'** है, जिसका–**'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां–जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्य्यते जगत्' 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** (गीता ७।५,एवं २५।१६।)) इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण हुआ है। ईश्वरप्रजापति का वह प्रवर्ग्यभाग–जिसमें उपादानकारणात्मक आत्मक्षरात्मा प्रधान रहता है, शेष दोनों अव्यय–अक्षरपर्व गर्भीभूत बने रहते हैं–**'जगत्'** कहलाया है। यह क्षर-पुरुष ही नित्यग्रहणपरित्यागलक्षणा इन्द्रियमनोऽनुगता इच्छा-से संयुक्त है, अतएव जिसे विज्ञानभाषा में **'नित्यविचिकित्सामय'** कहा गया है, सम्प्रदायभाषानुसार जो सप्तवितस्तिकायात्मक भगवद्विग्रह * है, जिसके माध्यम से साधक–उपासक–भक्त जीवात्मा अपनी नवधा विभक्ता साम्प्रदायिक भक्ति में सफल बना करता है। अव्ययाक्षरात्मगर्भित क्षरात्मा ही वह तृतीय **'जगत्तन्त्र'** है, जिसका–**'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धि–अविद्याबुद्धि–रेव च। अपरेयम्। क्षरः सर्वाणि भूतानि'** (गीता ७।४,एवं १५।१६।) इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है। इस प्रकार प्रजापति की अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर कलाओं की प्रधानता-अप्रधानता, किंवा गौण-मुख्यभाव–तारतम्य से एक ही प्रजापति के प्रत्येक त्र्यात्मक–त्र्यात्मक–अतएव पूर्णात्मक-त्रिवृद्भावापन्न तीन स्वतन्त्र तन्त्र निष्पन्न हो जाते हैं। अव्ययप्रधाननिबन्धन ईश्वरतन्त्र का **'भोगतन्त्र'** नाम से, अक्षरप्रधाननिबन्धन जीवतन्त्र का **'कर्म्मतन्त्र'** नाम से, एवं क्षरप्रधाननिबन्धन जगत्तन्त्र का **'आवरणतन्त्र'** नाम से ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यप्रथमखण्ड में इन तीनों तन्त्रों के त्र्यात्मकनिरूपणपूर्वक तीनों के प्रत्येक के विज्ञान–धर्म्म–राजनीतिपरक अर्थसमन्वयपूर्वक विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निम्न-लिखित माङ्गलिक वचन इसी पूर्णता का समर्थन कर रहा है—

पूर्णमदः–पूर्णमिदं–पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—ईशोपनिषत

*** क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निर्वाभू संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।**
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥

—श्रीमद्भागवत १०।१४।११।

अयत्रसंग्रहः—

(३)—कामेच्छाविचिकित्सापुरुषत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

१—क्षराक्षरगर्भितः————नित्यकाममयः—अव्ययप्रधानःपुरुषात्मा त्रिपुरुषलक्षणः—ईश्वरः—पूर्णमदः
२—अव्ययात्मक्षरगर्भितः—नित्येच्छामयः—अक्षरप्रधानःप्राकृतात्मा-त्रिपुरुषभावापन्नः—जीवः पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
३—अव्ययाक्षरगर्भितः—नित्यविचिकित्सामयः—क्षरप्रधानो विकृतात्मा-त्रिपुरुषानुगतः—जगत्—पूर्णमिदम्

(३५)—कामना और इच्छा का व्यतिक्रम—

नित्यकाममय त्रिपुरुषपुरुषात्मक अव्ययात्मप्रधान ईश्वरप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाले 'काम', किंवा 'कामना' का शब्दब्रह्मरहस्यानुगत तात्त्विक समन्वय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया गया। अब दो शब्दों में नित्येच्छामय त्रिपुरुषपुरुषात्मक अक्षरात्मप्रधान जीवप्रजापति (मानव) से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा, किंवा 'अशनाया' का भी स्वरूपविश्लेषण प्रासङ्गिक मान लिया जाता है। **'न हि कामाना-मन्तोऽस्ति काममय एवायं पुरुषः। समुद्र इव कामः। न हि समुद्रस्यान्तोऽस्ति'** (तै०ब्रा०२।२।५।५।) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार मानवीय कामनाओं (इच्छाओं) का कोई अन्त नहीं है। जन्म से निधन-क्षणपर्य्यन्त मानव इस कामसमुद्र की ऊर्म्मियों (लहरों) में ही सतत प्रवाहित रहता है। इस सम्बन्ध में एक विशेष परिभाषा को लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

सौरमण्डलानुगत वर्त्तुलवृत्तात्मक खस्वस्तिक को 'कश्यपप्रजापति' कहा गया है। एवं तत्समाना-कृतियुक्त प्राणी (कछुए) को 'कूर्म्म' कहा गया है। अमुक विशेष (चयन) याज्ञिक कारण से वैज्ञानिकोंनें कश्यपप्रजापति को तो 'कूर्म्म' नाम प्रदान कर दिया है, एवं कूर्म्मप्राणी को 'कश्यप' नाम प्रदान कर दिया है। और यही शब्दव्यतिक्रमात्मक विशेषपरिभाषात्मक एक विशेष उदाहरण है। इस पारिभाषिक व्यतिक्रम–सिद्धान्तानुसार ईश्वरीय कामना को यत्रतत्र 'इच्छा' नाम से भी, एवं मानवीय इच्छा को 'कामना' नाम से भी व्यवहृत कर दिया गया गया है। इसी व्यतिक्रमाधार पर ईश्वरकामना 'ईश्वरेच्छा' कहला सकती है, एवं जीवेच्छा 'जीवकामना' कहला सकती है।

यह निर्विवाद है कि, अपने स्वतन्त्र अर्थ में निरूढ़ा ईश्वरानुगता कामना कभी बन्धन का, अशान्ति का, दुःख का कारण नहीं बना करती। तथैव अपने स्वतन्त्र अर्थ में निरूढ़ा जीवानुगता इच्छा सदा बन्धन–अशान्ति–दुःख का ही कारण प्रमाणित हुई है, जिन दोनों इच्छाविवर्त्तों का पूर्व में भी दिग्दर्शन करा दिया गया है (देखिए पृष्ठसंख्या १४३)। जहाँ कहीं काम, किंवा कामना को शास्त्रों में दुःख–अशान्ति–उद्वेग– का कारण बतलाया गया है, वहाँ वहाँ सर्वत्र तथाकथित शब्दव्यति-क्रमसिद्धान्तानुगत 'इच्छाभाव' का ही प्राधान्य समझना चाहिये। उदाहरण के लिए–**'स शान्ति–माप्नोति–न कामकामी'** (गीता २।७०) इत्यादि गीतावचन 'काम' भाव से व्यतिक्रमानुगत इच्छा-भाव की ओर ही संकेत कर रहा है। तथैव जहाँ 'इच्छा' को सुखशान्तिप्रवृत्ति का कारण बतलाया गया

है, वहाँ सर्वत्र 'इच्छा' से ईश्वरकामना का ही ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य्य, मानव के सम्बन्ध में जहाँ कामना शब्द दुःखाशान्ति का कारण घोषित होगा, वहाँ 'इच्छा' मानी जायगी। एवं ईश्वर के सम्बन्ध मे जहाँ 'इच्छा' शब्द प्रयुक्त होगा, वहाँ 'कामना मानी जायगी, जैसा कि–'**यथेच्छा पारमेश्वरी**'* (भावप्रकाश–आयुर्वेदग्रन्थ) में प्रयुक्त इच्छाशब्द कामना का संग्राहक बना हुआ है। इसी परिभाषा के अनुसार शास्त्रीय '**निष्कामकर्म्मयोग**' का अर्थ माना जायगा '**जीवेच्छात्यागात्मक कर्म्म**', एवं **ईश्वरीय निष्कामभावात्मिका अबन्धना कामना से युक्त कर्म्म**। अव्ययात्मानुगता कामना का परित्याग तो कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी कामना से वियुक्त निष्कामभाव तो भ्रान्त मानवों की खपुष्पकल्पना ही है। शान्तानन्दलक्षण–नित्यशान्तिस्वरूप–रसमूर्त्ति–मनोमय–कामभाव ही 'ईश्वरेच्छा' का वास्तविक स्वरूप है, जिसे आधार बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला मानव कभी बन्धनाविष्ट नहीं बन सकता, नहीं बन सकता। सर्वत्र 'कामनात्याग' का एकमात्र तात्पर्य्य व्यतिक्रमानुसार 'इच्छात्याग' ही मानना चाहिए, जिस इच्छातन्त्र को उपनिषदों ने–'अशनाया' नाम से व्यवहृत किया है। 'अशनाया' शब्द का निर्वचन ही 'इच्छा' शब्द का तात्त्विक इतिहास बना हुआ है।

'**इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः प्रापर्यतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे**' (यजुःसंहिता १।१।) इत्यादि मन्त्रश्रुति में पठित 'इषे' शब्द का अर्थ किया गया है–'**अन्नाय**'। '**अन्नं वा इड़ः**' (ऐतरेय ब्राह्मण २।४।) के अनुसार अन्न का ही नामान्तर '**इट्**' है, जो अन्नात्मक इट् 'इड़ा' भाव में परिणत होता हुआ '**मनोर्दुहिता**' (मनुकन्या) कहलाई है, जैसाकि—'**इड़ा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्**' (तै०ब्रा० १।२।४।४।)–'**सा मनोर्दुहिता एषा निदानेन यदिड़ा**' (शत० ब्रा० १।८।१।११) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। विषय थोड़ा बुद्धिगम्य, अतएव सतर्कतापूर्वक अवधेय है। '**इट्**' भाव के त्रित्वविज्ञान के स्वरूप-परिचयाधार पर ही 'इच्छा' शब्द के तात्त्विक इतिहास का समन्वय सम्भव है।

(३६)–इट्–ऊर्क्–अन्नत्रयी–स्वरूपपरिचय—

"अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः" इस यज्ञानुबन्धी तात्त्विक लक्षण के अनुसार '**इट्–ऊर्क्–अन्न**' इन तीन भावों के आधार पर 'इट्' (अन्न) का स्वरूप अवलम्बित है। '**आदित्याज्जायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नं, ततः प्रजाः**'–'**यज्ञाद्भवति पर्जन्यः–पर्जन्यादन्नसम्भवः**' इत्यादि श्रौती–स्मार्त्ती उपनिषदों के अनुसार आदित्याग्निद्वारा पर्जन्यवायु से पार्थिव धरातल पर वृष्ट वर्षातोय ही तो ओषधि–वनस्पत्यादि लक्षण 'अन्न' रूप में परिणत होता है। यही अन्न 'इट्' कहलाया है। '**वृष्ट्यै**' तदाह–यदाह–

---

* **आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्त्तवाधिके।**
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी॥

इषे–पिन्वस्वेति' (शत० १४।२।२।२७)-- वर्षा वा इड़ः' (शत० १।५।३।११) के अनुसार वर्षा-जल से-समुत्पन्न अन्न ही 'इट्' है, यही निष्कर्ष है। **'अग्निर्वा इतो वृष्टि मुदीरयति'** * के अनुसार पार्थिव अग्नि (प्राणाग्नि) से ऊर्ध्व प्रक्षिप्त बाष्परूप में परिणत जल खगोलीय मरुद्-धरातल में सार्द्ध-सप्त मासपर्य्यन्त गर्भीभूत बना रहता है। वही अनन्तर पर्जन्य द्वारा भूपृष्ठ पर आकर इसे सस्यश्यामला बना देता है, एवं यही अन्न का प्रभव बनता है, जो अन्न 'इट्' कहलाया है। यही अन्न की 'इट्' रूपा प्रथमावस्था है।

वृष्टि (जलवर्षण) से भूपृष्ठ एक प्रकार की वैसी आभा–कान्ति–ओजपूर्ण उल्लास से समन्वित हो जाता है, मानों भूपृष्ठ ने षोडशश्रृङ्गार धारण कर लिया हो। जलवर्षण से इसलिए दूर्वादि तृण–बीजांकुर उल्लसित–विकसित हो जाते हैं कि, इस आन्तरीक्ष्य सलिल में आन्तरीक्ष्य वह **'अवि'** नामक प्राण प्रतिष्ठित रहता है, जो हरितवर्ण का उद्भावक माना गया है। इसी से सर्वत्र सघनघना हरितवर्णाभा व्याप्त हो जाती है ×। इस अविःप्राणप्राधान्य से ही अमुक प्राणी 'अवि' (भेड़) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वृक्ष–लता–गुल्मादि का पत्ता पत्ता थिरक उठता है इस अविःप्राणानुग्रह से। यही स्वाभाविक उल्लासात्मक विकास इडन्न की उत्तरावस्था है, जिसे वैज्ञानिकोंने–**'ऊर्क्'** नाम से व्यवहृत किया है। जिस 'ऊर्क्' तत्त्व का—**'ऊर्जेत्त्वेति–यो वृष्टात्–ऊर्ग्रसो जायते–तस्मै तदाह** (शत० १२।२।६।)—**'ऊर्ग्वा आपो रसः'** (कौ०ब्रा० १२।१।)—**'ऊर्ग्वै रसः'** (शत० ५।१।२।८)—**'रसवतीरित्येवैतदाह–यदाह–ऊर्जस्वतीरिति'** (शत० ५।३।४।२।) इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। भोजन करते ही शारीरिक अवयव समुद्दीप्त हो पड़ते हैं, मानों किसी ने निर्वाणपद प्राप्त करते हुए दीपशिखा को तैलधारा से उद्दीप्त कर दिया हो।

जलवर्षण हुआ, अन्न समुत्पन्न हुआ, बीजांकुर जीवनीय रस से संयुक्त बने। कालान्तर में यही जीवनीय 'ऊर्क्' रस परिपाकावस्था में आकर घनावस्था में परिणत होता हुआ भोग्य–स्थूलान्न रूप में

---

* अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः खलु सृष्टान्नयन्ति। यदा खल्वसावादित्योन्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥
सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रं सदनाद् ऋतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥

—इस वृष्टिविज्ञान का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथभाष्य पञ्चमवर्ष में द्रष्टव्य है—

× अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता।
तस्या रूपेणेमा वृक्षा हरिता हरितस्रजाः॥